UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186684

UNIVERSAL
LIBRARY

बिहार-यात्रा

२८-१२-'६०

'भूदान-यज्ञ : कि ओ केनो' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री चारुबाबू की राष्ट्रीय शिक्षा पर लिखी गयी किताब अद्यतन सामग्री से परिपूर्ण है। सर्वाङ्गीण अभ्यास और समग्र-दर्शन चारुबाबू की खास विशेषता है, जिसकी झाँकी भूदान-यज्ञवाली किताब के समान राष्ट्रीय शिक्षा की इस किताब में भी मिलती है। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' वाली विवरण-शैली का अंगीकार करने के कारण इसमें पाठकों को एक ही पुस्तक में अनेक पुस्तकें पढ़ने का लाभ सहज मिल जाता है। आशा करता हूँ, सर्वोदय-सेवक इसका लाभ उठायेंगे।

भूमिका

जो लोग मुझे जानते हैं, उनके मन में इस पुस्तक को देखकर यह प्रश्न उठ सकता है कि इस तरह की पुस्तक लिखने का मुझे क्या अधिकार है। शिक्षा-विचार-सदृश किसी शास्त्रीय पुस्तक की रचना के क्रम में अधिकारी-अनधिकारी का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। मेरे सम्बन्ध में तो यह प्रश्न उठेगा ही, क्योंकि न मैं शिक्षक हूँ और न ही शिक्षाविद्। मैं मुक्तकंठ से अपनी इस त्रुटि को स्वीकार करता हूँ।

पर शिक्षक या शिक्षाविद् न होते हुए भी मैं शिक्षा-अनुरागी हूँ—नयी तालीम के प्रति मेरा अनुराग विशेष रूप से है। रचनात्मक कार्यकर्ता के रूप में आरम्भ से ही मैं नयी तालीम का उद्भव और विकास आग्रह-पूर्वक देखता आ रहा हूँ। नयी तालीम के सम्बन्ध में जो कुछ साहित्य मुझे सहज ही उपलब्ध हुआ है, उसका मैंने बड़े मनोयोग से अध्ययन किया है। बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष से पहले वहाँ नयी तालीम का कार्य आरम्भ नहीं हुआ था। इस दुर्भिक्ष के परिणामस्वरूप जब हजारों मातृ-पितृहीन असहाय शिशुओं के लालन-पालन की समस्या उपस्थित हुई, तब उन शिशुओं को रखने के लिए अखिल भारतीय महिला-समिति के द्वारा जिन शिशु-सदनों की स्थापना हुई, उनका नयी तालीम के आधार पर संचालन करने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसीलिए उस समय (सन् १९४४ ईसवी) झाड़ग्राम में नयी तालीम के शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी। हमारे 'खादी-मन्दिर' के विभिन्न आश्रमों में और उनके आसपास खादी-मन्दिर के तत्त्वावधान में कई हरिजन-विद्यालय चल रहे हैं। हमारे एक हरिजन-विद्यालय के एक शिक्षक को झाड़ग्राम भेजकर प्रशिक्षित कराया गया और इस प्रकार एक हरिजन-विद्यालय में बुनियादी तालीम आरम्भ की गयी। इसके बाद सन् १९४६ में हरि-

जन विद्यालयों के तीन और शिक्षकों को सेवाग्राम भेजकर प्रशिक्षित कराया गया और दो अन्य हरिजन-विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित किया गया। किन्तु उस समय मेरे पाँव दो नौकाओं में थे, अर्थात् मैं संगठन-कार्य के साथ-साथ राजनीति में भी भाग लेता था। फलतः अनन्य निष्ठा न रहने पर जो होता है, वही हुआ। दोनों बुनियादी विद्यालयों का आशा के अनुरूप संचालन नहीं हो सका। अब वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए मैं एक पिता की तरह इस बात को बड़ी उत्कटता के साथ अनुभव कर रहा हूँ कि यदि बालक-बालिकाओं को नयी तालीम के अनुसार शिक्षा नहीं दी गयी, तो उसका परिणाम क्या होगा।

प्रायः दो वर्ष पहले मेरे एक मित्र ने मुझसे किसी ऐसी पुस्तक की माँग की, जिससे नयी तालीम-सम्बन्धी सारी बातों की पूरी-पूरी जानकारी मिल सके। पर मेरी जानकारी में बँगला या अंग्रेजी-भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नहीं थी, जिसमें नयी तालीम के बारे में सारी बातों का संक्षिप्त वर्णन हो। अतः मैं उनकी सहायता करने में असमर्थ रहा। उसी समय से मैं किसी ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव करने लगा। किन्तु सोचा, इस प्रकार की पुस्तक इस समय लिखेगा कौन! मन में दुस्साहस जागा, क्यों न मैं ही लिखने की चेष्टा करूँ। ठीक ऐसे ही समय अखिल भारतीय सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन के सुयोग्य संचालक श्री राधाकृष्ण बजाज ने मुझसे इस प्रकार की पुस्तक के बारे में चर्चा की और कहा कि मैं ही एक ऐसी पुस्तक लिख डालूँ।

यों मैंने इस पुस्तक को लिखना आरम्भ किया। किन्तु पुस्तक लिखने के लिए जिस प्रकार का व्यापक और गम्भीर ज्ञान चाहिए, वैसा मेरे पास तो था नहीं। अतः सोचा, कुछ पढ़ूँ-सुनूँ और साथ-साथ लिखूँ भी। इस प्रकार पढ़ना भी हो जायगा और लिखना भी। ठीक ढंग से कुछ पढ़ने के लिए लिखना जरूरी होता भी है। बेकन ने कहा था: "Reading makes a man perfect and writing makes him exact" अर्थात् अध्ययन मनुष्य को सम्पूर्ण ममुष्य बनाता है और

लेखन उसे सही रूप देता है। इससे एक और काम हुआ है। नयी तालीम की पद्धति तो 'समवाय-पद्धति' है। उसमें कर्म और ज्ञान, दोनों की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। इस पुस्तक के प्रणयन का काम भी समवाय-पद्धति से हुआ है। पढ़ना और लिखना, अध्ययन और पुस्तक-प्रणयन, दोनों अंगांगी भाव से चले हैं। मेरा अध्ययन पुस्तक-प्रणयन के अंग-स्वरूप और पुस्तक-प्रणयन स्वाध्याय के अंगस्वरूप रहा है।

इस पुस्तक में जो कुछ है, वह अन्यत्र से ग्रहण किया हुआ ज्ञान है। इसके जो अंश मैंने हजम करने के बाद लिखे हैं, वे पाठकों को अच्छे लग सकते हैं और जो अंश बिना हजम किये हुए लिखे हैं, वे अच्छे नहीं लग सकते हैं। इसका कितना अंश हजम किया हुआ है और कितना नहीं, इस पर पाठक स्वयं विचार करें।

यह पुस्तक शिक्षा-विशारदों के लिए नहीं लिखी गयी है। इसकी रचना उन लोगों के लिए हुई है, जो मेरी ही भाँति नयी तालीम को जानना-समझना चाहते हैं। यदि इससे उन्हें कुछ भी लाभ पहुँच सका, तो मेरा श्रम सार्थक माना जायगा।

शिक्षा और नयी तालीम के सम्बन्ध में जो कुछ ग्रन्थ, कार्य-विवरण, अध्ययन-मण्डलियों के कार्य-विवरण आदि मुझे उपलब्ध हो सके, उनसे मैंने यथासम्भव सामग्री लेने की चेष्टा की है। इसके लिए मैं उन ग्रन्थों और कार्य-विवरणों के ग्रन्थकारों तथा प्रकाशकों का ऋणी हूँ।

मेरे हाथ की लिखावट सुपाठ्य नहीं है। अतः उसका उद्धार करना एक कठिन काम है। मेरे प्रिय सहकर्मी दीनेशभाई (श्री दीनेशचन्द्र मुखोपाध्याय) ने अत्यन्त निष्ठा और प्रेम के साथ एक महीने से भी अधिक समय तक अथक परिश्रम करके सुन्दर लिखावट में पाण्डुलिपि तैयार की, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

खादी-मन्दिर, डायमण्ड हारबर,
२४ परगना (पश्चिम बंगाल)

निवेदक
चारुचन्द्र भण्डारी

शिक्षा का अर्थ क्या है ?

[महात्मा गांधी]

शिक्षा का अर्थ क्या है ? अगर उसका अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान हो, तो वह एक हथियार बन जाती है। उसका सदुपयोग भी हो सकता है, दुरुपयोग भी। जिस हथियार से आपरेशन करके रोगी को अच्छा किया जाता है, उसीसे दूसरों की जान भी ली जा सकती है। अक्षर-ज्ञान के बारे में भी यही बात है। बहुत-से लोग उसका दुरुपयोग करते हैं। अगर यह बात ठीक हो, तो यह साबित होता है कि अक्षर-ज्ञान से दुनिया को लाभ के बजाय हानि होती है।

शिक्षा का सामान्य अर्थ अक्षर-ज्ञान ही होता है। लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब सिखाना मूल या प्रारम्भिक शिक्षा कहलाती है। एक किसान ईमानदारी से खेती करके रोटी कमाता है। उसे दुनिया की साधारण जानकारी है। माता-पिता के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, अपनी पत्नी के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, बाल-बच्चों के साथ किस तरह रहना चाहिए, अपने गाँववालोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए—ये सब बातें वह अच्छी तरह जानता है। वह नीति यानी सदाचार के नियम समझता है और उनका पालन करता है। पर उसे अपना नाम लिखना या सही करना नहीं आता। ऐसे आदमी को आप अक्षर-ज्ञान किसलिए देना चाहते हैं ? अक्षर-ज्ञान देकर आप उसके सुख में क्या वृद्धि करेंगे ? क्या आप उसमें अपनी झोपड़ी और अपनी हालत के प्रति असन्तोष पैदा करना चाहते हैं ? अगर ऐसा करना हो, तो भी आपको उसे पढ़ाने-लिखाने की जरूरत नहीं है। पश्चिम के तेज से दबकर हम यह सोचने लगते हैं कि लोगों को शिक्षा देनी चाहिए, पर इसमें हम आगे-पीछे का विचार नहीं करते।

अब उच्च शिक्षा को लें। मैंने भूगोल-विद्या सीखी। बीजगणित भी मुझे आ गया। भूमिति का ज्ञान प्राप्त किया। भूगर्भ-शास्त्र भी रट डाला। पर उससे हुआ क्या ? मेरा क्या भला हुआ और आसपासवालों का मैंने क्या भला किया ? उससे मुझे क्या लाभ हुआ ? अंग्रेज विद्वान् हक्सले ने शिक्षा के बारे में कहा है :

"उस आदमी को सच्ची शिक्षा मिली है, जिसका शरीर इतना सधा हुआ है कि उसके काबू में रह सके और आराम तथा आसानी के साथ उसका बताया हुआ काम करे। उस आदमी को सच्ची शिक्षा मिली है, जिसकी बुद्धि शुद्ध है, शान्त है और न्यायदर्शी है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पायी है, जिसका मन कुदरत के कानूनों से भरा है और जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में हैं। उस आदमी को सच्ची शिक्षा मिली है, जिसकी अन्तर्वृत्ति शुद्ध है, जो नीच आचरण को धिक्कारता है तथा दूसरों को अपने जैसा समझता है। ऐसा आदमी सचमुच शिक्षा पाया हुआ माना जाता है, क्योंकि वह कुदरत के नियमों पर चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगा और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा।"

अगर यही सच्ची शिक्षा हो, तो मैं सोगन्ध खाकर कह सकता हूँ कि ऊपर मैंने जो शास्त्र गिनाये हैं, उनका उपयोग मुझे अपने शरीर या इन्द्रियों पर काबू पाने में नहीं करना पड़ा। इस तरह प्रारम्भिक शिक्षा को लीजिये या उच्च शिक्षा को, किसी का भी उपयोग मुख्य बात में नहीं होता—उससे हम 'मनुष्य' नहीं बनते।

लेकिन इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि मैं अक्षर-ज्ञान का हर हालत में विरोध करता हूँ। मैं तो बस इतना ही कहना चाहता हूँ कि उस ज्ञान की हमें मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिए—वह हमारे लिए कोई कामधेनु नहीं है। वह अपनी जगह शोभा पा सकता है। और वह जगह यह है कि जब मैं और आप अपनी इन्द्रियों को वश में कर लें और नैतिकता की नींव मजबूत बना लें, तब यदि इच्छा हो, तो लिखना-पढ़ना सीखकर उसका सदुपयोग करें। वह गहने के तौर पर अच्छा लग सकता है। लेकिन अगर अक्षर-ज्ञान का यह उपयोग हो, तो हमें इस तरह की शिक्षा लाजिमी तौर पर देने की जरूरत नहीं रह जाती। उसके लिए हमारी पुरानी पाठशालाएँ काफी हैं। उनमें सदाचार की शिक्षा को पहला स्थान दिया गया है। वह प्रारम्भिक शिक्षा है। उस पर जो इमारत खड़ी की जायगी, वही टिक सकेगी।

'हिन्द स्वराज्य'

●

अनुक्रम

१. राष्ट्रीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	...	१३
२. नयी तालीम का उद्‌गम और क्रमिक विकास	...	४५
३. नयी तालीम की कल्पना और महात्मा गांधी	...	१००
४. महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित हस्त-शिल्प के माध्यम से शिक्षा की कल्पना क्या मौलिक है ?	...	१०६
५. नयी तालीम के शास्त्रकार विनोबा	...	११०
६. विद्यालय के उत्पादनों का विक्रय	...	११७
७. पूर्व-बुनियादी शिक्षा	...	११९
८. नयी तालीम में स्वावलम्बन	...	१३४
९. उत्तर-बुनियादी शिक्षा	...	१४४
१०. विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा स्वावलम्बन	...	१६१
११. उत्तर-बुनियादी और सरकारी मान्यता	...	१६६
१२. नयी तालीम के विश्वविद्यालय	...	१७१
१३. नयी तालीम में प्रौढ़-शिक्षा	...	१७७
१४. शिक्षा-व्यवस्था और परीक्षा	...	१८७
१५. मूलोद्योग चुनने में विवेक	...	१९४
१६. नयी तालीम की सर्वोत्तम पद्धति—समवाय	...	१९६
१७. विषय-शिक्षा देने का कौशल	...	२०१
१८. एक घण्टे की पाठशाला	...	२०४
१९. नयी तालीम और मूल्य-परिवर्तन	...	२०७
२०. नयी तालीम यानी नवसमाज-रचना का कार्यक्रम	...	२१४
२१. शिक्षा का स्वरूप—निवृत्त शिक्षण	...	२१७
२२. शिक्षा-पद्धति—सहज शिक्षण	...	२२७
२३. शिक्षा-पद्धति—पूर्णात् पूर्णम्	...	२३२

२४. कौटुम्बिक पाठशाला ... २३८
२५. शिक्षक कैसे हों ? ... २४२
२६. शिक्षा का लक्ष्य क्या हो ? ... २४५
२७. प्रचलित शिक्षा के तीन दोष ... २४८
२८. आजकल के शिक्षक बुद्धिजीवी नहीं ... २५०
२९. नयी तालीम में पूर्ण गुण-विकास की दृष्टि ... २५२
३०. ज्ञान-प्राप्ति के साधन और लक्षण ... २५४
३१. नयी तालीम पद्धति नहीं, विचार है ! ... २५८
३२. नयी तालीम के पीछे विविध निष्ठा ... २५९
३३. ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन ... २६३
३४. अनुबन्ध के विषय में भ्रान्त धारणा ... २६६
३५. विद्यालयों में नृत्य-संगीत की मर्यादा ... २६८
३६. नयी तालीम स्त्रियों के हाथ में रहे ... २६९
३७. नयी तालीम और ज्ञान-प्राप्ति ... २७१
३८. शिक्षा की प्रकृति और गुण ... २७३
३९. नयी तालीम में रेखांकन ... २७९
४०. नयी तालीम में ब्रह्मविद्या की आवश्यकता ... २८६
४१. नयी तालीम का नया पर्व ... २९३
४२. तालीमी संघ का विलयन ... २९८
४३. विलय के पश्चात् सर्व-सेवा-संघ का कर्तव्य ... ३०३
४४. रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम में रँगने का अर्थ... ३०४
४५. नयी तालीम-सम्मेलन का इतिहास ... ३०८
४६. नयी तालीम और ब्रह्मविद्या ... ३१६
४७. शिक्षा-व्यवस्था सरकार-निरपेक्ष हो ... ३१९
४८. सम्मुखीन कार्यक्रम और समस्या ... ३२४
४९. राष्ट्रीय शिक्षा—अहिंसा और विज्ञान का योग ... ३३७

हमारा राष्ट्रीय शिक्षण

अध्याय १ राष्ट्रीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आदि वैदिक युग

भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इस बारे में विचार करने से पहले यह जानना और समझना अत्यन्त आवश्यक है कि प्राचीन भारत में शिक्षा का क्या स्वरूप था। प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था को अच्छी तरह जानने और समझने के लिए भारत के अतीत को चार भागों में विभाजित कर देने से सुविधा होती है। ये चार भाग हैं: (१) आदि वैदिक युग (ईसा से २००० वर्ष पूर्व तक), (२) उत्तर वैदिक युग (ईसा-पूर्व २००० से ईसा-पूर्व १००० तक), (३) उपनिषद्-युग, बौद्ध-युग या सूत्र-युग (ईसा-पूर्व १००० से ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी तक) और (४) पुराण-युग या भाष्य-युग (ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक, अर्थात् हिन्दू-शासन के अन्त तक)।

आदि वैदिक युग में कोई लिपि नहीं थी, अथवा लेखन-पद्धति का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था। व्यवसाय-वाणिज्य का भी उतना प्रचलन नहीं था। इसलिए हिसाब-किताब की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। इस अवस्था में वेद को कंठस्थ करना और कंठस्थ रखना एकमात्र शिक्षणीय विषय था। मानव-जीवन को प्रत्येक छोटी-मोटी बात में किसी-न-किसी धर्म-आचार का अनुष्ठान करना होता था। धर्म-अनुष्ठान हिन्दुओं के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया था और उनके जीवन के साथ पूर्णतः घुल-मिल गया था। उपनयन-संस्कार द्वारा छात्रों का शिक्षारम्भ कराया जाता था। आजकल उपनयन-संस्कार का अर्थ केवल उपवीत अर्थात् जनेऊ धारण करने का संस्कार माना जाता है। मूलतः उपनयन का यह अर्थ नहीं था। उपनयन का मौलिक एवं व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है, गुरु के समक्ष उपनीत होना अथवा उपस्थित होना (Approach to the Guru)। उस समय अनेक क्षेत्रों में पिता ही गुरु होते थे।

उपनयन-अनुष्ठान में बालक एक 'यज्ञ-काष्ठ'—समिधा—लेकर गुरु के समक्ष उपस्थित होता था और अपने को गुरु को समर्पित कर देता था। गुरु उसे अनुष्ठान-भाव से ग्रहण करता था। इसका अर्थ यह है कि बालक गुरु की यज्ञाग्नि को प्रज्वलित रखने और गुरु की सेवा करने के लिए आग्रह प्रदर्शित करता था। जब इस अर्थ में उपनयन का अनुष्ठान होता था, तब गुरु बदलने पर नया उपनयन-अनुष्ठान करना होता था। यहाँ तक कि किसी-किसी क्षेत्र में वेद के नये भाग का पाठ आरंभ करने से पहले नये सिरे से उपनयन का अनुष्ठान किया जाता था। उस समय उपनयन के सम्बन्ध में स्त्रियों को भी समानाधिकार था। अतः बालिकाएँ भी बालकों की भाँति उपनयन-अनुष्ठान के उपरान्त वेदाध्ययन आरम्भ करती थीं।

उत्तर वैदिक युग

उत्तर वैदिक युग में वर्णमाला और लेखन-पद्धति का आविष्कार तो हो गया था, परन्तु आरम्भ में लेखन अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ था। फिर आदि वैदिक युग में वैदिक संस्कृत ही बोलचाल की भाषा थी। इस भाषा में लोग वार्त्तालाप करते थे। किन्तु कालान्तर में प्राकृत भाषाओं का जन्म हुआ और वैदिक भाषा के साथ प्राकृत या बोलचाल की भाषा का अन्तर क्रमशः बढ़ने लगा। इसीलिए ऐसी आशंका की जाती थी कि वेद को लिपिबद्ध करने का काम ठीक ढंग से नहीं हो सकेगा और परिणाम-स्वरूप वेद का स्वरूप विकृत हो जायगा। इसलिए वेद के प्रचार और भावी सन्तति के लिए, अविकृत रूप में रक्षा करने के उद्देश्य से, वेद को कंठस्थ करने पर ही अधिक बल दिया जाता रहा। आदि वैदिक युग में उपनयन-संस्कार अनिवार्य नहीं था। किन्तु इस युग में उपनयन को अनिवार्य बना दिया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, सबके लिए वह 'शरीर-संस्कार' के रूप में माना जाने लगा। इसके फलस्वरूप वेदाध्ययन को सार्वजनिक होने का अवसर मिला। क्रमशः वर्णमाला और लेखन-पद्धति का प्रचलन हुआ। अब वेदाध्ययन से पूर्व लिखने, पढ़ने और सरल गणित की शिक्षा (सामान्य बोलचाल में 'प्राथमिक शिक्षा') का

प्रचलन हुआ। प्राकृत भाषाओं का भी विकास हुआ। उपनयन के उपरान्त वेदाध्ययन आरम्भ होता था। यद्यपि उस समय शिक्षा को प्राथमिक, माध्यमिक आदि के रूप में विभाजित नहीं किया गया था—विभाजन हो भी, तो वह स्पष्ट नहीं था—तथापि सुविधा के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि उस समय से उपनयन माध्यमिक शिक्षा, अर्थात् वेदाध्ययन के श्रीगणेश का अनुष्ठान बन गया। अतः प्राथमिक शिक्षा के आरम्भ के लिए एक अन्य अनुष्ठान किया जाने लगा। यह अनुष्ठान था—'विद्यारम्भ अथवा अक्षरबोध' अनुष्ठान। यह अनुष्ठान आजकल के 'पाटी-छुलाने' के सदृश था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा का आरम्भ हुआ। तब से ज्ञान की विभिन्न दिशाओं की सृष्टि और प्रसार होने लगा। शिक्षणीय और पठनीय विषयों की संख्या बढ़ने लगी। पठनीय विषयों में ज्योतिष फलित, ज्योतिष ज्यामिति, छन्दःशास्त्र आदि का समावेश हो गया।

जब से उपनयन अनिवार्य बना दिया गया, तब से उसे शरीर-संस्कार के रूप में माना जाने लगा। ऐसा समझा जाने लगा कि जिस व्यक्ति का उपनयन-संस्कार नहीं हुआ, वह आर्य-जाति से च्युत हो गया। इसके फलस्वरूप शिक्षा या वेदाध्ययन को सार्वजनिक बनने का सुयोग तो अवश्य मिला, किन्तु व्यवहारतः वैसा हुआ नहीं, बल्कि उपनयन के मूल उद्देश्य की बात लोग धीरे-धीरे भूलने लगे। अस्तु, उपनयन-संस्कार के पीछे जो उद्देश्य और भावना थी, वह वैदिक युग और परवर्ती काल के छात्रों को पवित्र प्रेरणा देती आयी है और उनके जीवन को महिमामय बनाने में प्रचुर सहायता देती रही है। आर्यों ने जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया। इनमें से ब्रह्मचर्याश्रम अध्ययन-काल था। छात्रों को 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था। छात्र भी अपने को ब्रह्मचारी मानते थे और उसीके अनुरूप जीवन-यापन करते थे। ब्रह्मचारियों या छात्रों के लिए निश्चित अनुशासन तथा व्रत-नियम आदि प्राचीन काल के छात्रों के जीवन में कितनी पवित्रता का संचार करते

थे, उस पर जब हम विचार करते हैं, तो हमें अवाक् होना पड़ता है। फिर, उस युग में नैष्ठिक ब्रह्मचारी अर्थात् आजीवन ब्रह्मचारी रहकर अध्ययन और ज्ञान-चर्चा में जीवनोत्सर्ग करने का आदर्श ग्रहण करने के दृष्टान्त भी अविरल थे।

वार्षिक अध्ययन-काल (Term) आरम्भ होने के समय जो अनुष्ठान किया जाता था, उसे 'उपाकर्म' (श्रावणी) और समाप्ति के समय जो अनुष्ठान किया जाता था, उसे 'उत्सर्जन' कहा जाता था। छात्र-जीवन की समाप्ति पर 'समावर्तन' का अनुष्ठान किया जाता था। यह अनुष्ठान आजकल के 'कनवोकेशन' की भाँति था। जो ब्रह्मचारी आरम्भ से अपने सभी शिक्षणीय विषयों की शिक्षा समाप्त करते थे और जो वेद को केवल मुखस्थ न करके उसकी सम्यक् व्याख्या करने में समर्थ होते थे, केवल उनके लिए ही 'समावर्तन'-समारोह का आयोजन होता था। किन्तु कालान्तर में, उपनयन की ही भाँति इस अनुष्ठान को भी 'शरीर-संस्कार' के रूप में माना जाने लगा और उसका मूल अर्थ तथा उद्देश्य विस्मृति के गर्भ में समा गया। अध्ययन-समाप्ति के उपरान्त ब्रह्मचारी किसी शुभ प्रातःकाल को घर में छिपा रहता था और मध्याह्न में बाहर आकर सिर मुँड़ाता और नये वस्त्र धारण करता था। इसके उपरान्त उसे रथ अथवा हाथी पर चढ़ाकर पंडितों की सभा में ले जाते थे। अनुष्ठान के दिन प्रातःकाल घर में छिपने का अर्थ ऐसा समझा जाता था कि स्नातक के तेज के समक्ष बालरवि का तेज फीका पड़ जायगा। अतः सूर्य भगवान् की सम्मान-रक्षा के उद्देश्य से स्नातक अपने को छिपाकर रखता था। यह निस्सन्देह एक हास्यास्पद बात है। किन्तु इस अनुष्ठान से जो एक बात स्पष्ट होती है, वह यह कि उस समय स्नातक के सम्बन्ध में समाज कितनी ऊँची धारणा रखता था। उस समय के स्नातक निश्चय ही इस सम्मान के योग्य थे, अन्यथा ऐसे आचारयुक्त उत्सव का प्रचलन न होता। इससे इस बात का भी अनुमान लगता है कि प्राचीन काल के शिक्षितों की योग्यता और उनका महत्त्व कैसा था!

उपनिषद् युग

वैदिक युग के उपरान्त बौद्ध-युग में एक ओर जिस प्रकार उपनिषदों, बौद्ध एवं जैन धर्मग्रन्थों, वेदान्त, योगशास्त्र, मीमांसा, न्याय, पुराणों और भाष्यों की रचना हुई तथा व्याकरण, इतिहास, काव्य आदि का विकास हुआ, उसी प्रकार दूसरी ओर स्मृति, चिकित्सा-शास्त्र, युद्धविद्या (धनुर्विद्या), ज्योतिष, फलित ज्योतिष, गणित, हिसाब-विज्ञान, कृषि, गो-प्रजनन आदि विविध व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञानों की रचना हुई। अतः उच्च शिक्षा का गुरुत्व केवल वेदाध्ययन तक सीमित न रहा। अब ब्राह्मण आचार्य भी वेद-अध्यापन के साथ-साथ व्यावहारिक विद्याओं की भी शिक्षा देने लगे। कारण उस समय तक शिल्प-वृत्तियाँ ग्रहण करने और उनका शिक्षण देने के सम्बन्ध में कोई निषेध ब्राह्मणों पर लागू नहीं हुआ था। ऋग्वेद में एक ऋषि की उक्ति है, जिससे ज्ञात होता है कि वे स्वयं कवि थे, उनके पिता चिकित्सक थे और उनके नाना राजमिस्त्री थे। उस समय जो ब्राह्मण छात्र विशेष रूप से वेद की शिक्षा ग्रहण करते थे, वे भी एक या अधिक व्यावहारिक शिक्षा अवश्य ग्रहण करते थे। फिर जो लोग विशेष रूप से व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे, वे भी वेद एवं अन्यान्य साधारण विद्याओं के बारे में पूर्णतः अनभिज्ञ नहीं रहते थे। वे सभी विषयों का बुनियादी ज्ञान प्राप्त करते थे। उस समय आध्यात्मिक ज्ञान को शिक्षा की बुनियाद एवं अपरिहार्य अंग के रूप में माना जाता था। किन्तु दुर्भाग्यवश, उपनिषद् और बौद्ध-युग के अन्तिम दिनों में जाति-भेद विशेष बढ़ जाने के कारण ब्राह्मणों के लिए कारीगरी वृत्तियाँ निषिद्ध कर दी गयीं। किन्तु इसके बावजूद अनेक ब्राह्मण इन निषेधों का पालन नहीं करते थे, इसके दृष्टान्त मिलते हैं। सम्भव है, इतना त्याग उनके लिए सम्भव नहीं था, अथवा वे यह मानते थे कि वेद में उनकी शिक्षण-वृत्ति के सम्बन्ध में निर्देश है और उसमें इस बात का कहीं कोई उल्लेख नहीं है कि उनकी शिक्षण-वृत्ति केवल वेदाध्ययन तक सीमित रहेगी। जो हो, इस तरह कुछ ब्राह्मण भी व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त

करते रहे और दूसरों को प्रदान भी करते रहे। कुछ इतिहासज्ञों का कहना है कि ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अत्यल्प नहीं थी। कारण, उनकी संख्या अत्यन्त कम रहने पर स्मृति में उनके सम्बन्ध में यह विशेष निषेधात्मक विधान करने की आवश्यकता न पड़ती कि जो ब्राह्मण वणिक्, चिकित्सक, नाविक, घोड़े-हाथी के चिकित्सक और कुत्ते तथा ऊँट का व्यवसाय करते हैं, उन्हें श्राद्ध के अवसर पर निमन्त्रित नहीं किया जायगा। यों एक ओर जिस प्रकार ब्राह्मण लोग वृत्तिमूलक और शिल्प-शिक्षा से वंचित होने लगे, उसी प्रकार दूसरी ओर अब्राह्मण श्रेणी के लोग वैदिक ज्ञान की ओर से उदासीन होने लगे। साधारण शिक्षा के साथ व्यावहारिक और शिल्प-शिक्षा के इस विच्छेद के फलस्वरूप देश में ज्ञान-विस्तार और राष्ट्रीय उन्नति में बाधा पड़ने लगी।

जब से जातिभेद की कठोरता बढ़ने लगी, तब से विभिन्न जातियों की वृत्तियाँ निश्चित की जाने लगीं और इन वृत्तियों को वंशगत स्वरूप दिया जाने लगा। अब पुत्र पिता से अपनी वृत्ति की शिक्षा ग्रहण करने लगा। किन्तु कुछ वृत्तियाँ न तो पूर्णतः किसी जातिविशेष के लिए निश्चित हो सकीं और न उन्हें वंशगत स्वरूप प्राप्त हो सका। इन वृत्तियों की कार्य-ज्ञान-प्रणाली (Apprentice System) से शिक्षा दी जाती थी। एक निश्चित अवधि के लिए शिक्षार्थी का शिक्षक के घर पर रहना आवश्यक कर दिया जाता था। इस अवधि में शिक्षार्थी शिक्षक का घर छोड़कर नहीं जा सकता था। कारण, शिक्षक शिक्षार्थी के भोजन और निवास का दायित्व ग्रहण करता था और निर्दिष्ट अवधि से पहले शिक्षार्थी के चले जाने से शिक्षक को शिक्षाप्राप्त शिक्षार्थी के काम से होनेवाली आय से वंचित होना पड़ता—उसे क्षति उठानी पड़ती। दूसरी ओर, शिक्षक जो कुछ काम जानता था, वह सब निर्दिष्ट अवधि के भीतर शिक्षार्थी को पूर्णतः सिखा देना उसका कर्तव्य था। इस प्रणाली को धर्मसम्मत प्रणाली माना जाता था। साधारण शिक्षा के क्षेत्र में भी ऐसा करना गुरु के लिए धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। गुरु जो कुछ जानता था, उसे छात्र

को सिखाना पड़ता था। वह कुछ भी छिपा नहीं सकता था। गुरु की प्रधानता को अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से भी कुछ छिपाना पाप माना जाता था।

पौराणिक युग

उपनिषद्-युग के अन्तिम भाग से पौराणिक युग के मध्य-भाग तक का समय (ईसा-पूर्व २५० से ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी तक का एक हजार वर्ष से कुछ अधिक समय) भारत के शिल्पगत अभ्युदय का युग माना जाता है, क्योंकि इसी अवधि में भारत का शिल्प-विज्ञान चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। चिकित्सा-शास्त्र, भास्कर्य, स्थापत्य-विद्या, जहाज-निर्माण, खनिज विज्ञान, धातु-विद्या आदि की इस काल में पर्याप्त उन्नति हुई। इन सब विद्याओं की भी कार्य-ज्ञान-प्रणाली से अत्यन्त कुशलता-पूर्वक शिक्षा दी जाती थी। किन्तु परवर्ती युगों में इन क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति नहीं हो सकी। इसके विपरीत, उनकी अवनति के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल धातु-विद्या के क्षेत्र में उन्नति का क्रम जारी रहा। इसके अभाव में उस समय (गुप्त राजाओं के शासनकाल में) दिल्ली के लौह-स्तम्भ का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता। उस समय वृत्ति-शिक्षा के स्तर में जो अवनति होने लगी, उसके दो कारण दिखाई पड़ते हैं। पहला तो यह है कि उस समय प्राथमिक शिक्षा केवल समाज के उच्च वर्ग तक सीमित हो गयी थी, क्योंकि प्राथमिक शिक्षा में केवल संस्कृत-शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी थी। दूसरा कारण यह था कि जाति-भेद के कारण समाज का उच्च वर्ग शिल्प-वृत्ति को क्रमशः नीची नजर से देखने लगा। फलतः वृत्ति-शिक्षा की उन्नति अवरुद्ध होने लगी।

छात्रों का दायित्व गुरु पर

प्राचीन भारत में शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप कैसा था, यह जानना आवश्यक है। आजकल जनता एवं सरकार द्वारा स्थापित स्कूल-कॉलेज

जिस तरह चलते हैं, उस तरह की शिक्षा-संस्थाएँ प्राचीन काल में थीं क्या ? जहाँ तक पता है, ईसा की चौथी शताब्दी तक इस प्रकार की किसी सामान्य शिक्षा-संस्था का अस्तित्व नहीं था। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से अपने विद्यालय चलाते थे और जितने छात्रों की शिक्षा का भार वहन कर सकते थे, करते थे। सामान्यतः एक शिक्षक के लिए बीस से अधिक छात्र ग्रहण कर सकना सम्भव नहीं होता था। छात्रगण साधारणतः गुरु के घर पर निवास करते थे। किन्तु प्राथमिक शिक्षा के छात्रों को गुरु के घर नहीं रहना पड़ता था। वे अपने-अपने घर से उपाध्याय के विद्यालय में पढ़ने जाते थे। गुरु के परिवार में ही छात्रों के भोजन और निवास की व्यवस्था रहती थी। तक्षशिला में भी यही व्यवस्था थी। वहाँ विश्वविश्रुत आचार्यगण अपने-अपने विद्यालय चलाते थे और अपने-अपने घरों और छात्रों के भोजन और निवास की व्यवस्था करते थे। इसीलिए उन दिनों छात्रों को 'अन्तेवासी' भी कहा जाता था। परन्तु इस बात के भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि तक्षशिला में कुछ छात्र छात्रावासों में निवास करते थे। फिर भी, ऐसा कोई नियम नहीं था कि छात्र अपनी पढ़ाई के लिए मासिक या अन्य किसी सामयिक हिसाब से शुल्क या खर्च दे। इसके विपरीत, उन दिनों शुल्क या खर्च लेकर छात्र ग्रहण करना अन्याय माना जाता था। कारण ब्राह्मणगण प्राचीन संस्कृति और साहित्य के रक्षक थे। सभी योग्य छात्रों को शिक्षा देना वे अपना पवित्र कर्तव्य मानते थे। इसलिए किसी प्रकार का खर्च देने में असमर्थ दरिद्र छात्रों को भी शिक्षक 'ना' नहीं करते थे, न कर ही सकते थे। हाँ, यह अवश्य था कि उन्हें आचार्य के घर परिवार और खेत का काम करना पड़ता था। किन्तु इस तरह जो लोग गुरु के घर या खेत का काम करते थे, उनकी शिक्षा में किसी तरह की बाधा न पहुँचे, इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था। ऐसे छात्रों को रात में पढ़ाया जाता था। फलतः प्राचीन एवं मध्य-युग में दरिद्र छात्र भी उच्च शिक्षा पाने के सुयोग से वंचित नहीं रहते थे। जो लोग गुरु-गृह में भोजन और निवास का खर्च तथा शिक्षा के लिए दक्षिणा

दे सकते थे, उनके लिए गुरु के व्यक्तिगत कार्य करना अनिवार्य नहीं था। फिर भी, यह अपेक्षा की जाती थी कि धनी-निर्धन का भेद न रखते हुए, सभी छात्र गुरु-गृह में कुछ-न-कुछ कार्य करेंगे। जहाँ तक ज्ञात है, सभी छात्र थोड़ा-बहुत काम करते थे और काम करने में कोई भी छात्र हीनता का अनुभव नहीं करता था। इसके कारण धनी और निर्धन छात्रों के बीच व्यवधानमूलक मनोभाव पैदा नहीं हो पाता था। छात्रों के लिए, विशेषतः वेद और धर्म की शिक्षा पानेवाले छात्रों के लिए, अन्न की भिक्षा माँगने का नियम था। सप्ताह में कम-से-कम एक बार छात्र भिक्षाटन करेंगे, ऐसी अपेक्षा रहती थी। अनेक क्षेत्रों में छात्रगण इसका पालन करते थे। जो छात्र निर्धन होते थे और व्यय देने में असमर्थ होते थे, वे अनेक क्षेत्रों में अन्न की भिक्षा माँगते थे। छात्रों के लिए इस प्रकार का भिक्षाटन गौरव की बात मानी जाती थी। छात्रों को विनय और नम्रता की शिक्षा देने का यह एक प्रधान उपाय था। इससे भिक्षा देनेवाले और पानेवाले, दोनों का ही गौरव और सम्मान बढ़ता था।

धनी निर्धन का अभेद

उस समय धनी लोगों के बालकों को अन्य बालकों से पृथक् करके धनी बालक के रूप में तैयार करने की विकृत मनोवृत्ति समाज में नहीं थी। इसलिए ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि वाराणसी में विश्वविख्यात आचार्यों के रहते हुए भी वाराणसी के राजा लोग अपने बालकों को शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजते थे। वे यह सोचते थे कि इस तरह राज-प्रासाद के वातावरण से दूर साधारण छात्रों के बीच रहकर, शिक्षा प्राप्त करने से तरुण राजपुत्रों का अहंकार और उनका उद्धतपन दूर होगा तथा वे संसार की रीति-नीति एवं वास्तविक अवस्था से प्रत्यक्षतः परिचित हो सकेंगे। शिक्षा के लिए गुरु को कोई निश्चित वेतन या गुरु-दक्षिणा देनी होगी, ऐसा वचन लेकर छात्र ग्रहण करना प्राचीन भारत की विचार-धारा के विपरीत था। हाँ, शिक्षा समाप्त होने के बाद गुरु को कुछ व्यय

और गुरु-दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा का कोई परिमाण निश्चित नहीं था। तब यह अवश्य था कि जिसकी जैसी सामर्थ्य होती थी, उससे उतनी दक्षिणा प्राप्त होने की अपेक्षा रखी जाती थी। धनी बालकों से अधिक दक्षिणा की अपेक्षा रहती थी। निर्धन बालकों से बहुत कम। कभी-कभी तो उनसे कुछ भी दक्षिणा नहीं मिलती थी। इस प्रकार धनी-निर्धन का भेद न कर सबको समान रूप से शिक्षा मिलती थी। धनवान् लोग शिक्षा-व्यवस्था चालू रखना अपना नैतिक दायित्व मानते थे। फलतः अर्थाभाव के कारण निर्धन छात्र शिक्षा-लाभ से वंचित नहीं रह पाते थे। इस देश में ब्राह्मण-भोजन कराने और ब्राह्मणों को दान देने की जो प्रथा थी और अब भी है, उसके पीछे समाज द्वारा शिक्षक के पोषण की मनोवृत्ति ही काम करती थी। इस प्रकार प्राचीन काल में शिक्षा अधिकांशतः जन-आधारित थी।

प्राचीन विश्वविद्यालय

ऊपर कहा जा चुका है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में कोई साधारण शिक्षा-संस्था नहीं थी। आचार्यगण छात्र ग्रहण करके अलग-अलग अपने शिक्षा-दान की व्यवस्था करते थे। तक्षशिला और वाराणसी जैसे विश्वविद्यालय शिक्षा-केन्द्रों में भी कोई साधारण शिक्षालय नहीं था। कुछ स्थानों में ब्राह्मण पंडितों ने सामूहिक रूप से परिषदों का निर्माण किया था। छात्र स्नातक बनने पर अपने पांडित्य की स्वीकृति के लिए इन परिषदों में जाते थे। किन्तु ये परिषदें किसी साधारण शिक्षालय की स्थापना या संचालन नहीं करती थीं। पंडितों द्वारा शिक्षा-दान का कार्य भली प्रकार चले, इसके लिए राजा लोग किसी-किसी स्थान में पूरा-पूरा गाँव या अंचल उन्हें दान कर देते थे और वहाँ वे बस्ती बसाकर पृथक्-पृथक् रूप से शिक्षा-कार्य चलाते थे। किन्तु वहाँ भी वे किसी साधारण शिक्षा-संस्था का संचालन नहीं करते थे। भारत में पहले-पहल बौद्ध-मठ ही (ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी) साधारण (सार्वजनिक) शिक्षा-संस्था के रूप में अस्तित्व में आये। अशोक के समय से बौद्ध-विहारों की

श्री-वृद्धि होने लगी। उन्होंने धीरे-धीरे शिक्षा-विस्तार-कार्य ग्रहण किया। उनमें केवल भिक्षुओं और बौद्ध-धर्मावलम्बियों की शिक्षा की व्यवस्था होती हो, ऐसा नहीं था। उन्होंने सर्वसाधारण को शिक्षा देने का कार्य ग्रहण किया था। इस प्रकार नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशिला आदि बौद्ध-मठ कालान्तर में विशाल विश्वविद्यालयों के रूप में चमक उठे। नालन्दा आदि बौद्ध-मठों की देखादेखी कुछ हिन्दू-मन्दिरों ने भी शिक्षा-दान का कार्य ग्रहण किया और इस प्रकार कुछ समय में बहुत-से हिन्दू-मन्दिरों में शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हो गयीं। दक्षिण-भारत में इस प्रकार के अनेक हिन्दू-मन्दिर थे।

गुरु शिष्यों का सहजीवन

प्राचीन काल से छात्रों और शिक्षकों के बीच गहरे स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध था। शिक्षक छात्रों को पुत्रवत् मानते थे और छात्र शिक्षकों को पितृवत्। छात्र गुरु से केवल ज्ञानार्जन नहीं करते थे। उनके साथ रहकर वे गुरु के आदर्श पर अपने जीवन को ढालने का सुयोग पाते थे, क्योंकि उस समय के गुरु आचार्य होते थे। हिन्दू और बौद्ध दोनों सम्प्रदायों के शिक्षकों और छात्रों का सम्बन्ध ऐसा ही था। भगवान् बुद्ध का उपदेश था कि व्यक्तिगत रूप से छात्रों का हर प्रकार से कल्याण-साधन शिक्षकों का कर्तव्य है। वे यहाँ तक कहते थे कि शिक्षकों को छात्रों के कपड़े-लत्ते भी सँभालने-सँजोने चाहिए। उनके ये उपदेश मान्य थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। अतः प्रत्यक्ष अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त भी छात्रों के सम्बन्ध में शिक्षकों के अनेक कर्तव्य होते थे। गुरु-गृह में छात्रों के निवास से शिक्षकों और छात्रों के बीच पिता-पुत्र-सम्बन्ध स्थापित होने में सहायता मिलती थी। शिक्षक इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखते थे कि छात्र अच्छी आदतें सीखें और उनका चरित्र सुगठित हो। छात्रों के दैनिक जीवन में किस वस्तु का अनुशीलन करना उचित है और किस बात से दूर रहना, किस वस्तु के सम्बन्ध में उन्हें आग्रहशील होना चाहिए

और किस वस्तु के सम्बन्ध में नहीं, इन सब बातों पर शिक्षक विशेष रूप से दृष्टि रखते थे और तदनुसार ही छात्रों को निर्देश देते थे। छात्र भी व्यक्तिगत रूप से शिक्षक के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर, शिक्षक की सेवा करके और शिक्षक के गृह-कार्यों और खेती-बारी में हाथ-बँटाकर जीवन-यापन-सम्बन्धी अनेक आवश्यक बातें सीखते थे। छात्र कभी वृक्ष-लताओं से शिक्षा प्राप्त करते थे और कभी गाय चराते-चराते गाय से। इस प्रकार की बातें उपनिषदों में मिलती हैं। प्राचीन काल की शिक्षा में शरीर-श्रम का यथेष्ट स्थान था। उसके माध्यम से छात्र पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करते थे। फलतः उनका स्वास्थ्य भी ठीक रहता था और चरित्र भी उज्ज्वल बनता था। आयोदधौम्य उपाध्याय के शिष्य थे, आरुणि। गुरु ने उन्हें खेत का बाँध बाँधने के लिए कहा, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वे बाँध नहीं बाँध सके। अन्ततः बाँध के स्थान पर स्वयं लेटकर उन्होंने जल-प्रवाह को रोका। इस प्रकार के उत्पादक श्रम से पर्याप्त शिक्षा-लाभ तो होता ही था; इसके अतिरिक्त जल-निर्गमन-मार्ग में लेटकर उन्होंने जिस कर्तव्य-निष्ठा का परिचय दिया, उसके कारण उनका नाम अमर हो गया। श्रीकृष्ण, सुदामा आदि सांदीपनि मुनि के शिष्य थे। गुरुपत्नी के आदेश से वे लकड़ी लाने के लिए वन में गये। उसी समय जोरदार वर्षा होने लगी। परन्तु वर्षा की चिन्ता न कर वे दोनों लकड़ियाँ चुनते रहे। इसी बीच अन्धकार छा गया और लौट न सकने के कारण उन्हें जंगल में ही ठहर जाना पड़ा। अधिक रात बीत गयी, तो गुरु उन्हें खोजते-खोजते उनके पास पहुँचे और इस प्रकार अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए उन्होंने गुरु का आशीर्वाद प्राप्त किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण पुराणादि में हैं। उस समय शिक्षा-विज्ञान की चर्चा अवश्य नहीं होती थी, परन्तु प्राचीन काल में इस देश में स्वाभाविक रूप से शिक्षा की कितनी उन्नत प्रणाली तैयार हो गयी थी, इस पर दृष्टि डालने से आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। इस प्रकार कार्य के माध्यम से छात्रगण प्राणमयी जीवन-शिक्षा प्राप्त करते थे। छात्रों और शिक्षकों के बीच इस

प्रकार घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित हो जाने के ही कारण छात्र शिक्षक से नम्रतापूर्वक भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रश्न करके अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। जो सेवा करता है, उसके समक्ष मनुष्य का मन और हृदय खुल जाता है। इसलिए सेवा शिक्षालाभ का एक उत्तम साधन है। प्राचीनकाल में इसी प्रकार छात्रगण शिक्षकों से जीवन-सम्बन्धी अनेक गहन प्रश्नों पर शिक्षा प्राप्त करते थे। गीता में शिक्षा-लाभ के जो साधन बताये गये हैं, प्राचीन भारत के छात्र उन्हीं को अपनाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। गीता में वर्णित वे उपाय हैं :

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥"

"आचार्यों के पास जाकर प्राणिपातपूर्वक विनम्र भाव से प्रश्न आदि करके और उनकी सेवा करके उनसे ज्ञान-लाभ करो। वे तुम्हारी सेवा और नम्रता से प्रसन्न होकर तुम्हारी जिज्ञासा शान्त करेंगे।" ज्ञान-प्राप्ति की ये जो तीन शर्तें हैं, उन पर आज अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार किये जाने की आवश्यकता है। मनुष्य-मनुष्य के साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित होने पर ही पारस्परिक आदान-प्रदान प्राणवान् बन सकता है। शिक्षा-विधि-सम्बन्धी विचार के क्रम में रवीन्द्रनाथ ने इस बात को अत्यन्त स्पष्ट रीति से समझाया है। उन्होंने कहा है : "शिक्षा के सम्बन्ध में एक महान् सत्य हमने सीखा था। हमने यह जाना था कि मनुष्य मनुष्य से सीख सकता है; जिस प्रकार जल से ही जलाशय भरता है, शिक्षा से शिक्षा जलती है, उसी प्रकार प्राण द्वारा प्राण का संचार होता है। मनुष्यता को हटा देने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता—वह कार्यालय, अदालत या कल-कारखाने की आवश्यक सामग्री बन जाता है। तब वह मनुष्य न रहकर 'शिक्षक महोदय' बनना चाहता है—तब वह प्राण नहीं दे सकता, केवल पाठ देता है। गुरु-शिष्य के पूर्णतः आत्मीयतापूर्ण सम्बन्धों से ही शिक्षा-कार्य सजीव शरीर के रक्त-प्रवाह की भाँति सक्रिय हो सकता है। कारण,

बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का भार पिता-माता पर होता है, परन्तु माता-पिता में उतनी योग्यता न रहने पर अन्य उपयुक्त व्यक्ति की सहायता अत्यावश्यक हो उठती है। ऐसी अवस्था में गुरु के माता-पिता न बनने से काम नहीं चलता। हम जीवन की श्रेष्ठ वस्तु को रुपये देकर न तो खरीद सकते हैं और न आंशिक रूप में ग्रहण ही कर सकते हैं—स्नेह, प्रेम और भक्ति से ही हम उसे आत्मसात् कर सकते हैं। यही मनुष्यता के पाक-यंत्र का पाचक रस है। यही जैव सामग्री को जीवन के साथ मिला सकता है। वर्तमान काल में हमारे देश की शिक्षा में उस गुरु का जीवन ही सर्वाधिक अनावश्यक हो गया है।"

मुखोद्गत पद्धति पर जोर

पहले कहा जा चुका है कि एक दीर्घ अवधि तक, जब लेखन-पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ था, वेद की यात्रा एक मुख से दूसरे मुख तक होती थी और मौखिक रूप से ही उसकी शिक्षा भी दी जाती थी। लिपि और लेखन-प्रणाली का आविष्कार होने के बाद भी बहुत दिनों तक वेद लिखा नहीं गया था। ईसा की आठवीं या नवीं शताब्दी में एक कश्मीर-निवासी ने वेद को लिपिबद्ध करने का साहस किया था। परन्तु वेद के ग्रन्थ-रूप ग्रहण कर लेने पर भी उसकी मौखिक शिक्षा देने की प्रथा का परित्याग नहीं किया गया, क्योंकि वेद की आवृत्ति में शुद्ध उच्चारण और सुर पर विशेष ध्यान दिया जाता था। लोगों का ऐसा विश्वास था कि वेद का शुद्ध उच्चारण और सस्वर पाठ न किया जाय, तो पाप होता है। बौद्ध-ग्रन्थ भी इसी प्रकार मौखिक यात्रा करते थे। उनकी भी मौखिक शिक्षा दी जाती थी। अतः प्राचीन भारत के विद्यालय में शिक्षा-दान के लिए जो पद्धति प्रस्तुत हुई, वह मौखिक पद्धति थी। आचार्य एक बार में केवल दो शब्दों का उच्चारण करते थे और शिष्य ठीक उसी ढंग से उनकी आवृत्ति करते थे। एक व्यक्ति का एक स्तोत्र या श्लोक सीखना समाप्त होने पर दूसरे छात्र को भी उसी रीति से सिखाया जाता था। इस

प्रकार प्रत्येक छात्र पर शिक्षक व्यक्तिगत रूप से ध्यान देता था। लेकिन जब वेदान्त, सूत्र, भाष्य, षट्दर्शन इत्यादि का निर्माण हुआ और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ प्रकट हुईं तब इस प्रकार की मौखिक शिक्षा-दान की पद्धति नहीं चल सकती थी। अतः व्याख्या करके समझाने की पद्धति ग्रहण की गयी। किन्तु शिक्षा-पद्धति का कितना ही विस्तार क्यों न हुआ हो, प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति की विशिष्टता की सतत रक्षा होती आयी। यह विशिष्टता थी, प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना; प्रत्येक छात्र की आवश्यकता के अनुसार उसके लिए समय और शक्ति देना तथा जब तक छात्र सीख न जाय, तब तक धैर्य और यत्नपूर्वक उसे सिखाने की चेष्टा करना। अतः उस समय छात्रों के लिए आलस्य का अवसर कम था। वर्तमान युग में यह बात गम्भीर रूप से विचारणीय है। अनेक क्षेत्रों में उन्नत छात्रगण शिक्षक की देखरेख में कम उन्नत छात्रों को पढ़ाते थे और इस प्रकार अध्यापन-कार्य में आचार्य की सहायता करते थे। यह बात उन छात्रों के लिए बड़ी ही शिक्षाप्रद होती थी। इसके कारण बुद्धिमान् छात्रगण शिक्षा-दान-प्रणाली सीखने का सुयोग पाते थे और उनके लिए यह शिक्षक-प्रशिक्षण कॉलेज का काम देता था। विद्यालय में प्रश्नोत्तर के माध्यम से शिक्षा-दान की प्रणाली भी चलती थी। कुशल आचार्य इसके द्वारा कम मेधावी छात्रों की बुद्धि को उद्रिक्त करते थे और ज्ञान-लाभ के प्रति उनका आग्रह जाग्रत करने में समर्थ होते थे। छात्रों को परस्पर विचार-विवेचना के लिए भी उत्साहित किया जाता था। इससे उनके ज्ञान की कमी पूरी होती थी और उनकी विचार-शक्ति बढ़ती थी।

प्राचीन परीक्षा पद्धति

प्राचीन भारत में कोई सामयिक या वार्षिक परीक्षा नहीं होती थी। छात्र ने पुराना पाठ भलीभाँति हृदयंगम कर लिया है, यह जान लेने के बाद शिक्षक उसे नया पाठ देते थे। समावर्तन के पहले भी कोई अन्तिम

परीक्षा नहीं थी। शिक्षक के अभिमत पर छात्र का स्नातकत्व निर्भर करता था। यद्यपि प्राचीन भारत के छात्रों को परीक्षा आदि के झंझट से मुक्ति मिली हुई थी, तथापि उनका भाग्य बहुत सुखकारी नहीं था। आजकल किसी तरह परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद छात्रों के पांडित्य के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, उसे भूल जाने पर भी उन्हें उच्च शिक्षित कहलाने में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, किन्तु प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। स्नातक के पांडित्य की उसके जीवन-काल में किसी भी समय जाँच हो सकती थी। आजकल परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद सारी विद्याएँ भूल जाने पर भी काम चलता है। किन्तु उस समय जीवनभर विद्याओं को स्मरण रखना पड़ता था; क्योंकि किसी भी समय उन्हें विद्या के विवाद में भाग लेने के लिए चुनौती दी जा सकती थी। विद्या के इस विवाद को 'शास्त्रार्थ' कहा जाता था। उसके फलाफल को देखने के बाद समाज किसी स्नातक के पांडित्य पर विचार करता था। इस पांडित्य के युद्ध में जो पंडित पराजित होता था, वह नम्रतापूर्वक यह बात स्वीकार कर लेता था कि सम्बद्ध विषय में उसका पांडित्य कम है।

भारतीय सभ्यता संस्कृति और शिक्षा का मूल स्रोत था, शहरों और गाँवों के कोलाहल से दूरस्थ वनांचल या तपोवन। वेद-मंत्र प्रथम बार तपोवन में ही उच्चरित हुए थे। उपनिषद् के ऋषियों ने अरण्यों में ही परम तत्त्व के दर्शन प्राप्त किये थे। भगवान् बुद्ध ने शहर और गाँव से बाहर ही परम सत्य को उपलब्ध किया था। प्राचीन ऋषि और बौद्ध-संन्यासी वनांचल में ही बैठकर शिष्यों को शिक्षा देते थे और धर्मोपदेश करते थे। वाल्मीकि, कण्व, सांदीपनि आदि प्रख्यात महान् आचार्य वनों में ही रहते थे और उनके आश्रमों में दर्शन और धर्म के अतिरिक्त व्याकरण, भाषा-तत्त्व, ज्योतिष आदि साधारण विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। अनेक बौद्ध-शिक्षक वनांचलों में ही रहकर शिक्षा-दान करते थे। इसके बावजूद यह प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में जो विशाल

शिक्षा-केन्द्र बने थे, उनकी स्थापना अरण्यों में नहीं हुई थी। तक्षशिला गांधार प्रदेश की राजधानी थी। वाराणसी उत्तम नगर था। नालन्दा, विक्रमशिला आदि बौद्ध-मठ विशाल विश्वविद्यालयों में परिणत हो गये थे। वे न तो शहर थे, न गाँव। वे शहर और वन दोनों के सम्मिश्रण थे—शिक्षाजन्य उपनिवेश थे। इसके अतिरिक्त अनेक छात्र, जो साधारण या वृत्तिमूलक शिक्षा प्राप्त करते थे, गाँव या नगर में गुरु-गृह में निवास कर विद्यार्जन करते थे। किन्तु वे शिक्षक और छात्र तथा भारतीय जनता, सभी यह मानते थे कि लोकालय से दूर शिक्षा-व्यवस्था करना ही सर्वोत्तम शिक्षा-व्यवस्था है, अर्थात् विद्यालय के क्षेत्र के सम्बन्ध में लोगों का आकर्षण तपोवन या आश्रम की ही ओर था। अतः जब कभी सुयोग मिलता था, प्राचीन भारत के शिक्षकगण छात्रों को लेकर निकटवर्ती वनांचल में चले जाते थे और वहाँ जाकर पढ़ाया करते थे। इस बात का प्रमाण मिलता है, कि सत्रहवीं शताब्दी में भी वाराणसी के शिक्षकगण ऐसा करते थे। शिक्षा-क्षेत्र के लिए भारतीय लोकमत का आकर्षण लोकालय से दूर वनांचल, प्रकृति की गोद की ओर क्यों था? इसीलिए कि रवीन्द्रनाथ की अनुपम भाषा में: "तपोवन ही भारतीय सभ्यता का परम निर्दशन था। इस वन में ही मनुष्य ने सम्पूर्ण प्रकृति के साथ आत्मा के मिलन को शान्त-समाहित भाव से प्राप्त किया। कारण, भारतीय मन एक ऐसा आश्रम चाहता है, जहाँ विश्व-प्रकृति का निर्मल सौन्दर्य और मनुष्य के चित्त की पवित्र साधना दोनों मिलकर एक योगासन की सृष्टि करें। तपोवन की शिक्षा में भारतीय मन ने यह तथ्य उपलब्ध किया है कि जहाँ वास्तविक साधना चलती है, वहीं वास्तविक शिक्षा-दान सहज हो सकता है।" रवीन्द्रनाथ आगे कहते हैं: "इस देश में एक समय तपोवन का इसी रूप में व्यवहार होता था। वहाँ साधना और शिक्षा का मिलन होने के कारण आदान-प्रदान का कार्य अत्यन्त सहजता से सम्पन्न होता था। फलतः तपोवन हृत्पिंड की तरह समस्त समाज के मर्मस्थान में प्रतिष्ठित होकर उसके प्राण के शोधन, परिचालन और रक्षा का कार्य

सम्पन्न करता था। बौद्ध-विहारों का भी यही कार्य था। वहाँ भी आदान-प्रदान का कार्य अविच्छिन्न गति से चलता था।"

राज्याश्रित किन्तु राज्यनियंत्रित नहीं

प्राचीन काल में सरकार अनेक प्रकार से शिक्षा का पृष्ठपोषण करती थी और शिक्षा-विस्तार में सहायता पहुँचाती थी। वह पंडितों के लिए वृत्ति की व्यवस्था करती थी। जिन स्नातकों को काम नहीं मिलता था, उनके लिए सरकार काम की व्यवस्था करती थी। सरकार पंडित-मंडलियों के लिए एक-एक समग्र अंचल का दान करती थी और वहाँ 'अग्राहार' गाँवों का निर्माण होता था। नालन्दा आदि मठीय विश्व-विद्यालयों के लिए भी हिन्दू गुप्त राजाओं की आर्थिक सहायता से आगे बढ़ सकना सम्भव हुआ था। किन्तु सरकार तथा राजाओं द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में विविध भाँति सहायता पहुँचाये जाने के बावजूद शिक्षा-व्यवस्था अथवा शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में वे कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। राजकुमार गुरु-गृहों में निवास कर विद्याभ्यास करते थे। सरकार उनके लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं करती थी। उनके लिए कोई विशेष व्यवस्था की जायगी, इसकी भी अपेक्षा नहीं रखी जाती थी। प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था की एक अन्य उत्कृष्टता यह थी कि उसमें छात्रों के चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व-विकास पर अधिक बल दिया जाता था। छात्रों का ब्रह्मचारी के रूप में जीवन-यापन, गुरु-गृह में निवास, गुरु-गृह में धनी-गरीब का भेदभाव न कर शारीरिक श्रम के कार्यों का अभ्यास और महलवासी तथा कुटियावासी, सभी श्रेणी के छात्रों का एक ही प्रकार से रहना और चलना-फिरना होता था—इन बातों से छात्रों के चरित्र और व्यक्तित्व का सुदृढ़ आधार पर गठन सम्भव हो पाता था। मनु-सदृश रक्षणशील स्मृतिकार भी वेद के पांडित्य की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान करते थे। रवीन्द्रनाथ ने मनुष्यता पर विशेष बल दिया है। वे कहते हैं : "संसार में कोई बनिया है, कोई वकील है, कोई

धनी जमींदार है, कोई और कुछ है। इन सबके घर के वातावरण अलग-अलग होते हैं और बच्चों पर बचपन से ही एक विशेष प्रकार की छाप पड़ती है। जीवन-यात्रा के वैचित्र्य के कारण मनुष्य में अनिवार्य रूप से स्वयमेव एक विशेषता आ जाती है और यों विभिन्न व्यवसायों के विशिष्ट आकार-प्रकार लेकर मनुष्य विभिन्न वर्गों में विभाजित हो जाता है। परन्तु संसार-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले बच्चों का अनजाने ही अपने अभिभावकों की राह पर चलने लगना कल्याणकारी नहीं है।

"उदाहरणस्वरूप, एक धनी के बच्चे को लीजिये। धनी के घर में बच्चा जन्म अवश्य लेता है, परन्तु धनी का बच्चा होने के कारण उसमें कोई जन्मजात विशेषता नहीं होती। धनी और निर्धन के बच्चों में कोई जन्मजात भेद नहीं होता। जन्म के बाद मनुष्य अपने हाथों से इस भेद की सृष्टि करने लगता है।

"इस अवस्था में, माँ-बाप के लिए उचित है कि प्रारंभ में वे बच्चे को मनुष्यता की शिक्षा दें और उसके बाद आवश्यकतानुसार धनी की सन्तान बनायें। किंतु ऐसा होता नहीं है। बच्चे को ठीक ढंग से मानव-सन्तान बनाने से पहले ही धनी की सन्तान बना दिया जाता है। फलतः दुर्लभ मानव-जीवन का एक बड़ा अंश उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है—जीवन-धारण के अनेक रसों के आस्वादन की उसकी क्षमता विलुप्त हो जाती है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था कितनी अधिक कल्याणकारी थी।

प्राचीन काल में स्त्री-शिक्षा

अत्यन्त प्राचीन काल में भारत की स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। वेदाध्ययन, वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान और उपनयन में उस समय उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। ये अधिकार नाममात्र के लिए नहीं थे। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ व्यवहारतः समान रूप

से यज्ञादि-सम्पादन में भाग लेती थीं। उनमें से अनेक पांडित्य के उच्च शिखर पर पहुँची थीं। ऋग्वेद-संहिता के निर्माताओं (मंत्रदृक्) में दो स्त्रियों के भी नाम मिलते हैं। वैदिक युग के बाद, उपनिषद्-युग में भी स्त्रियाँ वैदिक यज्ञादि में भाग लेती थीं। उन्हें केवल वैदिक शास्त्रों का ही ज्ञान नहीं था, प्रत्युत उनमें से अनेक गम्भीर दार्शनिक ज्ञान की अधिकारिणी थीं। इस प्रसंग में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी, गार्गी, आत्रेयी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पूर्वमीमांसा सदृश शुष्क दर्शन-शास्त्र में भी उन्होंने पर्याप्त पांडित्य अर्जित किया था। भगवान् बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संन्यास और मठ-प्रवेश का अधिकार दिये जाने के कारण समाज की उच्च श्रेणी की महिलाओं में ज्ञान और दर्शन के प्रचार में सुविधा हुई। अनेक महिलाएँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर धर्म और दर्शन की सेवा में अपने को समर्पित कर देती थीं। किन्तु उपनिषद्-युग के अन्तिम दिनों से भारतीय स्त्रियों की शिक्षा में अवनति आरम्भ हुई। कारण, इस समय स्त्रियों के उपनयन का अधिकार संकुचित कर दिया गया और यज्ञ में उनका अंशदान नाममात्र का बना दिया गया। कालक्रम में उन्हें उपनयन और वेदाध्ययन के अधिकार से पूर्णतः वंचित कर दिया गया और उन्हें शूद्र माना जाने लगा। फलतः स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार क्रमशः घटने लगा। स्त्रियों का वेदाध्ययन और उपनयन का अधिकार क्यों छीन लिया गया, यह जानना आवश्यक है। पंजाब में तो अन्ततः अनार्य निर्मूल कर दिये गये थे, किन्तु गंगा के मैदान में (उत्तर प्रदेश, विदेह, मगध, अंग, बंग आदि में) अनार्य पर्याप्त शक्तिशाली थे। उन्हें सम्पूर्णतः पराजित और नष्ट कर सकना सम्भव न हो सका था। परिणामतः इन सब स्थानों में आर्यों को अनार्यों के साथ निवास करना पड़ता था। उस समय आर्यों की विभिन्न जातियों के बीच विवाह-सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं था। किन्तु इन स्थानों में आर्य लोग अनार्य स्त्रियों के साथ भी विवाह करने लगे। इस प्रकार आर्य-परिवारों के अन्तःपुरों में अनार्य-भाषा चलने लगी। यज्ञ-कर्म आदि में ये स्त्रियाँ वेद के मंत्रों, स्तोत्र आदि का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर पाती थीं। अतः

वेद और वैदिक कर्म आदि की पवित्रता की रक्षा के उद्देश्य से स्त्रियों के अधिकार संकुचित किये जाने लगे। वेद और वैदिक कर्मों में उनके अधिकार जितने ही संकुचित हुए, उनमें शिक्षा का प्रसार भी उतना ही अवरुद्ध होने लगा। फिर जितना शिक्षा का प्रसार कम हुआ, उतनी ही उनमें अज्ञानता बढ़ी और वे वैदिक अधिकारों के लिए अयोग्य मानी जाने लगीं। फिर भी कुछ अभिजात परिवारों की स्त्रियों को विशेष व्यवस्था करके उच्च शिक्षा दी जाती थी। कुछ समय बाद यह क्रम भी टूटने लगा। मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दू-समाज में साधारण शिक्षा विशेष रूप से बाधाग्रस्त हुई। फिर पर्दा-प्रथा आरंभ होने से स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार और भी कम हुआ। इसके फलस्वरूप बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जहाँ शिक्षित पुरुषों की संख्या ३० प्रतिशत थी, वहाँ शिक्षिता स्त्रियों की संख्या केवल १० प्रतिशत रह गयी। इसके बाद भी स्त्री-शिक्षा की अवनति का क्रम चलता रहा। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ-काल में शिक्षिता स्त्रियों की संख्या केवल १ प्रतिशत रह गयी —९९ प्रतिशत स्त्रियाँ निरक्षर थीं। भारत में स्त्री-शिक्षा की यह परिणति एक अद्‌भुत बात है। विश्व की विभिन्न सभ्यताओं के इतिहासों में जितना पीछे की ओर जाइये, उतनी ही स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था हीन मिलेगी, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन काल में उनकी अवस्था हीनतम थी। आधुनिक काल में ही उनका उत्थान आरम्भ हुआ। किन्तु भारत की स्थिति इसके विपरीत है। भारत में अति प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति सभी दृष्टियों से समुन्नत थी। उसके बाद जितना ही आधुनिक युग की ओर बढ़िये, उनकी स्थिति उतनी ही अवनत देखने को मिलेगी।

अक्षर ज्ञान क्यों घटा?

प्राचीन और मध्य-युग में प्राथमिक शिक्षा की अवस्था का विवेचन करने पर भारत की शिक्षा-विषयक क्रमिक अवनति के वास्तविक कारण

का पता चलता है। जिस समय सभी द्विजों में उपनयन सार्वजनिक रूप से प्रचलित था, उस समय अक्षर-ज्ञानवाले लोगों की संख्या ७० प्रतिशत थी। फिर जब शूद्रों के साथ विवाह-सम्बन्धों के कारण वैश्यों को शूद्र माना जाने लगा और उन्हें उपनयन तथा वेद-शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया और उसके बाद जब अनेक क्षत्रियों ने उपनयन का परित्याग किया, तब अक्षर-ज्ञान-सम्पन्न लोगों की संख्या ५० प्रतिशत पर उतर आयी। इसके उपरान्त हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान-काल में जब संस्कृत-शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाने लगा और प्राथमिक विद्यालयों में प्राकृत भाषा के स्थान पर संस्कृत-शिक्षा पर बल दिया जाने लगा, तब इसके कारण भी प्राथमिक शिक्षा का प्रसार कम होने लगा। बारहवीं शताब्दी में, अर्थात् हिन्दू-शासन के अन्तिम काल में, यह संख्या ३० तक आ पहुँची। मुसलमानों के शासन-काल में मकतबों और मदरसों के माध्यम से मुसलमानों की शिक्षा की सुव्यवस्था हुई। किन्तु मुसलमान शासकगण हिंदुओं की शिक्षा-व्यवस्था पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। फिर भी, पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में देश के अधिकांश स्थानों में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था थी। इतिहासज्ञों का कहना है कि उस समय मद्रास प्रेसीडेन्सी के हर गाँव में प्राथमिक विद्यालय था। बंगाल में भी साधारण लिखाई पढ़ाई और सरल गणित की शिक्षा के लिए हर गाँव में विद्यालय था। किंतु गाँव-गाँव में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था रहने पर भी समाज के सभी श्रेणी के लोग उसका लाभ नहीं उठाते थे। ब्राह्मण और व्यवसायी श्रेणी के ही लोग मुख्यतः इसका लाभ उठाते थे। फलतः विद्यालय जानेवाली आयु के लड़के-लड़कियों में से केवल १५ प्रतिशत ही प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययन करते थे। इसका कारण क्या है? शिक्षा-प्राप्ति की व्यवस्था रहने पर भी लोग शिक्षा क्यों नहीं प्राप्त करना चाहते थे? जिस देश में किसी समय ७० प्रतिशत लोग शिक्षित थे और जहाँ अत्यन्त प्राचीन काल में भी स्त्रियाँ ज्ञान के उच्चतम शिखर पर आसीन थीं, वहाँ ऐसी मनोवृत्ति क्यों और किस प्रकार उत्पन्न हुई, इस पर गम्भीरतापूर्वक

विचार करने की आवश्यकता है। इस देश में व्यावहारिक शिक्षा-व्यवस्था और उसका मान उच्च स्तर का था। एक समय जो लोग व्यावहारिक और शिल्प-शिक्षा ग्रहण करते थे, वे भी वैदिक स्तोत्र आदि की आवश्यकतानुसार शिक्षा लेते थे। आध्यात्मिक ज्ञान को शिक्षा की बुनियाद माना जाता था। फिर कारखाने में केवल व्यावहारिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। प्रत्येक शिल्प या व्यावहारिक कार्य के तात्त्विक पक्ष के सम्बन्ध में भी भली प्रकार शिक्षा दी जाती थी। भास्कर्य और चित्रांकन के छात्रों को मूर्ति-कला और ललित कला आदि से सम्बद्ध संस्कृत 'मैनुअलों' का सावधानी के साथ विस्तृत अध्ययन करना पड़ा था। अथात्, कारीगरी की शिक्षा मंत्रवत् अधकचरे ढंग से नहीं दी जाती थी—वैज्ञानिक ढंग से दी जाती थी। जो लोग कारीगरी की शिक्षा प्राप्त करते थे, वे साधारण शिक्षा में भी व्युत्पन्न होते थे। परन्तु कालान्तर में ऐसी स्थिति हो गयी कि कारीगरी की शिक्षा पानेवाले अधिकांशतः निरक्षर हो गये। साधारण शिक्षा के प्रति उनमें किसी प्रकार का आग्रह नहीं रहा। इसके कारण पर विचार करना आवश्यक है। समाज में मनुष्य में जो कुछ कमियाँ रह जाती हैं, उनका मूल कारण खोजने पर प्रकट होता है कि अनेक क्षेत्रों में समाज के धर्म-सम्बन्धी विचारों के साथ उनका कार्य-कारण सम्बन्ध है—विशेषतः भारत जैसे देश में, जहाँ मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य के साथ धर्म किसी-न-किसी रूप में जुड़ा रहता है, समाज की धर्म-संबंधी धारणा में उसका कारण अवश्य रहता है। भारत में शिक्षा का सूत्रपात 'धर्म-शिक्षा', अर्थात् वेद-शिक्षा से हुआ था। उसी धर्म-शिक्षा के अधिकार से अर्द्धांश को (स्त्रियों को) वंचित कर दिया गया। वैश्यों के शूद्रों के साथ विवाह आदि करने के कारण उनकी भाषा विकृत मानी गयी। इसलिए ऐसा माना गया कि उनसे उपनयन के कर्त्तव्यों और वैदिक शिक्षा का विधिवत् निर्वाह नहीं हो सकेगा। वेद को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से यह कारण भले ही उचित था, परन्तु यह भी एक तथ्य है कि मनुष्य को उसके धार्मिक अधिकार से वंचित किया गया। क्षत्रियों को भी विभिन्न कारणों

से उपनयन तथा वेदाध्ययन का परित्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। यह सही है कि वेद के अधिकार से वंचित होने पर भी पुराण आदि के अध्ययन का अधिकार सबको था; किन्तु तत्कालीन संस्कारों के अनुसार वेद-शिक्षा ही शिक्षा का मूल थी। अतः जहाँ शिक्षा के मूल स्वरूप वेद की शिक्षा नहीं होती थी, वहाँ शिक्षा के प्रति लोगों का आग्रह नष्ट होना कुछ अस्वाभाविक नहीं था। फिर, हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान की दृष्टि से प्राथमिक विद्यालयों में प्राकृत भाषा की अपेक्षा संस्कृत-शिक्षा को प्रधानता देने के कारण भी जनसाधारण की प्राथमिक शिक्षा के मूल पर कुठाराघात हुआ। उधर खेती-बारी और कारीगरी आदि वृत्तियाँ ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध मान ली गयीं। इसके पीछे चाहे जो कारण रहा हो, परन्तु इसके आधार पर समाज में छोटे-बड़े के भेद-भाव और जाति-भेद की सृष्टि अवश्य हुई। कालान्तर में यह धारणा बन गयी कि ब्राह्मण की वृत्ति ऊँची है और खेती-बारी तथा कारीगरी की वृत्ति नीची है। समाज के उच्चतम स्तर पर इस मनोवृत्ति के पैदा होने के कारण अन्य स्तर भी इससे मुक्त नहीं रह सके। फलतः जो लोग इन वृत्तियों को अपनाये हुए थे, वे हीनता अनुभव करने लगे। यह एक विचित्र बात थी! देश के अधिकांश लोग अपनी वृत्तियों को स्वयं ही हीन मानने लगें, ऐसा दुर्भाग्य संसार में और कहीं देखने में नहीं आया। अतः उन सब वृत्तियों का स्तर ऊँचा उठाने के लिए उनमें प्रेरणा नहीं रह गयी। साथ ही उनकी यह धारणा भी समाप्त हो गयी कि कारीगरी की शिक्षा के लिए साधारण शिक्षा अत्यावश्यक है। फलतः कारीगरी की शिक्षा का स्तर गिरने लगा। शिक्षा किसी भाँति जड़वत् चलती रही। किसान और कारीगर निरक्षर होते गये। इस प्रकार समाज में एक ओर जिस वर्ग ने साधारण उच्च शिक्षा प्राप्त की, उसकी शिक्षा के साथ कारीगरी शिक्षा का कोई सम्पर्क नहीं रहा। वे उसे हेय मानने लगे। दूसरी ओर, कारीगरी-शिक्षा के साथ साधारण शिक्षा का सम्बन्ध पूर्णतः टूट गया। इस प्रकार भारत में शिक्षा के क्षेत्र में अन्धकार-युग आरंभ हो गया।

अंग्रेजी शासन का परिणाम

देश की शिक्षा-विषयक इस शोचनीय स्थिति में ही अंग्रेजों का शासन आरम्भ हुआ। अंग्रेज शासकों ने देश पर एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था लाद दी, जिसके पीछे देश के जन-गण के वास्तविक कल्याण का कोई भाव न था। यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि अंग्रेजी-शिक्षा-व्यवस्था के प्रवर्त्तन का लक्ष्य ब्रिटिश भारत में राज-काज और वाणिज्य-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी जाननेवाले देशी कर्मचारी तैयार करना था। इस शिक्षा-व्यवस्था के फलस्वरूप जो लोग शिक्षित हुए, उनका देश के जन-गण से सम्बन्ध और भी कम हो गया, बल्कि टूट-सा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या और भी कम हो गयी। अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित शिक्षा की त्रुटि कहाँ है, इस पर आगे विचार करेंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा की भूख

सन् १९०५ में बंग-भंग-आन्दोलन आरम्भ हुआ। उसके कारण देश में राष्ट्रीयता और स्वदेशीपन की भावना जाग्रत हुई तथा व्यापक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेज शासकों ने जिस शिक्षा-प्रणाली और शिक्षा-व्यवस्था का प्रवर्त्तन किया है, वह राष्ट्रीयता और स्वदेशीपन के लिए हितकारी नहीं है—यह भावना विशेष रूप से जाग्रत हुई। बंगाल के राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्न से राष्ट्रीय शिक्षा के प्रवर्तन के लिए 'नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन' नामक एक परिषद् स्थापित की गयी। सब लोग जानते हैं कि उक्त संस्था आज 'यादवपुर टेक्निकल और इञ्जीनियरिंग विश्वविद्यालय' के रूप में उपस्थित है। इसके अतिरिक्त साधारण शिक्षा के लिए परिषद् ने जो शिक्षालय खोले, वे राष्ट्रीय विचार के शिक्षकों द्वारा संचालित तो होते थे, परन्तु उनमें भी प्रचलित विदेशी शिक्षा-प्रणाली ही चलती थी। हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना हुई। वहाँ प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति के साथ आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं को जोड़ा गया और उसे राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में चलाया गया। अंग्रजों ने जिस

शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन किया था, उसकी त्रुटियों के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ विशेष रूप से सजग थे। यहाँ इस सम्बन्ध में एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करने से इस बात को समझने में सुविधा होगी। इस शिक्षा के सम्बन्ध में वे क्षोभसहित कहते थे : "तथ्यों के साथ बाह्य तत्त्वों को मिलाकर सीखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। हमारी अधिकांश शिक्षा जिन दृष्टान्तों का आश्रय ग्रहण करती है, वे हमारी दृष्टि में नहीं आते। हम इतिहास पढ़ते हैं। वह इतिहास हमारे देश के जन-प्रवाह का अवलम्बन करके तैयार हुआ है, जिसके अनेक लक्षण, अनेक स्मृतियाँ, हमारे घर-बाहर के विभिन्न स्थानों में प्रत्यक्ष हैं—परन्तु इस बात पर चूँकि हम ध्यान नहीं देते, इसलिए इतिहास के सम्बन्ध में हमारी कोई स्पष्ट धारणा हो ही नहीं पाती। हम भाषा-तत्त्व रटकर परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं; परन्तु हमारी अपनी मातृभाषा ने समय-समय पर, प्रदेश-प्रदेश में, किस प्रकार नाना रूपान्तरों के बीच से अपने इतिहास का निर्माण किया है, इस तथ्य को उस दृष्टि से न देखने के कारण भाषा-रहस्य हमारे समक्ष स्पष्ट नहीं होता। भारतवर्ष में समाज और धर्म में जिस प्रकार के अनेक स्थिति वैचित्र्य हैं, वैसे स्थिति-वैचित्र्य सम्भवतः और किसी देश में नहीं हैं। अनुसंधानपूर्वक, अभिनिवेशपूर्वक उन वैचित्र्यों पर विचार करने से समाज और धर्मविषयक विज्ञान हमारे समक्ष जिस प्रकार उद्भासित हो उठेगा, उस प्रकार दूर देशों की धर्म और समाज-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर नहीं।

"स्वयं सोचेंगे, स्वयं खोज करेंगे, स्वयं काम करेंगे—इस प्रकार मनुष्य तैयार करने की प्रणाली अलग है; और दूसरे का आदेश मानकर चलेंगे, दूसरों के विचारों का प्रतिवाद नहीं करेंगे और दूसरे के काम में जुड़ेभर रहेंगे—इस प्रकार मनुष्य तैयार करने की प्रणाली अलग है।" वे आगे कहते हैं : "दस से चार बजे तक जो कुछ कंठस्थ करता हूँ, उसका जीवन के साथ, आसपास के लोगों के साथ, घर के साथ कोई मेल नहीं है। घर में माँ-बाप, भाई-बन्धु जो कुछ कहते हैं, उसका विद्यालय की शिक्षा के साथ कोई मेल नहीं है—उलटे कई जगह विरोध

अवश्य है। ऐसी स्थिति में विद्यालय एक इंजन-मात्र होकर रह जाता है—वह वस्तु का संग्रह करता है, प्राण का नहीं।" इसके अतिरिक्त, भारतीय सभ्यता और शिक्षा के मूल उत्स तपोवन की भाँति एक आश्रम-विद्यालय बनाने की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था। भारत की आरण्यक साधना का स्वरूप कैसा था, इसका उन्होंने अनुपम रीति से वर्णन किया है। उसीसे यह प्रकट हो जाता है कि तपोवन-विद्यालय की ओर वे इतने आकृष्ट क्यों हुए थे। वे कहते हैं : "जो औषधि वनस्पति में, प्रकृति की प्राण-क्रिया रात-दिन ऋतु-ऋतु में प्रत्यक्ष हो उठती है, और प्राण की लीला नाना अपरूप भंगिमाओं में, ध्वनि में और रूप-वैचित्र्य में निरन्तर नवीन रीति से प्रकाशित होती रहती है, उसी-के बीच ध्यानपरायण चित्त लेकर जो लोग रहते थे, वे अपने चारों ओर एक आनन्दमय रहस्य को स्पष्ट रीति से उपलब्ध करते थे। इसीलिए वे लोग इतने सहज ढंग से कह सके थे—**'यदिदं किञ्च सर्वप्राण एजति निःसृतं'**। यह जो कुछ है, वह परम प्राण से निःसृत होकर प्राण के मध्य ही कम्पित हो रहा है। वे अपने द्वारा निर्मित ईंट, लकड़ी और लोहे के सीखचों के मध्य नहीं रहते थे—वे जहाँ रहते थे, वहाँ विश्वव्यापी विराट जीवन के साथ उनके जीवन का गहरा तादात्म्य होता था। इस वन ने उन्हें छाया दी है, फल-फूल दिये हैं, कुश आदि की व्यवस्था की है—उनके दैनिक जीवन के समस्त कर्मों की आवश्यकताओं के साथ इस वन के आदान-प्रदान का सजीव सम्बन्ध रहा है। इस उपाय से ही वे अपने जीवन को अपने चारों ओर के विराट् जीवन के साथ संयुक्त करना सीख पाये थे। वे अपने चारों ओर के वातावरण को शून्य, निर्जीव और पृथक् नहीं मानते थे। विश्व-प्रकृति से प्रकाश, वायु, अन्न, जल आदि जो सब दान उन्होंने प्राप्त किये थे, वे मिट्टी के नहीं थे, पेड़ के नहीं थे, शून्य आकाश के नहीं थे—एक चेतनामय अनन्त आनन्द से उनका जन्म हुआ था, यह बात वे सहज अनुभव द्वारा जान पाये थे। इसीसे वे निःश्वास, प्रकाश, अन्न, जल, सब कुछ श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ ग्रहण

करते थे। इसीलिए अखिल चराचर को अपने प्राण द्वारा, चेतना द्वारा, हृदय द्वारा, बोध द्वारा अपनी आत्मा के साथ आत्मीय-रूप में पूर्णतः प्राप्त करना भारतवर्ष की उपलब्धि थी।" इस आरण्यक साधना से भारतवर्ष ने जिस परम सत्य को प्राप्त किया था, वह क्या था, इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है: "जो सत्य मुख्यतः वणिक्-वृत्ति नहीं है, स्वराज्य नहीं है, स्वादेशिकता नहीं है—जो सत्य विश्व-जागतिकता है, वह सत्य भारतवर्ष के तपोवन में साधित हुआ है, उपनिषदों में मुखरित हुआ है, गीता में उसकी व्याख्या हुई है। बुद्धदेव ने उसी सत्य को संसार के सभी मनुष्यों के दैनिक व्यवहार में सफल बनाने के लिए तपस्या की और कालक्रम में नाना प्रकार की दुर्गतियों तथा विकृतियों के मध्य भी कबीर, नानक आदि भारतवर्ष के परवर्ती महापुरुषों ने उसी सत्य को प्रकाशित किया है। भारतवर्ष का सत्य है—ज्ञान में अद्वैत-तत्त्व, भाव में विश्व-मैत्री और कर्म में योग-साधना। भारतवर्ष के अन्तर में जो उदार तपस्या गम्भीर रूप से संचित रही है, वही तपस्या आज हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाई लोगों को एक-करके अपने में उतारने की प्रतीक्षा कर रही है—दास-भाव से नहीं, जड़-भाव से नहीं, सात्त्विक भाव से, साधक-भाव से।" राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में उनकी जो उच्चतम भावना थी, उसका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता है। वे कहते हैं: "राष्ट्रीय शिक्षा से यूरोप जो कुछ समझता है, यदि वही हम भी समझें, तो यह नितान्त भूल होगी। हमारे कितने विशेष संस्कार हैं, हमारे राष्ट्र के कितने लोकाचार हैं, इन सबके द्वारा सीमाबद्ध-रूप में राष्ट्रीयता के अभिमान को अत्युग्र बनानेवाले उपाय को मैं किसी भी तरह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं मान सकता। राष्ट्रीयता को हम परम पदार्थ नहीं मानते—यही है हमारी राष्ट्रीयता **'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः'**—यही है हमारी राष्ट्रीयता का मंत्र। प्राचीन भारत के तपोवन में महा-साधना की यही वनस्पति सिर उठाकर खड़ी हुई थी और सर्वत्र इसीकी शाखा-प्रशाखाएँ विस्तृत होकर विभिन्न दिशाओं पर अधिकार जमा बैठी

थीं। यही थी हमारी राष्ट्रीय साधना।" इसी उदात्त भावना और आदर्श को लेकर उन्होंने शान्ति-निकेतन की स्थापना की थी। उन्होंने अपनी कल्पना का विद्यापीठ लोकालय से दूर, निर्जन क्षेत्र में, मुक्त आकाश और उदार प्रान्तर में, वृक्षावलियों के बीच स्थापित किया था। उनकी इच्छा थी कि वहाँ अध्यापकगण एकान्त में अध्ययन और अध्यापन में संलग्न रहेंगे तथा छात्रगण उस ज्ञान-चर्चा के यज्ञ-क्षेत्र में विकास प्राप्त करेंगे।

गांधीजी की देन

तदुपरान्त भारत के राष्ट्रीय क्षेत्र में महात्मा गांधी का आविर्भाव हुआ। अहिंसक असहयोग-आन्दोलन चलने लगा। सरकारी विद्यालयों का बहिष्कार उसका एक मुख्य कार्यक्रम था। छात्र-छात्राएँ सरकारी विद्यालयों का परित्याग कर समुदायों में बाहर आने लगीं। इस आन्दोलन को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए देश में स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना हुई। गुजरात-विद्यापीठ, बिहार-विद्यापीठ, काशी-विद्यापीठ, दिल्ली का जामिया मिलिया इस्लामिया आदि शिक्षा-प्रतिष्ठानों की स्थापना की गयी। इन सब विद्यापीठों में शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयास किया गया। इनमें सूत कातना, कपड़ा बुनना एवं जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिए अन्य उत्पादक हस्त-शिल्पों का प्रवर्तन किया गया।

किन्तु समग्र रूप से हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए और उस शिक्षा की सर्वोत्तम पद्धति क्या हो सकती है, इस सम्बन्ध में उस समय तक कोई स्पष्ट धारणा नहीं बन सकी थी। रवीन्द्र-नाथ ने देश और संसार के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य विश्व-एकता और विश्व-मैत्री होना चाहिए। इसी आदर्श को सामने रखकर शान्ति-निकेतन की स्थापना हुई थी और उसे विश्व-भारती में रूपान्तरित किया गया था। भारतीय संस्कृति सबको अपने में समाहित कर लेनेवाली संस्कृति है, यह बात वह

स्पष्ट रूप से संसार के समक्ष उपस्थित कर रहे थे। इसीलिए विश्व के विभिन्न देशों की विभिन्न संस्कृतियों के मनीषियों तथा शिक्षार्थियों को वहाँ आकर्षित करके लाने और उसे विश्व-संस्कृति का केन्द्र बनाने के प्रयत्न हो रहे थे। भावना और आदर्श की दृष्टि से यह ठीक ही था; किन्तु जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और शिक्षा की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में उस भावना और आदर्श को किस प्रकार रूपान्तरित करना होगा, यह धारणा उस समय तक स्पष्ट नहीं हो पा रही थी। पाश्चात्य संसार में औद्योगिक क्रान्ति होने के कारण उसके प्रचण्ड आघात से भारत की भी अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था में बहुत बड़े परिवर्तन आ गये थे। विज्ञान की असाधारण उन्नति के प्रकाश में हमारी अनेक प्राचीन धारणाएँ तथा संस्कार भ्रान्त जैसे प्रतीत हो रहे थे। परिवर्तित परिस्थितियों में नवीन और प्राचीन के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए अथवा प्राचीन का पूर्णतः परित्याग कर देना चाहिए अथवा प्राचीन से दृढ़ता-पूर्वक चिपके रहना चाहिए—यह बात उस समय भी हमारे समक्ष स्पष्ट नहीं हुई थी। पाश्चात्य संसार के अनेक राष्ट्रीय और सामाजिक आदर्श भारत के द्वार खटखटा रहे थे। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारत में उन्हें किस प्रकार ग्रहण या परित्याग करना चाहिए, यह भी उस समय स्पष्ट नहीं हुआ था। सबसे बड़ी बात यह है कि महात्मा गांधी के आविर्भाव के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा का परीक्षण-कार्य चल रहा था। यह परीक्षण यदि सफल रहे, अर्थात् यदि भारत बिना शस्त्र-प्रयोग किये स्वाधीनता प्राप्त कर सके, तब आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किस प्रकार किया जायगा, अर्थात् अहिंसात्मक समाज का स्वरूप एवं साधन क्या होंगे, यह धारणा तब तक स्पष्ट नहीं हुई थी। हम क्या होंगे अथवा हम क्या होना चाहते हैं, इसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। तभी यह बात स्पष्ट होगी कि हमें क्या कुछ सीखना होगा। कारण, 'क्या होंगे' और 'क्या सीखेंगे' इन दोनों का अन्यो-न्याश्रय सम्बन्ध है।

आधुनिक काल में, शिक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत् में पर्याप्त विचार-विमर्श तथा गवेषणा-कार्य हुआ है। उसकी लहर इस देश में भी आयी है। वहाँ नयी-नयी शिक्षा-पद्धतियों का परीक्षण हुआ है। इन सब शिक्षा-पद्धतियों में जो कुछ अच्छा है, उसे हमें निश्चय ही अपनी राष्ट्रीय-शिक्षा में शामिल करना चाहिए। शिक्षा-विशारदों ने जिस आधुनिकतम शिक्षा-पद्धति की चर्चा की है, वह यह है कि शिक्षा के साथ कोई उपयोगी कार्य संयुक्त होना चाहिए। किन्तु वह कार्य कैसा होना चाहिए और शिक्षा के साथ उसका संयोग किस प्रकार से होने पर शिक्षा-पद्धति उत्कृष्ट हो सकती है, इस सम्बन्ध में तब तक कोई निश्चय नहीं किया जा सका था। कार्य और शिक्षा को एक तथा अविभाज्य होना चाहिए, यह बात तब तक किसीके दिमाग में नहीं आयी थी। इसके अलावा हस्तकर्म माध्यमवाली शिक्षा से ही देश में नवसमाज की स्थापना सम्भव है—यह धारणा तब तक उत्पन्न नहीं हुई थी।

प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके हैं। हमने देखा है कि शिक्षा-विज्ञान की दृष्टि से प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे अनेक गुण थे, जो शिक्षा-विचार के क्षेत्र में बहुत ही मूल्य रखते हैं और जिन्हें हमें अपनी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में यथायोग्य स्थान देना होगा। पुरातन का बहिष्कार करने से काम नहीं चलेगा। पुरातन में जो कुछ महान् है, उसके आधार पर नवीन का महल खड़ा करना होगा। प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था के गुण ये हैं: (१) छात्रों के चरित्र-निर्माण, ब्रह्मचर्याश्रम के पालन और छात्रों के व्यक्तित्व-विकास पर अधिक बल देना, अर्थात् सदाचार-शिक्षा को प्रमुख स्थान देना; (२) शिक्षकों और छात्रों का एक साथ निवास—शिक्षकों और छात्रों के मध्य आन्तरिक श्रद्धा तथा स्नेह का सम्पर्क; (३) गुरु-गृह में श्रमसाध्य काम करने के अनन्तर शिक्षा-लाभ का सुयोग; (४) दरिद्र-से-दरिद्र छात्रों को भी शिक्षा के सुयोग से वंचित न करना; (५) प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना; (६) परीक्षा-प्रथा का न होना;

(७) शिक्षा-समाप्ति के बाद भी साधारण जीवन में नियमित अध्ययन का नियम, अर्थात् स्वाध्याय; (८) शिक्षा की बुनियाद में आध्यात्मिकता और सरकार द्वारा शिक्षा-व्यवस्था को यथासम्भव सहायता प्रदान, परन्तु शिक्षा-व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप न होना; (९) तपोवन का शिक्षा का मूल उत्स होना और (१०) छात्रों को गुरु के आदर्श पर अपने जीवन-निर्माण का सुयोग मिलना, क्योंकि उस समय गुरु थे आचार्य, अर्थात् वे जिस बात की शिक्षा देते थे, उसका अपने जीवन में पालन करते थे।

समाज-व्यवस्था में अहिंसक क्रान्ति लाकर एक नवीन समाज का निर्माण करना होगा। समाज-निर्माण और समाज की शिक्षा-व्यवस्था के बीच साध्य-साधन का सम्बन्ध रहना आवश्यक है। अतः नवीन समाज-निर्माण के लिए उपयोगी अथवा शिक्षा-विज्ञान की दृष्टि से शुद्ध एक परिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली के आविष्कार की आवश्यकता उपस्थित होती है, जिसमें नये और पुराने में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह सब रहे, किन्तु जो एक नये क्रान्तिकारी स्वरूप में उपस्थित हो। इस क्रान्तिकारी शिक्षा-प्रणाली का आविष्कार कौन करेगा? जिन्होंने अहिंसात्मक समाज-निर्माण का मंत्र दिया, उन महात्मा ने ही अपने अन्तिम और सर्वोत्तम दान के रूप में साधनोपयोगी क्रान्तिकारी शिक्षा-विचार का भी मंत्र दिया। वह मंत्र क्या है और किस प्रकार उस मंत्र की साधना की जानी चाहिए, यह जान लेने पर ही इस सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट पथ-निर्देश हो सकता है कि हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा को किस पथ पर अग्रसर होना चाहिए। ● ● ●

अध्याय २

नयी तालीम का उद्गम और क्रमिक विकास

प्रचलित शिक्षा के प्रति असंतोष

कुछ दिन पूर्व सुबह की गाड़ी से कलकत्ता से डायमण्ड हारबर जा रहा था। मेरे डिब्बे में एक प्रौढ़ सज्जन भी थे। बीच के एक स्टेशन पर मैंने देखा कि कुछ क्षण पूर्व कलकत्ता की ओर गयी गाड़ी में बिना टिकट यात्रा करनेवाले कुछ लोगों को पुलिस ने पकड़ रखा है। यह देखकर उन सज्जन ने कहना शुरू किया : "आजकल रेलगाड़ियों में बिना टिकट की यात्रा जो इतनी बढ़ गयी है, उसका कारण क्या है—मालूम है? यह आजकल की शिक्षा का दोष है। छात्रों की देखादेखी यह दुर्नीति और बढ़ रही है। छात्रगण गिरोह बाँधकर रेलगाड़ियों में सफर करते हैं। टिकट तो खरीदेंगे नहीं, पर यदि सुविधा देखी, तो फर्स्ट क्लास में ही चढ़ेंगे। किसीने आपत्ति की, तो मारपीट शुरू!" मैं पुस्तक पर से दृष्टि उठाकर उन सज्जन के चेहरे की ओर देखने और उनकी बातें सुनने लगा। इससे उन्हें कुछ और उत्साह मिला और वे कहने लगे : "आजकल शिक्षा न हो रही है, खाक हो रहा है। देखिये न! छोटे-छोटे लड़कों के सिगरेट पीने के कारण सिगरेटों की कीमत बढ़ती जा रही है। बालक-बालिकाओं की भीड़ के कारण सिनेमा जाना मुश्किल हो गया है।" मैंने धीर भाव से, तनिक धीमी आवाज में कहा : "किन्तु क्या इन दोनों मामलों में बड़े लोग बच्चों का पथ-प्रदर्शन नहीं कर रहे हैं?" प्रौढ़ सज्जन ने तुरन्त कहा : "ना-ना, ऐसी बात नहीं है! आजकल के बालक-बालिकाओं को पथ-प्रदर्शन की जरूरत ही कहाँ है? देखिये न, मेरे समवयस्क कितने प्रतिशत लोग धूम्रपान करते हैं—दूसरी ओर, स्कूल-कॉलेजों में पढ़नेवाले लड़कों का प्रतिशत देखिये। मेरे बराबर उम्र के कितने

लोगों ने सिनेमा देखा है, अथवा सिनेमा देखते हैं ?" वर्तमान शिक्षा के बारे में साधारण लोगों के भी विचार ऐसे हैं, इसके अविरल दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। आजकल समाज में जो सब दोष-त्रुटियाँ, विशृङ्खलताएँ या अनैतिकता दिखाई पड़ती है, उसके लिए केवल वर्तमान शिक्षा ही जिम्मेदार है, ऐसा नहीं भी हो सकता है। छात्रों और युवकों के बारे में उपर्युक्त या अन्य प्रकार के जो विचार व्यक्त किये जाते हैं, वे भी सर्वत्र ठीक ही हों, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु यह बात सच है कि वर्तमान शिक्षा के सम्बन्ध में बहुतेरे लोगों में एक विरूप मनोभाव पैदा हो गया है—भले ही उन्हें इस बात का ज्ञान न हो कि वर्तमान शिक्षा में त्रुटि कहाँ पर है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके क्या-क्या कुपरिणाम प्रकट हो रहे हैं। सन् १९५६ के जनवरी महीने में सेवाग्राम में जो अखिल भारतीय उत्तर-बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन हुआ था, उसमें महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत तुकड़ोजी महाराज ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा था : "मैं तो देख रहा हूँ कि अब शहरवालों के दिल भी शहरी स्कूलों और कॉलेजों से फिर गये हैं। मेरे पास सैकड़ों पत्र आते हैं, जिनमें माँ-बाप शिकायत करते हैं कि जब तक उनका लड़का चौथी प्राइमरी तक पढ़ता था, वह घर के काम करता था—गाय का गोबर उठाता था और माँ-बाप का कहना मानता था। मगर जब से वह हाईस्कूल या कॉलेज में गया, तब से बदल गया। अब वह जनता की समस्याओं पर विचार न करके यह सोचता है कि मुझे कितना बड़ा बँगला मिलेगा—अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने को मिलेंगे या नहीं। वह यह नहीं सोचता कि देश की समस्या भरपेट भोजन उपलब्ध करने की है !"

बंगाल में बुनियादी के प्रति आकर्षण

पिछले कुछ वर्षों में भूदान-यज्ञ के लिए बंगाल के ग्राम-ग्राम की पैदल यात्रा करके मैंने यह महसूस किया कि सम्पन्न स्थितिवाले बहुतेरे गाँवों

के निवासी अपने गाँव की उन्नति के लिए मुख्यतः दो बातों की कामना करते हैं। एक तो यह कि उनके गाँव में एक अस्पताल (यूनियन अथवा थाना स्वास्थ्य-केन्द्र) की व्यवस्था की जाय और दूसरी बात यह कि उनके गाँव में एक बुनियादी विद्यालय खोला जाय। कई अर्ध-दरिद्र गाँवों के निवासियों में भी बुनियादी विद्यालय के सम्बन्ध में ऐसा ही आग्रह दिखाई पड़ा। सुना गया है कि भारत के दूसरे स्थानों में, जहाँ नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा का न्यूनाधिक प्रसार और विकास हुआ है, लोगों के मन में नयी तालीम के प्रति कुछ विशेष आकर्षण पैदा नहीं हुआ है। किन्तु बंगाल में, नयी तालीम की दिशा में कुछ विशेष काम न होने पर भी, जनसाधारण के मन में उसके प्रति आकर्षण दिखाई पड़ता है। अनेक लोग सोचते हैं कि यह एक एक अच्छी शिक्षा-पद्धति है। इसका कारण क्या है ? समाज की अभी जो स्थिति है, उसमें लोगों के मन में अस्पताल-निर्माण की अभिलाषा जानना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु बुनियादी विद्यालय के लिए लोगों के मन में ऐसा आग्रह पैदा होने का कारण क्या है ? बंगाल में क्या बुनियादी शिक्षा-पद्धति का व्यापक या गम्भीर प्रयोग किया गया है ? लोगों को क्या उसकी सफलता देखने का अवसर प्राप्त हुआ है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है ! तब, क्या वे बुनियादी शिक्षा की विचार-धारा को अच्छी तरह समझकर उसकी ओर आकृष्ट हुए हैं ? यह बात भी नहीं है। फिर, बुनियादी विद्यालय के सम्बन्ध में जन-मन में ऐसे आग्रह की सृष्टि होने का मूल कहाँ है ? यदि गाँववालों को यह बात अच्छी तरह समझा दी जाय कि बुनियादी विद्यालय में अंग्रेजी-शिक्षा का स्थान नहीं है और बुनियादी तथा उत्तर-बुनियादी शिक्षा समाप्त करने पर भी नौकरी मिलने की सम्भावना नहीं है, तब शायद वे निरुत्साहित हो जायँ। फिर भी उनके मन में यह अस्पष्ट धारणा शेष रह ही जायगी कि बुनियादी विद्यालय में उनके बच्चों को अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिलेगा। ग्रामवासियों के मन में बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में यह स्वतः जाग्रत आकर्षण कहाँ से आया ?

विनोबाजी कहते हैं कि जिन-रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा नये समाज की रचना होगी, उनके बीच परस्पर-सम्बन्धों की सृष्टि करनेवाली आकर्षण-शक्ति है नयी तालीम। नयी तालीम नवसमाज-निर्माण के कार्यक्रम-समूह का आधार-स्वरूप है। भविष्य की घटनाओं की छाया वर्तमान काल में पड़ती है। (Coming events cast their shadows beforehand) आनेवाला है, उसका आभास आज ही प्राप्त हो रहा है। क्रान्ति का आभास पहले से ही जन-मन पर उभर उठता है। निकट भविष्य में शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रान्ति अवश्यम्भावी है, उसका आभास आज अविकृत जन-मानस पर उभर रहा है।

शिक्षा के जिस नवविचार को 'बुनियादी शिक्षा' कहा जाता है, उसका नाम है, नयी तालीम। इसे 'बुनियादी शिक्षा की वर्धा-योजना' के अलावा 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' अथवा 'शिक्षा-विषयक अहिंसक क्रान्ति' भी कहा जाता है। नयी तालीम के वास्तविक स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किस पृष्ठ-भूमि में, किस प्रकार इसका उद्भव हुआ और किस प्रकार विकास हो रहा है।

रचनात्मक कार्यों में स्थान

महात्मा गांधी एक ओर जिस प्रकार अहिंसा के पथ पर असहयोग, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह के द्वारा भारत की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन चला रहे थे, उसी प्रकार दूसरी ओर उन्होंने स्वाधीन भारत को शोषणहीन, श्रम-आधारित और अहिंसक समाज का रूप देने की भी कल्पना कर रखी थी। इस उद्देश्य-पूर्ति के साधन-स्वरूप उन्होंने खादी, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक एकता, मादक-द्रव्य-बहिष्कार, आर्थिक साम्य-प्रतिष्ठा, राष्ट्रभाषा-प्रचार, मातृभाषा के प्रति श्रद्धा इत्यादि विविध प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों की व्यवस्था की थी। स्वाधीनता-संग्राम के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में इन सब रचनात्मक कार्य-क्रमों को भी यथासम्भव कार्यान्वित किया जा रहा था। कारण, इससे

एक ओर तो स्वाधीनता-संग्राम में सहायता पहुँच रही थी और दूसरी ओर स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ ही अहिंसक समाज-रचना के अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो रहा था। उनकी प्रतिभा कितनी प्रखर थी, उनकी अन्तर्दृष्टि कितनी गम्भीर थी और वे कितने दूरदर्शी थे, यह उनके कार्यक्रमों का अध्ययन करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। पर इन सबके बावजूद महात्मा गांधी ने अपने कार्यक्रमों में एक बात की कमी अनुभव की और उसे शीघ्र पूरा करने की दिशा में प्रयत्न आरम्भ किये। यह कमी रचनात्मक कार्यक्रमों में अहिंसक समाज-रचना के लिए उपयोगी शिक्षा-व्यवस्था के कार्यक्रम की थी। स्वराज्य के लिए नवीन शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता थी। जो शिक्षा केवल 'परराज्य' के लिए उपयोगी हो, उससे स्वराज्य का काम नहीं चल सकता। इसी बात को विनोबाजी ने अनुपम ढंग से इन शब्दों में व्यक्त किया है : "नया राज्य आने पर पुराने राज्य का झंडा नहीं चल सकता। उसके लिए नया झंडा ही चाहिए। इसी प्रकार नये राज्य में शिक्षा भी नयी चाहिए। पुरानी शिक्षण-पद्धति से अब काम नहीं चलेगा।"

प्रचलित शिक्षा के दोष

अंग्रेजों ने इस देश में जो शिक्षा-व्यवस्था चलायी, वह स्वाधीन भारत की आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए केवल अनुपयोगी ही नहीं, बल्कि अनिष्टकारी भी थी, क्योंकि (१) उक्त शिक्षा-व्यवस्था का मूल उद्देश्य अंग्रेज शासकों की गुलामी करने के लिए साधारण और प्रशासक(Administrator) के नाम से गौरवान्वित (Glorified) किरानियों की सृष्टि करना था। उक्त शिक्षा का फल यही हुआ भी है और हो रहा है; (२) उक्त शिक्षा भारतीय नागरिकों को अपने देश की सभ्यता-संस्कृति के प्रति उदासीन और विमुख बना देती है; (३) उक्त शिक्षा में शारीरिक श्रम की कोई व्यवस्था न होने के कारण वह भारत के लिए विशेष रूप से अनिष्टकारी सिद्ध हुई, क्योंकि भारत में साधारणतः तो श्रम-

विमुखता थी ही, इस शिक्षा के फलस्वरूप शिक्षित लोग और भी श्रम-विमुख हो गये। श्रमजीवियों के प्रति शिक्षित लोगों के मन में घृणा और तुच्छता का भाव उत्पन्न हो गया; (४) शिक्षा-दान का माध्यम विदेशी भाषा—अंग्रेजी होने के कारण अधिकांश समय, शक्ति और बुद्धि उस भाषा के अध्ययन में ही व्यय हो जाती है। फलतः ज्ञानार्जन के लिए जितने समय, शक्ति और बुद्धि की आवश्यकता होती है, उतनी सुलभ नहीं होती। ऐसी स्थिति में शिक्षा का स्तर आशा के अनुरूप ऊँचा उठना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त विदेशी भाषा के माध्यम होने के कारण शिक्षा को सार्वजनिक बना सकना भी सम्भव नहीं है; (५) इस शिक्षा-पद्धति के द्वारा देश के दरिद्र-से-दरिद्र और क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्ति को भी शिक्षित कर सकना सम्भव नहीं है।

विनोबाजी प्रचलित शिक्षा को शिक्षा मानने के लिए ही तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं : "उसमें (अंग्रेजी राज्य आने के बाद भारत में जो तालीम शुरू हुई, उसमें) कुछ छोटे-छोटे और कुछ बड़े दोष भी थे। उनका मैं बयान नहीं करूँगा। मैं तो इतना ही कहना चाहूँगा कि वास्तव में वह तालीम थी ही नहीं। इसका कारण यह था कि किसी समाज को सामने रखकर वह नहीं बनायी गयी थी। जो तालीम समाज को ध्यान में रखकर नहीं बनायी जाती, वह किसी खास चीज के लिए भले ही उपयोगी हो, पर वह 'तालीम' नाम के योग्य नहीं हो सकती। अंग्रेज जिस हालत में हिन्दुस्तान आये और आगे उस हालत में परिवर्तन करके उन्होंने जो कुछ नवीनता पैदा की, उसमें 'समाज' विद्यमान ही नहीं था।" श्री जे० बी० कृपालानी ने अपनी "The Latest fad Basic Education" नामक पुस्तक में भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धति की मुख्य-मुख्य त्रुटियों को कुछ वाक्यों में ही बड़े मजे में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है :

"भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धति औपचारिक (Formal) ढंग की है। जीवन और वास्तविकता के साथ उसका कोई विशेष सम्पर्क नहीं है। यों

उसे केवल बौद्धिक शिक्षा कहा जाता है, पर वह पूरी तरह बौद्धिक शिक्षा भी नहीं है। संकीर्ण अर्थ में ही उसे बौद्धिक शिक्षा कहा जा सकता है। इस शिक्षा-व्यवस्था में प्रतीक (Symbol) को ही प्रधानता दी जाती है, और प्रतीक-निर्दिष्ट वस्तु की अवहेलना की जाती है। इसमें मौखिक वर्णन-मात्र किया जाता है—दृष्टान्तस्वरूप कोई स्थूल वस्तु (Concrete-object) उपस्थित नहीं की जाती। इसमें लिखित शब्दों के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, अतः स्मरण-शक्ति ही इसका प्रधान अवलम्ब है। वास्तविक घटनावली और व्यावहारिक ज्ञान का स्थान इसमें नगण्य होता है। इस शिक्षा-पद्धति में वैज्ञानिक गवेषणा और प्रयोगशाला का प्रयोजन नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। यह शिक्षा-पद्धति निष्क्रिय, वर्णनात्मक और भावात्मक (Passive, descriptive and abstract) है। पर्यवेक्षण या विशेष-विशेष दृष्टान्तों से साधारण सिद्धान्त (Induction) तैयार करने की पद्धति आजमाने का भी इस शिक्षा-पद्धति में अवसर नहीं है। भौतिक दृष्टि से यह प्राणहीन है। विकासशील बालक-बालिआओं के लिए उपयोगी कोई प्रभावकारी कर्मोद्योग इसमें नहीं है। इसमें कक्षा की चहारदीवारियों में बन्द बालक-बालिकाएँ उन्मुक्त वायु, धूप और प्रकाश से वंचित रहती हैं। इस शिक्षा के द्वारा विभिन्न विषयों का जो आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी एकीभूत और समग्रीकृत (Unified and Integrated) नहीं होता। इससे मनुष्य की सभी वृत्तियों—विशेष-कर इच्छा-शक्ति—का विकास न होने के कारण विद्यार्थी का व्यक्तित्व-विकास कुण्ठित हो जाता है। इस शिक्षा-पद्धति से बुद्धि-वृत्ति का विकास होने की बात कही तो जाती है, किन्तु इससे गुलामी की मनोवृत्ति को भी कम प्रश्रय नहीं मिलता।"

इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षा-प्राप्त युवकों को जब पढ़ाई-लिखाई के बाद जीवन-संग्राम में उतरना पड़ता है, तब वे उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त साबित होते हैं। दूसरी ओर, जो युवक विद्यालय की शिक्षा में असफल होते हैं और जिन्हें शिक्षकगण कुंदबुद्धि कहते हैं, वे

अधिकांशतः जीवन-संघर्ष में कृतकार्य होते हैं। जीवन-संघर्ष में उनके मस्तिष्क और अन्यान्य वृत्तियों का विकास होता है। वे लोग उद्योगी और अभिक्रमी होना सीखते हैं। वही लोग जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं। दूसरी ओर जो लोग विद्यालय में विजयी होते हैं, वे जीवन-संग्राम में पराजित होते हैं। इसलिए इस शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता राष्ट्रीय शिक्षा में रुचि लेनेवाले सभी लोग तीव्रता-पूर्वक अनुभव कर रहे थे। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षा के संबंध में एक महान् क्रांतिकारी विचार ३१ जुलाई, १९३७ की 'हरिजन' पत्रिका में प्रकाशित किया।

बुनियादी की प्रथम झाँकी

उन्होंने घोषणा की : "शिक्षा का अर्थ मैं यही समझता हूँ कि बालक के शरीर, मन और आत्मा में जो कुछ उत्तम है, वह प्रकाश में लाया जाय। अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का लक्ष्य है और न शिक्षा का आरम्भ ही। जिन सब उपायों से मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है, वह उन्हींमें से एक है। अक्षर-ज्ञान अपने-आपमें कोई शिक्षा ही नहीं है। अतः मैं बालक-बालिकाओं को कोई उपयोगी हस्तशिल्प (Useful handicraft) सिखाते-सिखाते उसके माध्यम से उनकी शिक्षा आरम्भ करना चाहता हूँ। इसके अलावा मैं चाहता हूँ कि जिस समय से उनकी शिक्षा आरम्भ हो, उसी समय से वे कुछ उत्पादन भी कर सकें। तब राष्ट्र को विद्यालयों में उत्पादित वस्तुओं को खरीदने का दायित्व ग्रहण करना होगा!

"मेरा खयाल है कि ऐसी शिक्षा-प्रणाली द्वारा मन और आत्मा का अधिकतम विकास संभव होगा। किन्तु आजकल की भाँति, केवल यन्त्रवत् हस्तशिल्प की शिक्षा देने से काम नहीं चलेगा। यह शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से देनी होगी, अर्थात् बालकों को प्रत्येक प्रक्रिया का 'क्यों और किस तरह' जानना होगा।

"प्राथमिक शिक्षा पर मैं सबसे अधिक बल दे रहा हूँ। मेरी कल्पित प्राथमिक शिक्षा, अंग्रेजी छोड़कर, मैट्रिकुलेशन के स्तर तक की ही होगी।

उनकी कल्पना की नवीन शिक्षा-प्रणाली के प्रधान सिद्धान्त ये हैं :

१. समस्त शिक्षा किसी उपयोगी हस्तशिल्प (Useful handicraft) के माध्यम से दी जायगी। (यहाँ 'उपयोगी हस्तशिल्प' का अर्थ एक ऐसा हस्तशिल्प है, जिससे जीवनोपयोगी किसी वस्तु का उत्पादन हो सके।)

२. उक्त शिल्प की उत्पादित वस्तुओं से विद्यालय का संचालन-व्यय पूरा होगा।

३. प्राथमिक शिक्षा, अंग्रेजी के अलावा, मैट्रिकुलेशन के बराबर होगी।[१]

उच्च शिक्षा या कॉलेज की शिक्षा के सम्बन्ध में भी उन्होंने एक क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखा। उनका प्रस्ताव था कि मेकैनिकल एवं अन्यान्य इञ्जीनियरिंग-उपाधियों के लिए शिक्षा-व्यवस्था सम्बद्ध शिल्प-प्रतिष्ठान ही करेंगे और उसका आवश्यक खर्च भी वही सहन करेंगे। टाटा के कारखाने के लिए इंजीनियरों की आवश्यकता होती है। इसके लिए उन्हें स्वयं एक इंजीनियरिंग कॉलेज खोलना चाहिए। इसी तरह अन्य कारखानों और संस्थाओं को अपनी आवश्यकता के अनुसार वाणिज्य आदि विषयों की स्नातक शिक्षा के लिए कॉलेज खोलने चाहिए। कला के स्नातकों के लिए प्राइवेट कॉलेजों से ही काम चल जायगा। कृषि-कॉलेज

---

१. इस विवरण द्वारा प्राथमिक अथवा बुनियादी शिक्षा का स्वरूप सम्पूर्ण और ठीक ढंग से प्रकट नहीं होता। कारण उस समय दृष्टान्त देकर संक्षेप में समझने के अलावा कोई उपाय नहीं था। इसलिए महात्मा गांधी ने मोटे तौर पर समझाने के लिए ऐसा कहा था। वास्तव में यह शिक्षा जीवन की शिक्षा है। यह सर्वांङ्गीण एवं परिपूर्ण शिक्षा है, अर्थात् यह शरीर, मन और आत्मा के विषय में परिपूर्ण शिक्षा की सुदृढ़ बुनियाद-स्वरूप होगी। इसका स्वरूप कैसा होगा, इस सम्बन्ध में इस अध्याय के अन्तिम भाग में प्रकाश डाला गया है।

अपने-आपमें ही पूरे होने चाहिए। आजकल की भाँति कृषि-स्नातकों का ज्ञान खोखला नहीं रहना चाहिए।

योजना पर मंथन

बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी गांधीजी की इस योजना की ओर सारे देश का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। कारण, यह योजना नितांत क्रांतिकारी थी। विशेषतः इसके पहले दो सिद्धांत तो क्रांतिकारी थे ही। और इसके ठीक ढंग से कार्यरूप में परिणत किये जाने से प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन सम्भव था। प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन को पहले-पहल बाधाओं और विरोधों का सामना तो करना ही पड़ता है। बुनियादी शिक्षा की योजना के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। पर इसके सम्बन्ध में आपत्ति और विरोध उठने का एक विशेष कारण भी था। जिस ढंग से उन्होंने इस योजना को पहले-पहल देश के समक्ष उपस्थित किया, उसीमें वह कारण निहित था। सत्याग्रह, अहिंसा, असहयोग, खादी, ग्रामोद्योग इत्यादि जो सब क्रांतिकारी योजनाएँ और कार्यक्रम महात्मा गांधी ने देश को दिये, उनमें बुनियादी शिक्षा अन्तिम थी। साधारणतः कोई दार्शनिक, चिंतक या समाज-सुधारक कोई नयी बात देश या समाज के समक्ष उपस्थित करने से पहले युक्ति-तर्क से सम्पन्न बड़े-बड़े प्रबन्ध, थिसिस या ग्रन्थादि लिखकर जनमत तैयार करता है और तब अपनी बात को प्रकाश में लाता है, ताकि जनमत पर किसी प्रकार का दबाव न पड़े। फलतः उस बात के सर्वसाधारण द्वारा ग्रहण किये जाने में सुविधा होती है। किन्तु महात्मा गांधी की कार्य-प्रणाली भिन्न प्रकार की थी। वे अपनी किसी क्रांतिकारी योजना या कार्यक्रम को देश के समक्ष उपस्थित करने से पहले, उसकी पृष्ठभूमि या युक्तियुक्तता का विश्लेषण अथवा व्याख्या करके सम्भावित आपत्ति या विरोध का खण्डन करने के उद्देश्य से थिसिस या ग्रन्थ नहीं लिखते थे। वे एकबारगी ही अपने सिद्धांतों को देश के समक्ष उपस्थित कर देते थे। इससे जनसाधारण प्रथमतः घबड़ा

जाता था। कभी-कभी उसे लोग गलत समझते और उसके प्रतिकूल आलोचना करते। विरोध और आपत्ति तो उठती ही। तब महात्मा गांधी अपनी स्वभावगत अपूर्व नम्रता और धैर्य के साथ समस्त आपत्तियों का खण्डन करते। किन्तु तब भी वे अपनी युक्तियों का अत्यन्त संक्षेप में ही वर्णन करते थे। पर यह काम वे इस ढंग से करते थे कि घोर विरोधियों के हृदय भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। जन-गण के समक्ष विस्तृत विचार और भूमिका रखे बिना वे क्यों अपना सिद्धांत उपस्थित किया करते थे? क्या वे ऐसा समझते थे कि जो सिद्धांत वे उपस्थित करेंगे, उसे देशवासी बिना सोचे-विचारे स्वीकार कर लेंगे? नहीं, ऐसी बात नहीं थी। ऐसा मानना उनके प्रति अन्याय करना होगा। वे सत्यद्रष्टा थे। वे कवि थे। कवि होता है, 'क्रांतदर्शी'। देश के लिए परम कल्यायणप्रद और क्रांतिकारी सिद्धांत इस सत्यद्रष्टा ऋषि के हृदय में स्वयं ही जन्म लिया करते थे। प्रतिभा के कारण वे इन सिद्धांतों के निकट पहुँचते थे। केवल युक्ति के द्वारा वे ये सब सिद्धांत नहीं गढ़ते थे। अतः आरम्भ में केवल युक्ति-प्रयोग से उन्हें समझाना सम्भव नहीं हो सकता था। बुनियादी शिक्षा की बात उनके मन में कैसे आयी, इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है: "इस पत्रिका ('हरिजन') के स्तम्भ में जिस बात पर मैं अपूर्ण रूप से प्रकाश डालने का प्रयास करता आ रहा हूँ, वह आकस्मिक दीप्ति (Flash) के रूप में मेरे हृदय में उद्‌भासित हुई थी। उसकी सचाई दिन-पर-दिन मुझे अधिकाधिक अनुभव हो रही है।" (हरिजन, २-१०-'३७)। अतः उन्होंने अत्यन्त सामान्य भूमिका के साथ उक्त योजना देश के समक्ष उपस्थित कर दी और सारे देश में उस पर आलोचना-समालोचना शुरू हो गयी। रक्षणशील मनोभाववाले शिक्षाविदों द्वारा ही उसकी अधिक कड़ी आलोचना होने लगी।

गांधीजी का स्पष्टीकरण

अब गांधीजी असीम धैर्य के साथ यह समझाने में लग गये कि वर्त-

मान शिक्षा के साथ केवल शारीरीक श्रम को जोड़ देना ही उनका उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य है, एक उपयोगी हस्तशिल्प के माध्यम से बालक-बालिकाओं के समग्र व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास करना। उन्होंने कहा : "मेरी कल्पना का सार यही है कि उसमें जो हस्तशिल्प की शिक्षा दी जायगी, वह केवल उत्पादन के उद्देश्य से दी गयी शिक्षा नहीं होगी। शिक्षार्थी को बुद्धि-वृत्ति के विकास के लिए उसकी शिक्षा दी जायगी।" (हरिजन, ११-९-'३७)। किन्तु इसके बावजूद यह आपत्ति उठायी गयी कि उसमें आक्षरिक ज्ञान (Literacy) की अवहेलना की गयी है। इसके उत्तर में गांधीजी ने कहा : "मैंने जो कुछ लिखा था, उसमें इस तरह की धारणा के लिए कोई कारण नहीं था। मैंने तो यह कहा था कि मेरे कल्पित विद्यालय के छात्रगण हस्तशिल्प-शिक्षण के माध्यम से सब प्रकार का विद्यार्जन करेंगे। आक्षरिक ज्ञान भी उसमें शामिल है। इस योजना में बालकों के हाथ अक्षर लिखने से पहले हस्तयन्त्रों का व्यवहार करना सीखेंगे। अन्यान्य बातें सीखने के साथ-साथ उनकी आँखें अक्षरों और शब्दों को भी पढ़ना और समझना सीखेंगी। उनके कान शब्दों और वाक्यों का अर्थ ग्रहण करेंगे। इसके द्वारा समग्र शिक्षा स्वाभाविक रूप से, आशानुरूप ढंग से, सर्वापेक्षा त्वरित गति से और सबसे कम खर्च में होगी।" (हरिजन, २८-८-'३७)। उनके पास गुमनाम पत्रादि भेजकर भी उनकी शिक्षा-योजना की तीव्र आलोचना की गयी थी। ऐसे ही एक गुमनाम लेख में गांधीजी की कल्पना के विद्यालय के छात्रों की सिंहल के चाय और रबर-बगीचों के अर्धगुलामों के साथ तुलना की गयी। इसके उत्तर में गांधीजी ने लिखा : "मेरे द्वारा कल्पित विद्यालय के छात्रों की सिंहल के बगीचों के अर्धक्रीत दास-बालकों के साथ तुलना करके उक्त लेखक ने स्वयं को ही तिरस्कृत किया है। वे यह भूलते हैं कि सिंहल के रबर-बगीचों के बालकों को छात्र नहीं माना जाता। उनके श्रम को उनकी शिक्षा के अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। मैं जिस विद्यालय की बात कह रहा हूँ, उसमें अंग्रेजी को

छोड़कर शेष सभी विषयों की शिक्षा हाईस्कूल की भाँति ही दी जायगी। इसके अलावा छात्रगण व्यायाम, संगीत और चित्रकारी सीखेंगे। हस्त-शिल्प तो वे सीखेंगे ही। इस प्रकार के विद्यालय को 'कारखाना' कहकर पुकारना सत्य का गला घोटना है। प्रबन्ध-लेखक उसी व्यक्ति की भाँति हैं, जिन्होंने बन्दरों के अतिरिक्त और किसी प्राणी को देखा नहीं और कुछ हद तक मनुष्य की आकृति के साथ बन्दर की आकृति का सादृश्य देखकर मनुष्य की तुलना बन्दर से कर दी।" (हरिजन, १८-९-'३७)। अपनी कल्पना का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा कि वे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को एकीभूत करना चाहते हैं। हाईस्कूल में अंग्रेजी का अधकचरा ज्ञान तथा गणित, इतिहास और भूगोल का छिछला ज्ञान देने के सिवा कुछ नहीं किया जाता। अतः उससे अंग्रेजी को हटाकर सात वर्षों में ही बुनियादी शिक्षा समाप्त की जायगी। इसीलिए ७ से १४ वर्ष की उम्र तक बुनियादी विद्यालय के शिक्षाक्रम का सिद्धांत स्वीकार किया गया है।

हस्तशिल्प के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने से अन्यान्य विषयों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, इसकी व्याख्या उन्होंने अपने एक पत्र में की है। अपने उस पत्र में उन्होंने लिखा है: "यदि कोई बढ़ई मुझे लकड़ी का काम सिखाये, तो मैं केवल यांत्रिक (Mechanical) ढग से ही उसे सीखने का सुयोग पाऊँगा। उसके विभिन्न यन्त्रों का प्रयोग करना भर सीख पाऊँगा। उससे मेरी बुद्धि का कुछ विशेष विकास नहीं होगा। किन्तु जिस व्यक्ति को लकड़ी के काम का वैज्ञानिक ज्ञान है, यदि वह मुझे शिक्षा दे, तो मेरी बुद्धि का विकास होगा। उस स्थिति में मैं एक दक्ष बढ़ई तो बनूँगा ही, इञ्जीनियर भी बन जाऊँगा। ऐसा इसलिए कि वह विशेषज्ञ मुझे गणित भी सिखायेगा। वह मुझे बतायेगा कि विभिन्न प्रकार की लकड़ियों के बीच क्या अन्तर है और वे कहाँ से मँगायी जाती हैं। इस प्रकार भूगोल और कृषि-संबंधी कुछ ज्ञान भी मुझे प्राप्त होगा। वह मुझे यन्त्र का आदर्श चित्रांकन करने की शिक्षा देगा और प्राथमिक

ज्यामिति (रेखागणित) तथा अंकगणित भी सिखायेगा। हस्तशिल्प के साथ बौद्धिक शिक्षा का अनुबन्ध (Co-relation) किस तरह किया जाता है, यह शायद आपको ज्ञात नहीं है। मैं यह बात निश्चय ही स्वीकार करूँगा कि बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ हस्तशिल्प की भी शिक्षा देनी होगी—यह बात मैं बहुत दिनों से कहता आ रहा हूँ और राष्ट्रीय शिक्षा में उसका एक मुख्य स्थान होना उचित है—यह बात भी मैं इतने दिनों से कह रहा हूँ। किन्तु अब मैं कहता हूँ कि मस्तिष्क-विकास के प्रधान उपाय के रूप में हस्तशिल्प का स्थान होना उचित है—मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। कारण, हमारे बच्चों का मस्तिष्क नष्ट हो रहा है। हमारे बच्चे स्कूल से बाहर आने पर कुछ भी करने का मार्ग नहीं पाते। जो शिक्षा शिक्षार्थियों की आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति को उद्रिक्त करती है और उन्हें प्रकाश में लाती है, वही वास्तविक शिक्षा है। यह शिक्षा उनके लिए बेकारी के बीमे का रूप ग्रहण करेगी।

"अनुबन्ध-प्रणाली की शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि काम के माध्यम से (भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि) पाठ्य-विषयों की शिक्षा देने से शिक्षा सजीव होती है। उसके द्वारा शिक्षा किस तरह सजीव हो सकती है, इसे समझ लेना आवश्यक है। बच्चा अपने हाथ से जो कुछ बनायेगा अथवा करेगा, उसके सम्बन्ध में लिखित अथवा मौखिक वर्णन करने के लिए कहे जाने पर, अपने अनुभव के आधार पर कुछ लिखना या कहना उसके लिए सहज होगा। किन्तु जिस चीज के बारे में उसका प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभव नहीं है, उसके सम्बन्ध में लिखने या बोलने के लिए कहे जाने पर वह दूसरों के अनुभवों को दुहराने के लिए बाध्य होगा। वास्तव में यह उसके लिए शिक्षा या ज्ञान नहीं है। यह उसकी स्मरण-शक्ति की परीक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसके बदले यदि प्रत्यक्ष अनुभवों पर भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल इत्यादि का ज्ञान आधारित हो, तो आगे चलकर उसके चिन्तन में स्पष्टता आयेगी और गलती होने की सम्भावना कम रहेगी। स्मरण-

शक्ति की दृष्टि से भी, प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित ज्ञान को याद रखना सहज होगा; क्योंकि उसमें स्मृति के आधार के लिए जिस संयोग (Association) की आवश्यकता होती है, वह विशेष रूप से विद्यमान रहेगा। वह संयोग है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव। अतएव हस्तकर्म को केन्द्र बनाकर शिक्षा-दान करने से बालक केवल कोई आवश्यक शिल्प-शिक्षा ही प्राप्त करेगा, ऐसी बात नहीं है। इसके साथ-साथ उसे अनुबन्धयुक्त विभिन्न विषयों का सजीव ज्ञान भी होगा।"

युक्तियों और तर्कों के सहारे आलोचकों के सन्देह-निराकरण की अपेक्षा, प्रयोग के द्वारा सफलता दिखाकर लोगों का संशय दूर करने पर गांधीजी विशेष जोर देते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी योजना को शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ करने की ओर ध्यान दिया। यदि कोई योजना किसी स्थान-विशेष पर प्रयोग में लाकर आंशिक सफलता भी प्राप्त की जाय, तो वह सौ युक्तियों और सौ बार समझाने से कहीं अधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है। भूदान-यज्ञ और ग्रामदान-आन्दोलन के क्षेत्र में ऐसा देखा गया है। यदि चालीस लाख एकड़ भूमिदान और तीन हजार से भी अधिक ग्रामदान प्राप्त नहीं होता, तो 'येलवाल सर्वदलीय ग्रामदान-सम्मेलन' सम्भव नहीं होता और देश के नेतागण भी सर्वसम्मति से ग्रामदान-आन्दोलन का समर्थन करके उसे सफल बनाने के लिए अपील नहीं करते। विभिन्न प्रकार से देश में सर्वत्र प्रचार किये जाने से भी यह स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती थी।

प्रथम सम्मेलन

वर्धा के नवभारत विद्यालय (पूर्वनाम मारवाड़ी विद्यालय) का रजत-जयन्ती-समारोह हो रहा था। इस अवसर पर उसके संचालकों ने गांधीजी की बुनियादी शिक्षा-योजना के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के लिए राष्ट्रीय विचारों के शिक्षाविदों का एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। विद्यालय के मुख्य संचालक श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल

ने महात्मा गांधी के समक्ष इस शिक्षा-सम्मेलन का प्रस्ताव उपस्थित किया और उनसे अनुरोध किया कि वे इस सम्मेलन का सभापतित्व ग्रहण करें। गांधीजी ने दोनों ही बातें स्वीकार कर लीं। इस प्रकार सन् १९३७ की २२ और २३ अक्तूबर को वर्धा में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन केवल निमंत्रित व्यक्तियों तक ही सीमित रखा गया। विभिन्न प्रदेशों में जो लोग राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में उद्योगी और आग्रहशील थे, वे इस सम्मेलन में प्रतिनिधि बनकर आये। इसके अलावा, जिन सात प्रदेशों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ था, वहाँ के शिक्षा-मन्त्रियों ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन के सभापति महात्मा गांधी ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना सम्मेलन के समक्ष उपस्थित की। इस सम्बन्ध में सम्मेलन में उन्होंने जो नयी बातें कहीं और जिन्हें उन्होंने प्रस्तावित किया, वे ये थीं: (१) प्राथमिक शिक्षा (अंग्रेजी छोड़कर मैट्रिकुलेशन-स्तर तक) का समय अन्ततः ७ वर्ष होना चाहिए। (२) बुनियादी शिल्पों के माध्यम से बच्चों को शिक्षा देने के क्रम में तैयार होनेवाले सामान से शिक्षा का खर्च पूरा करने की जो योजना है, उसमें केवल शिक्षकों का वेतन शामिल होगा। जमीन, मकान और अन्य सामान आदि का खर्च उसमें शामिल नहीं होगा। (३) बुनियादी शिल्प के रूप में तकली को काम में लाना समीचीन होगा, क्योंकि वस्त्र-उद्योग के शिक्षण की व्यवस्था देश में सर्वत्र की जा सकेगी। इसके अलावा तकली बहुत सस्ती भी है। देश की वर्तमान शोचनीय स्थिति की विवेचना करने पर समस्या के समाधान का एकमात्र व्यावहारिक उपाय तकली ही निकलता है। (४) यह योजना देखने में नयी भले लगे, पर इस विचार से वे (महात्मा गांधी) बहुत पहले से परिचित हैं। दक्षिण अफ्रीका में निवास करते समय 'टाल्स्टाय फार्म' में उन्होंने अपने पुत्रों को बढ़ईगिरी और जूता बनाने के काम के माध्यम से ही शिक्षा दी थी। श्री केलन बक से उन्होंने जूता बनाने का काम सीखा था। (५) उनकी योजना में प्राथमिक और उच्च (कॉलेज की)

दोनों ही प्रकार की शिक्षाओं को स्थान अवश्य प्राप्त है, पर प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल देना होगा।

आर्थिक स्वावलंबन पर आपत्ति

सम्मेलन में इस योजना के सम्बन्ध में जो विचार-विमर्श हुआ, वह बहुत ही गम्भीरतापूर्ण था। इस बारे में सब लोग एकमत थे कि अंग्रेजी को बाद देकर माध्यमिक शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के साथ अन्तर्भुक्त कर दिया जाय और सम्पूर्ण शिक्षा किसी उत्पादक हस्तशिल्प के माध्यम से दी जाय। किन्तु शिक्षार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से शिक्षा का खर्च पूरा करने के प्रश्न के बारे में आपत्ति उठायी गयी और उस पर खूब वाद-विवाद हुआ। यह विरोध इतना प्रबल था कि केवल शिक्षकों के वेतन का खर्च निकालने-सम्बन्धी महात्मा गांधी के संशोधित प्रस्ताव पर भी सब लोग एकमत नहीं हो सके। अतएव सम्मेलन में इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसकी भाषा बड़ी ही सतर्कतापूर्ण रखी गयी। यह प्रस्ताव था : "यह सम्मेलन आशा करता है कि इस शिक्षा-व्यवस्था के द्वारा शनैः-शनैः शिक्षकों का वेतन-व्यय पूरा किया जा सकेगा।" 'आशा करता है' और 'शनैः-शनैः' शब्दों के द्वारा सम्मेलन की सतर्कता व्यक्त होती है। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने अपने 'हरिजन' पत्र में यह मन्तव्य व्यक्त किया कि सम्मेलन को अँधेरे में टटोलना पड़ा है। कारण, सामने कोई परिपूर्ण उदाहरण नहीं था। इसी कारण सम्मेलन को ऐसा सतर्कतापूर्ण सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा। जो हो, यदि यह विचार गलत नहीं होगा, तो प्रयोग के द्वारा इसे समझा जा सकेगा। अतएव जिन लोगों का स्वावलम्बी शिक्षा-व्यवस्था में विश्वास है, उन्हें इस आदर्श के अनुरूप विद्यालयों का संचालन करके अभीष्ट फल का प्रदर्शन करना होगा। सम्मेलन ने योजना के अन्यान्य अंशों का पूर्ण विश्वास के साथ समर्थन किया। जैसे, सम्मेलन ने यह विचार व्यक्त किया कि (१) देश में सर्वत्र सात वर्षों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था

की जाय; (२) मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाय और (३) सात वर्षों में जो कुछ शिक्षा दी जाय, वह किसी उत्पादक हस्तशिल्प के माध्यम से—बालक-बालिकाओं में अन्य जिन गुणों का विकास किया जाय या उन्हें और जो कुछ शिक्षा दी जाय, वह उनके आसपास के वातावरण के अनुकूल हो।

यहाँ एक बात की चर्चा करने की आवश्यकता है। सम्मेलन में डॉ० जाकिर हुसेन ने अपने भाषण में कहा था कि महात्मा गांधी ने काम के माध्यम से शिक्षा-दान की जो कल्पना प्रस्तुत की है, वह नवीन नहीं है। उन्होंने कहा : "वे जानते हैं कि काम के माध्यम से वास्तविक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। वे यह भी जानते हैं कि चाहे नागरिक सभ्यता में विश्वास हो या ग्रामीण सभ्यता में, हिंसा में विश्वास हो या अहिंसा में, केवल काम के माध्यम से ही विभिन्न विषयों की शिक्षा देना उचित है।" उन्होंने यह भी कहा कि काम के माध्यम से शिक्षा-दान की प्रणाली को अमेरिका में 'प्रोजेक्ट मेथड' (Project Method) और रूस में 'काम्प्लेक्स मेथड' (Complex Method) कहा जाता है। विनोबाजी ने सम्मेलन में अपने भाषण में डॉ० जाकिर हुसेन के इस विचार का उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि हस्तकर्म के माध्यम से शिक्षा-दान की कल्पना नयी तो नहीं है, परन्तु महात्मा गांधी ने उसे एक नवीन आलोक में प्रस्तुत किया है।

पाठ्यक्रम समिति

महात्मा गांधी अपनी नयी पद्धति का यथाशीघ्र प्रयोग करना चाहते थे। इसीलिए सम्मेलन के प्रधान आयोजक श्री श्रीमन्नारायण के 'एण्टेरिक फीवर' (आंत्रिक ज्वर) से पीड़ित होने के बावजूद सम्मेलन को स्थगित कर देने का प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त बहुत दिनों तक मौन धारण कर उन्होंने सम्मेलन के लिए शक्ति-संचय किया। शीघ्रातिशीघ्र प्रयोग का काम आरम्भ करने के लिए वे किस तरह आग्रह-

शील बने हुए थे, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। सम्मेलन में उन्होंने अपना जो समारोप-भाषण किया, उसमें सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के आधार पर विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए उन्होंने एक समिति संगठित करने का प्रस्ताव रखा। तदनुसार ही, विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए डॉ० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में दस व्यक्तियों की एक समिति बनायी गयी और उससे कहा गया कि एक महीने के भीतर वह अपनी रिपोर्ट सम्मेलन के अध्यक्ष महात्मा गांधी को दे। समिति के सदस्य निम्न व्यक्ति थे: (१) डॉ० जाकिर हुसेन (अध्यक्ष), (२) श्री आर्यनायकम् (संयोजक), (३) श्री ख्वाजा गुलाम सैयदीन, (४) आचार्य विनोबा भावे, (५) श्री काकासाहब कालेलकर, (६) श्री किशोरलाल मशरूवाला, (७) श्री जे० सी० कुमारप्पा, (८) श्री श्रीकृष्णदास जाजू, (९) श्री के० टी० शाह और (१०) श्रीमती आशादेवी।

डॉ० जाकिर हुसेन कौन हैं, यह जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक है। वे देश के एक प्रमुख शिक्षाविद् हैं। इस समय वे बिहार-राज्य के राज्यपाल हैं। पहले वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उप-कुलपति थे। सन् १९२० के असहयोग और खिलाफत-आन्दोलन के समय उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर उस सरकारी शिक्षा-संस्था से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और दिल्ली में 'जामिया मिलिया इस्लामिया' नामक एक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था की स्थापना की। यह संस्था आगे चलकर देश की एक प्रमुख शिक्षा-संस्था में परिणत हुई। डॉ० जाकिर हुसेन इसके अध्यक्ष थे। इस संस्था को विकसित करने में उन्हें अनेक कष्टों और असुविधाओं का सामना करना पड़ा था। राष्ट्रीय शिक्षा की उन्नति के लिए उन्होंने बड़ी तपस्या और त्याग किये।

सन् १९३८ के फरवरी मास में समिति ने सम्मेलन के सभापति महात्मा गांधी के समक्ष अपनी रिपोर्ट पेश की। महात्मा गांधी ने समिति द्वारा निर्णीत योजना और पाठ्यक्रम का अनुमोदन किया और विचार-

विमर्श के लिए उसे कांग्रेस-कार्यसमिति के समक्ष उपस्थित किया। सन् १९३८ के मार्च मास में कांग्रेस के हरिपुरा-अधिवेशन में उक्त बुनियादी शिक्षा-योजना को राष्ट्रीय शिक्षा-कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया गया और इस संबंध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ :

तालीमी संघ का गठन

"कांग्रेस सन् १९०६ से लगातार राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता पर बल देती आ रही है। असहयोग-आन्दोलन के समय कांग्रेस के विचार के अनुसार अनेक राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित हुई हैं। जनसाधारण की शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था हो, इसे कांग्रेस सर्वाधिक आवश्यक मानती है। कांग्रेस का यह मत है कि देश की जनता के लिए जिस शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, उसीकी पद्धति, विषय और लक्ष्य पर अन्त तक सब प्रकार की राष्ट्रीय उन्नति निर्भर करती है। प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था असफल रही है, यह स्पष्ट है। इसका लक्ष्य धुँधला हो गया है। यह शिक्षा थोड़े-से लोगों तक सीमित है। फलतः देश के अधिकांश लोगों को निरक्षर रहना पड़ता है। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा का नये आधार और देश-व्यापी पैमाने पर विकास होना अत्यावश्यक है। कांग्रेस को अब सेवा का नया सुयोग मिला है। सरकारी शिक्षा पर प्रभाव-वृद्धि करने और उसे नियंत्रित करने का अधिकार भी सरकार को प्राप्त हुआ है। इसलिए इस बात का निर्णय किये जाने की आवश्यकता है कि राष्ट्रीय शिक्षा किस नीति के आधार पर संचालित होनी चाहिए और उसे कार्य-रूप देने के लिए किस उपाय का सहारा लेना चाहिए। कांग्रेस का यही मत है कि प्राथमिक और माध्यमिक स्तर निम्नलिखित नीति के अनुसार बुनियादी शिक्षा (Basic Education) प्रदान की जानी चाहिए।

"(१) देश में सर्वत्र बालक-बालिकाओं के लिए सप्तवर्षीय निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी।

"(२) मातृभाषा अनिवार्यतः शिक्षा-प्राप्ति का माध्यम होगी।

"(३) इन सात वर्षों में किसी उत्पादक हस्तशिल्प को केन्द्र बनाकर शिक्षा देनी होगी। शिक्षार्थियों के आसपास के वातावरण को दृष्टिगत रखकर उक्त मध्यवर्ती हस्तशिल्प का चुनाव करना होगा और उसके साथ अन्यान्य कार्यक्रमों और शिक्षण का समन्वय करना होगा।

"अतएव कांग्रेस, शिक्षा के बुनियादी भाग के परिचालन के लिए, यह आवश्यक समझती है कि एक अखिल भारतीय शिक्षा-बोर्ड का गठन किया जाय। महात्मा गांधी के नेतृत्व में और उनके परामर्शानुसार उक्त बोर्ड का गठन करने का दायित्व डॉ० जाकिर हुसेन और श्री ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम् को सौंपा जाता है। उक्त बोर्ड बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम पूरी तरह कार्यान्वित करेगा और सरकारी तथा गैर-सरकारी शिक्षा-अधिकारियों द्वारा उसके अनुमोदन के लिए सिफारिश करेगा।

"अपने संगठन, अर्थ-संग्रह और उद्देश्य-सिद्धि के लिए जो कुछ कार्य किये जाने की आवश्यकता होगी, उन्हें करने की क्षमता उस बोर्ड में होगी।"

तदनुसार ही, उन्होंने सन् १९३८ के अप्रैल मास में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' का गठन किया। इस संस्था का प्रधान कार्यालय सेवाग्राम में रखा गया।

बुनियादी के खास अंगों पर प्रकाश

जाकिर हुसेन-समिति की रिपोर्ट की कुछ प्रमुख बातों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। इनसे महात्मा गांधी द्वारा कल्पित शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता और श्रेष्ठता का सम्यक् रूप से पता चलता है। समिति ने सूत कातने और वस्त्र बुनने के सम्बन्ध में एक उपयुक्त पाठ्यक्रम तैयार किया। समयाभाव के कारण अन्य किसी हस्तशिल्प का शिक्षा-क्रम वह तैयार न कर सकी। बाद में उसने विभिन्न श्रेणियों के पाठ्यक्रम और कृषि, बागवानी तथा बढ़ईगिरी के सम्बन्ध में उपयुक्त पाठ्यक्रम तैयार किये। इन शिल्पों के अतिरिक्त उसने खिलौने बनाने, चमड़े का काम और कागज तैयार करने के काम की भी शिल्प के रूप में सिफारिश की

और कहा कि अन्य जो भी शिल्प स्थान-विशेष के लिए उपयोगी हों, उन्हें बुनियादी हस्तशिल्प के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

समिति की रिपोर्ट में भारत की वर्तमान प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विषय में जो मन्तव्य व्यक्त किया गया, वह बहुत ही मूल्यवान् है। उसमें कहा गया कि भारत की शिक्षा-प्रणाली की प्रायः सब लोग निन्दा करते हैं, क्योंकि वह राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ नहीं है। इसके साथ ही, वह राष्ट्रीय शक्ति और आशा-आकांक्षा को सही मार्ग पर अग्रसर करने में अक्षम है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो द्रुत और सुदूरव्यापी परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी दृष्टि से भी वह पूर्णतः अनुपयोगी है। फिर कोई सजीव और रचनात्मक आदर्श भी उसमें नहीं है। देश की शिक्षा-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जो शोषण और हिंसा पर आधारित वर्तमान प्रतियोगितामूलक एवं मानवता-विरोधी व्यवस्था के बदले में एक सहयोगी और मानवतामूलक व्यवस्था की प्रतिष्ठापना में सहायक सिद्ध हो। किंतु वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में वैसी कोई कल्पना ही नहीं है।

समिति का सुनिश्चित अभिमत यही था कि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में इस प्रकार परिवर्तन करना होगा कि वह पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के अनुरूप न हो जाय। इसके विपरीत वह पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से पूर्णतः भिन्न प्रकार की हो, क्योंकि भारत ने सर्वांगीण स्वाधीनता और शांति के उपाय के रूप में अहिंसा का मार्ग चुना है। पाश्चात्य देशों का मार्ग भिन्न प्रकार का है। ऐसी स्थिति में इस देश के कोमलमति बालकों और बालिकाओं को अहिंसा की श्रेष्ठता और हिंसा की हीनता के सम्बन्ध में शिक्षा देना अति आवश्यक है।

शिल्प-शिक्षा के स्थान के सम्बन्ध में समिति ने यह विचार व्यक्त किया कि शिक्षा-संबंधी आधुनिक चिंतन-धारा उत्पादक हस्त-शिल्प के माध्यम से शिक्षा-दान करने के पक्ष में विशेष रूप से है। कारण, इसके

द्वारा ही अखण्ड और सर्वांगीण शिक्षा-लाभ सम्भव है। समिति ने विभिन्न दृष्टियों से इस नवीन पद्धति की श्रेष्ठता की व्याख्या की। उसने कहा :

(१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस शिक्षा-प्रणाली को ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि केवल किताबी और काल्पनिक शिक्षा के अत्याचारों से यह विद्यार्थियों की रक्षा करेगी। यह बौद्धिक और व्यावहारिक शिक्षा के बीच संतुलन लायेगी और उन्हें समन्वित करेगी। इस शिक्षा के द्वारा रचनात्मक उद्देश्य से हाथ और बुद्धि के सद्व्यवहार की स्वाभाविक सामर्थ्य प्राप्त होती है। यह शिक्षा केवल निरर्थक विद्वता, अर्थात् छपी हुई पुस्तकें पढ़ सकने तक ही सीमित नहीं है। इससे समग्र व्यक्तित्व का शिक्षण (Literacy of the whole personality) प्राप्त होता है।

(२) सामाजिक दृष्टि से इस शिक्षा-प्रणाली की उपयोगिता यही है कि इस शिक्षा-व्यवस्था में उत्पादक श्रम के कार्यों को स्थान मिलने के कारण समस्त देश के बच्चों को उत्पादक शरीर-श्रम के कार्य करने होंगे। इसके फलस्वरूप, शारीरिक श्रम करनेवालों और बुद्धिजीवियों के बीच का भेद-भाव का कुसंस्कार दूर होगा। यह सामाजिक समता की स्थापना में विशेष रूप से सहायक होगी। शारीरिक श्रम का मान बढ़ेगा और समाज में एकरसता आयेगी। इसके नैतिक परिणाम असीम होंगे।

(३) आर्थिक दृष्टि से देखें, तो प्रकट होगा कि हमारे देश में जो लोग धन-उत्पादन करते हैं, उनकी उत्पादन-क्षमता इस शिक्षा के कारण बढ़ेगी। वे लोग अपने अवकाश के समय का सदुपयोग कर सकेंगे।

(४) विशुद्ध शिक्षा की दृष्टि से भी यह शिक्षा विद्यार्थियों द्वारा अर्जित किये जानेवाले ज्ञान में वास्तविकता लायेगी। वास्तविक जीवन के साथ शिक्षा का सम्पर्क स्थापित होगा। ज्ञान की विभिन्न दिशाओं के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित होगा।

किन्तु ये सब गुण पूरी तरह प्राप्त करने के लिए ऐसा बुनियादी शिल्प चुनने की आवश्यकता है, जिसमें सभी प्रकार के शिक्षण के लिए पूरी सम्भावनाएँ हों। अर्थात्, मनुष्य की विभिन्न कर्म-चेष्टाओं और

मनुष्य के लिए आकर्षक विभिन्न विषयों के साथ जिसका सम्बन्ध हो और जो विद्यालय के निर्धारित समस्त पाठ्यक्रमों में लागू हो सके। दूसरी बात, यह समझना होगा कि यन्त्रवत् (Mechanically) शिल्प-शिक्षा के द्वारा इसका उद्देश्य किंचित्-मात्र भी सफल नहीं होगा। मूल-उद्योग के द्वारा इस प्रकार शिक्षा देनी होगी कि उसे सिखाने की प्रक्रिया के अनन्तर पाठ्यक्रम के सभी विषय आ जायँ, अर्थात् उसे परिपूर्ण बुद्धिपूर्वक (Intelligently) सीखना होगा। यदि इन दो शर्तों का पूरी तरह पालन किया जाय, तो शिल्प के माध्यम से शिक्षा-लाभ का सुफल प्राप्त होगा। अन्यथा, यन्त्रवत् शिल्प-शिक्षा अन्यान्य पाठ्यक्रमों के साथ एक और विषय जोड़ देना ही साबित होगी।

समिति ने इस शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श करने के उपरान्त यह मत व्यक्त किया कि इस शिक्षा-योजना में स्वाभाविक नागरिकता का आदर्श निहित है। इस शिक्षा-पद्धति के अनुसार जो लोग शिक्षित होंगे, वे नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में समर्थ होंगे। यह शिक्षा-पद्धति उन्हें परावलम्बी और शोषक होने की ग्लानि से मुक्त करके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रकृत गणतन्त्र का पाठ सिखायेगी।

इस शिक्षा-व्यवस्था में स्वावलम्बन कहाँ तक सम्भव है, इस सम्बन्ध में भी समिति ने विचार किया। समिति ने यह मत व्यक्त किया कि यह शिक्षा-व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः स्वावलम्बी न होते हुए भी शिक्षा-नीति और राष्ट्रीय पुनर्गठन के एक अनिवार्य उपाय के रूप में पूर्णतः उपयुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर, यह भी निश्चित है कि शिक्षा-दान की इस प्रक्रिया में इतनी आमदनी हो जायगी, जिससे विद्यालय के संचालन-व्यय का अधिकांश पूरा किया जा सके। समिति ने सूत-कताई और वस्त्र-बुनाई की जो विस्तृत पाठ्य-सूची तैयार की, उसमें आय का हिसाब करके यह दिखाया कि विद्यालय के संचालन-व्यय का अधिकांश

इसके द्वारा पूरा किया जा सकेगा। तब, यह आवश्यक है कि सरकार विद्यालयों में उत्पादित वस्तुओं को खरीदने का दायित्व ग्रहण करे। महात्मा गांधी ने भी यही बात कही थी।

प्रयोग की आवश्यकता

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ पर स्थापना के बाद ही बुनियादी शिक्षा-योजना को शीघ्र कार्य-रूप में परिणत करने का भार आ पड़ा। देश के सभी बालक-बालिकाओं को इस नवीन पद्धति के अनुसार शिक्षित करना बुनियादी शिक्षा-योजना का लक्ष्य है। किन्तु देश के सात लाख ग्रामों में अविलम्ब इसकी व्यवस्था करना और सब लोगों द्वारा इसे ग्रहण करवाना क्या सम्भव है? इस बात को ध्यान में रखकर महात्मा गांधी ने वर्धा-शिक्षा-सम्मेलन में कहा था कि इस योजना को अनिवार्य और सार्वजनिक स्वरूप न देने से देश में सर्वत्र और सब लोगों द्वारा इसे ग्रहण कराना सम्भव नहीं होगा। अतएव पहले प्रयोगशाला में परीक्षण द्वारा इस नवीन पद्धति की सार्थकता की जाँच कर लेना आवश्यक है। उसके बाद इसे अनिवार्य और सार्वजनिक बनाने के लिए दबाव दिया जा सकता है। अतः नवगठित तालीमी संघ आरम्भ में ही इस परीक्षामूलक काम में संलग्न हुआ।

प्रयोग का आरंभ

इस कार्य के संपादन के लिए तालीमी संघ ने सरकारी और गैर-सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से—विशेषतः राष्ट्रीय विद्यालयों और जिन सब प्रदेशों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हुई थी, उनके सरकारी शिक्षा-विभागों से—सहायता देने का अनुरोध किया और वे साग्रह इस दिशा में अग्रसर हुए। पहले-पहल उपयुक्त शिक्षक तैयार करना ही प्रधान कार्य था। फिर नये आदर्श के अनुसार बुनियादी विद्यालयों की स्थापना करके परीक्षणात्मक रूप से उनके संचालन की भी आवश्यकता थी। बिहार, उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के शिक्षा-

मंत्रियों (जो वर्धा-सम्मेलन में उपस्थित थे) ने अपने सरकारी शिक्षा-विभागों के द्वारा परीक्षणात्मक आधार पर बुनियादी तालीम की व्यवस्था की। कश्मीर-राज्य की सरकार ने भी ऐसी ही व्यवस्था की। प्रथम वर्ष में ही पर्याप्त उत्साह दिखाई पड़ा। इन सब प्रादेशिक सरकारों ने बुनियादी तालीम के लिए विशेष अफसर नियुक्त किये। उन्होंने शिक्षा-बोर्डों की भी स्थापना की। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण विद्यालय खोले गये और बुनियादी तालीम के लिए नये विद्यालय स्थापित हुए। कुछ स्थानों पर साधारण प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित किया गया। ज्यों-ज्यों शिक्षकगण अपना प्रशिक्षण समाप्त कर बाहर आने लगे, त्यों-त्यों नये-नये बुनियादी विद्यालय खुलने लगे। विभिन्न प्रदेशों के बहुत से राष्ट्रीय विद्यालयों ने बुनियादी शिक्षा-प्रणाली ग्रहण की। इनमें दिल्ली की जामिया मिलिया इस्लामिया, मद्रास के मछलीपट्टम नामक स्थान की आन्ध्र राष्ट्रीय कला शाला, पूना का तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ और अहमदाबाद का गुजरात विद्यापीठ प्रमुख हैं। इन संस्थाओं ने भी प्रधानतः शिक्षकों के प्रशिक्षण का काम आरम्भ किया। जिन सब क्षेत्रों में नवीन बुनियादी विद्यालय स्थापित हुए, उनमें से दो प्रदेशों के दो घनीभूत क्षेत्रों में जो बुनियादी विद्यालय खोले गये, वे उल्लेखनीय हैं। बिहार में चम्पारण जिले के बेतिया थाने में १० और उड़ीसा में कटक जिले के जयपुर महकमे में १६ बुनियादी विद्यालय खोले गये। इन सब बुनियादी विद्यालयों की स्थापना बिहार और उड़ीसा की सरकारों ने ही की थी। सरकारी और गैर-सरकारी जो प्रशिक्षण-केन्द्र खोले गये, उनमें वर्धा का विद्या-मन्दिर स्कूल ही सर्वप्रथम था। इस बीच सन् १९३८ में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और कश्मीर-राज्य की सरकारों ने अपने-अपने प्रदेश में प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की समस्त शिक्षा-व्यवस्था के पुनर्गठन के बारे में विचार करके रिपोर्ट देने के लिए समितियाँ नियुक्त कीं। इन सब समितियों (प्रादेशिक शिक्षा-पुनर्गठन-समितियों) ने अपनी, रिपोर्टों में बुनि-

यादी शिक्षा-योजना की प्रमुख नीतियों का समर्थन किया। उत्तर प्रदेश और मध्य-प्रदेश की सरकारों ने इन रिपोर्टों को स्वीकार किया। इधर बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों की अभिज्ञता ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, त्यों-त्यों नवीन पद्धति में उनका विश्वास बढ़ने लगा। सन् १९१९ के अक्तूबर मास तक यही स्थिति रही।

पूना सम्मेलन

अब बुनियादी तालीम से सम्बद्ध कार्यकर्ताओं के एक सम्मेलन का आयोजन करके बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किये जाने की आवश्यकता अनुभव की गयी। इसके अनुसार ही, सन् १९३९ के अक्तूबर मास में कश्मीर-सरकार के शिक्षा-विभाग के निर्देशक श्री के० जी० सैयदीन के सभापतित्व में पूना में प्रथम बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन में सभी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किये गये। इन सिद्धान्तों में से निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :

(१) बुनियादी शिक्षकों को ग्रामीण मनोभावों से सम्पन्न करने के लिए हर प्रकार की चेष्टा करनी होगी, ताकि वे ग्रामीण जीवन की विशिष्ट समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझकर उनके समाधान के लिए पूरे हृदय से प्रयत्नशील हों।

(२) ग्रामीण और शहरी स्कूलों के शिक्षकों के लिए अलग-अलग शिक्षा-व्यवस्था न कर, उन्हें एक ही स्कूल में शिक्षा देना उचित होगा। ऐसा होने से वे एक सर्वसाधारण राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्राप्त कर सकेंगे।

(३) बुनियादी ट्रेनिंग स्कूलों और बुनियादी विद्यालयों में कला-शिक्षण की ओर विशेष ध्यान देना और हस्तशिल्प के साथ कला का समन्वय करना उचित है।

(४) प्रथम दो वर्षों के अनुभव से यह प्रकट हुआ है कि अनुबन्ध-

पद्धति के माध्यम से शिक्षा देना सम्भव है और शिक्षा की दृष्टि से यह बहुत ही उपयोगी है।

(५) फिर भी अनुबन्ध-पद्धति को बलपूर्वक काम में लाना उचित नहीं होगा। साथ ही केवल मूल शिल्प के अनुबन्ध में शिक्षा-दान को सीमित रखना भी उचित नहीं होगा। पारिपार्श्विक, प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के अनुबन्ध द्वारा भी शिक्षा-दान किये जाने की आवश्यकता है, क्योंकि इन सब में शिक्षा-दान के लिए उपयोगी बहुत-सी चीजें निहित रहती हैं और इनके द्वारा बालक-बालिकाओं का बुनियादी ज्ञान समृद्ध होता है।

(६) बुनियादी शिक्षा-योजना की शिक्षा-सम्बन्धी सम्भावनाओं को पूरी तरह काम में लाने के उद्देश्य से साधारण शिक्षकों को ही कारीगरी की भी शिक्षा ग्रहण करनी होगी। शिल्प-शिक्षक और साधारण शिक्षक अलग-अलग रहने से बुनियादी शिक्षा का अभीष्ट फल प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होगा।

(७) बुनियादी विद्यालय का मूल उद्योग क्या हो, इसका निश्चय स्थानीय जन-साधारण की जीविका के साधनों पर ध्यान रखकर करना उचित होगा।

(८) छात्र-छात्राओं द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं का कितना भाग कहाँ व्यवहृत किया या बेचा जाय, इसका एक सही अन्दाज होना चाहिए। विद्यालय को कितनी वस्तुओं की आवश्यकता होगी, कितनी वस्तुओं की खपत जन-साधारण में होगी, कितनी वस्तुएँ म्युनिसिपैलिटी, लोकल बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाएँ लेंगी और कितनी वस्तुओं को सरकार लेगी, इसका एक मोटा हिसाब कर रखना उचित है।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के तुरन्त बाद यह सम्मेलन किया गया था। उस समय सभी लोगों के मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि यदि युद्ध की परिस्थिति में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को पदत्याग करना पड़े, तो बुनियादी तालीम की क्या स्थिति होगी? वैसी हालत में गैर-कांग्रेसी

सरकारें उसे किस दृष्टि से देखेंगी ? यदि सरकारी सहयोग मिलना बन्द हो जाय, या कम मिले, तो बुनियादी शिक्षा-योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए क्या किया जायगा ? जो हो, सब लोग सम्मेलन से यही दृढ़ संकल्प लेकर विदा हुए कि कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न आ जाय योजना के अनुसार काम करते जाना होगा। सम्मेलन के अध्यक्ष महोदय ने यह आशा व्यक्त की कि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पदत्याग करने पर भी, सम्बद्ध प्रदेशों की सरकारें बुनियादी शिक्षा-व्यवस्था पर प्रतिबन्ध नहीं लगायेंगी। कारण, किसी भी सुबुद्धि-सम्पन्न सरकार के लिए इस शिक्षा-योजना का विरोध करने का कोई कारण नहीं है।

सरकार की उपेक्षा

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया, पर विभिन्न प्रदेशों की सरकारों ने बुनियादी तालीम का जो कार्य आरम्भ किया था, उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। केवल मद्रास-सरकार ने सन् १९४० के अप्रैल मास में वह बुनियादी ट्रेनिंग स्कूल बन्द कर दिया, जो कोयम्बतूर में खोला गया था। इसके साथ-साथ, मद्रास-प्रदेश में बुनियादी तालीम का जो परीक्षण आरम्भ किया गया था, वह भी बन्द कर दिया गया। अस्तु, दूसरे वर्ष के अन्त तक मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बम्बई और कश्मीर आदि प्रदेशों में सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों द्वारा बुनियादी शिक्षा-व्यवस्था ठीक ढंग से चलायी जा रही थी। उस समय कुल १२ ट्रेनिंग स्कूल, २ ट्रेनिंग कॉलेज, ७ रिफ्रेशर ट्रेनिंग केन्द्र और ५ हजार से अधिक बुनियादी विद्यालय चल रहे थे।

अगले वर्ष (१९४०-४१) से सरकारी प्रयास मन्द पड़ने लगा। मध्य प्रदेश की सरकार ने योजना के अनुसार काम नहीं चलाया। उसने विद्या-मन्दिर ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट बन्द कर दिया। पहले सभी नार्मल स्कूलों को बुनियादी ट्रेनिंग स्कूल में परिणत करने की बात थी। ऐसा नही किया गया। सभी चालू प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालय में परिणत

करने की बात थी। यह भी नहीं किया गया। इतना अवश्य है कि सरकार ने मराठी-अंचल की वर्धा तहसील और हिन्दी-अंचल के सिउनी-क्षेत्र—इन दो घनीभूत इलाकों में परीक्षणात्मक ढंग से बुनियादी शिक्षा चलाने का निश्चय किया। उड़ीसा की सरकार ने सन् १९४१ के फरवरी मास में एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर घोषणा की कि बुनियादी तालीम का परीक्षण-कार्य चलाते रहना इस प्रदेश के हित की दृष्टि से ठीक नहीं होगा। इस प्रदेश में बुनियादी तालीम के संचालन के लिए श्री गोपबन्धु चौधरी की अध्यक्षता में जो गैर-सरकारी शिक्षा-बोर्ड सरकारी प्रयास से गठित हुआ था, वह भंग कर दिया गया और १९४१ के मार्च मास से ट्रेनिंग स्कूलों और बुनियादी विद्यालयों को बन्द कर दिया गया। किन्तु उड़ीसा के नेताओं और कार्यकर्ताओं ने निरुत्साहित न होकर, घनीभूत अंचल में जो बुनियादी विद्यालय चल रहे थे, उन्हें चलाते रहने का निश्चय किया। उस अंचल के जन-साधारण से उन्हें पर्याप्त सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुआ। 'उत्कल मौलिक शिक्षा-परिषद्' नाम की एक संस्था भी स्थापित की गयी। जयपुर-अंचल के १४ में से ७ विद्यालयों का काम गैर-सरकारी तत्त्वावधान में ठीक ढंग से चलने लगा। बम्बई और बिहार की सरकारें योजना के अनुसार काम करती रहीं।

दूसरा सम्मेलन दिल्ली

बुनियादी शिक्षा के तीसरे वर्ष के अन्त में (सन् १९४१ के अप्रैल मास में) जामिया मिलिया इस्लामिया के आह्वान पर दिल्ली के जामिया-नगर में द्वितीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार और कश्मीर की सरकारों तथा कुछ गैर-सरकारी संस्थाओं की ओर से प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अनेक शिक्षाविद् और जनसेवक भी इसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन का उद्घाटन डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने और अध्यक्षता डॉ० जाकिर हुसेन ने की। दो-तीन वर्षों के अनुभव के साथ कार्यकर्तागण इसमें उपस्थित हुए। इसके अलावा,

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के भंग हो जाने के बाद बुनियादी तालीम पर जो संकट आ गया था, वह भी इस बीच समाप्त हो गया था। उड़ीसा में कार्यकर्ताओं और स्थानीय लोगों की स्वावलम्बन-शक्ति के सहारे बुनियादी तालीम का काम आगे बढ़ रहा था। जिन अन्य स्थानों पर सरकार का सहयोग प्राप्त हो रहा था, वह बुनियादी तालीम में अन्तर्भूत उत्कृष्टता के कारण ही था। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी ने जो विचार व्यक्त किये, वे मानो सबके हृदयोद्‌गार ही थे। उन्होंने कहा : "मैं आशा करता हूँ कि सम्मेलन इस निश्चय पर पहुँचेगा कि सरकार की सहायता न लेकर, आत्मनिर्भरशील होने से ही बुनियादी तालीम की योजना अधिक सफल होगी। यदि सरकार सहायता दे, तो उसे ग्रहण करते समय सतर्क रहना आवश्यक है। हमारा परीक्षण-कार्य विशुद्ध होना चाहिए और वह बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त रहना चाहिए।" बुनियादी तालीम के संचालन के क्रम में जो तीन समस्याएँ उपस्थित हुई थीं, उनके सम्बन्ध में सम्मेलन में विचार-विमर्श किया गया। वे समस्याएँ थीं :

(१) बुनियादी तालीम का पाठ्यक्रम, (२) अनुबन्धमूलक शिक्षा-दान का कला-कौशल और (३) शिक्षकों का प्रशिक्षण। सम्मेलन में जो सिद्धान्त स्वीकृत हुए, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह है : "सम्मेलन प्रसन्नता के साथ इस तथ्य को लिपिबद्ध करता है कि जिन सरकारों, स्वायत्त-शासनमूलक प्रतिष्ठानों एवं गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों ने बुनियादी विद्यालयों का संचालन किया है, वे इस बात पर एकमत हैं कि बुनियादी विद्यालयों के छात्रों और छात्राओं के स्वास्थ्य, व्यवहार और बौद्धिक विकास के क्षेत्र में अब तक जो कुछ प्रगति हुई है, वह उत्साहवर्द्धक है। बुनियादी विद्यालयों के छात्र और छात्राएँ अधिकांशतः कर्मठ, प्रफुल्ल और आत्मनिर्भर हैं। उनकी अपने भाव व्यक्त करने की क्षमता में वृद्धि हुई है। उन्हें सहयोगपूर्वक काम करने का अभ्यास हुआ है और सामाजिक कुसंस्कार उनसे दूर होते जा रहे हैं।"

सन् १९४१-४२ में बुनियादी तालीम का कुछ विशेष प्रसार नहीं

हुआ। उड़ीसा के जयपुर-अंचल के ७ विद्यालयों और सेवाग्राम के विद्यालय का दायित्व हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने ग्रहण किया।

बेतिया के प्रयोग का सिंहावलोकन

बिहार प्रदेश के बेतिया के घनीभूत अंचल में जो २७ बुनियादी विद्यालय चल रहे थे, उनमें अद्यावधि क्या फल प्राप्त हुए थे, इस सम्बन्ध में अनुसन्धान और निरूपण करने की व्यवस्था बिहार-सरकार ने की। इस अनुसन्धान के परिणाम बिहार-सरकार की एक प्रेस-विज्ञप्ति में प्रकाशित हुए। संक्षेप में, वे परिणाम ये थे : (१) बुनियादी तालीम के प्रथम फलस्वरूप छात्र-छात्राओं के हस्तशिल्प के काम में दक्षता और निपुणता आना उचित है। इन सब स्कूलों के छात्र-छात्राओं में यह गुण भलीभाँति निखरा है।

(२) दूसरा फल होना चाहिए—शृंखलाबोध अथवा अनुशासन का विकास। इन सब स्कूलों के छात्र-छात्राओं ने काम करते हुए स्वयं ही शृंखला-शिक्षा प्राप्त की है। शृंखला उन पर लादी नहीं गयी है। विद्यालय-भवन में शृंखला रहना अपेक्षाकृत सहज है, किन्तु बाहर यह सहज नहीं है। खेल के मैदान, सभा और अन्यान्य जन-समागम के स्थानों में छात्र-छात्राओं का आचरण प्रकट होता है और यह देखा गया है कि वे बिलकुल ही गोलमाल नहीं करते—कौन कहाँ बैठेगा, इस बात को लेकर उनके बीच किसी तरह का झगड़ा नहीं होता। इससे बुनियादी स्कूलों के छात्र-छात्राओं की अनुशासनबद्धता व्यक्त होती है। यह बात अवश्य देखी गयी है कि कोई-कोई शिक्षक विद्यार्थियों पर अनुशासन लादने की चेष्टा करते हैं। यह बात समाप्त होनी चाहिए। बालक-बालिकाएँ स्वयं अनुशासन-रक्षा करें, इसके लिए उन्हें स्वाधीनता देना उचित है।

(३) बुनियादी तालीम का तीसरा फल होना चाहिए—बुद्धि का विकास। यह एक पश्चाद्पद अंचल है। दो-एक वर्ष में बालक-बालिकाओं

की बुद्धि में जो उन्नति हुई है, वह उत्साहवर्द्धक है। जिन सब बच्चों की बुद्धि मंद थी और जिन्हें कोई बात समझने में बहुत देर लगती थी, वे अब सारे विषय तुरंत समझ लेते हैं।

(४) बुनियादी तालीम का चौथा फल यह होना चाहिए कि बालक-बालिकाएँ चालाक तथा कर्मठ हों। चम्पारण जिले के जिस अंचल में ये विद्यालय अवस्थित हैं, वहाँ के निवासियों के बारे में ऐसी कुख्याति है कि वे बहुत ही आलसी और जड़ प्रकृति के हैं। किन्तु वहाँ के बुनियादी विद्यालयों के बालक-बालिकाओं के स्वभाव में इस तरह की कोई बात नहीं है। शारीरिक और मानसिक, दोनों ही दृष्टियों से वे कर्मठ और उद्यमी हैं।

(५) सुव्यवस्थित और परिपूर्ण ढंग से काम करने का अभ्यास बुनियादी तालीम का पाँचवाँ फल होना चाहिए। इस दृष्टि से वहाँ के छात्र आदर्शानुरूप नहीं बन सके हैं।

(६) छठा फल यह होना चाहिए कि अच्छे काम करने के प्रति बच्चों के मन में आग्रह हो। वे अच्छे कामों में आनन्द अनुभव करें। दो-एक विद्यालयों के द्वितीय वर्ग के छात्रों को हस्तशिल्प के काम में आग्रहशील देखा गया है, किन्तु अन्यान्य स्कूलों के छात्रों में कोई विशेष आग्रह अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है।

(७) बुनियादी तालीम का सातवाँ फल होना चाहिए—कौतूहल-प्रवणता, सहिष्णु प्रकृति का विकास और निरीक्षण-क्षमता। इस सम्बन्ध में विशेष प्रगति नहीं हुई है। शिक्षक छात्रों से प्रश्न करें, इसके बजाय छात्रों में ही अनुसंधान और प्रश्न करने की प्रवृत्ति पैदा की जानी चाहिए। किन्तु शिक्षकगण अब तक प्रश्न पूछने की अपनी आदत त्याग नहीं सके हैं।

(८) बालक-बालिकाएँ अपने सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के प्रति सजग रहें, यह आठवाँ फल होना चाहिए। सामाजिक वातावरण के प्रति उनका ज्ञान बढ़ा है। अब वे अपने गाँव के चारों ओर घटनेवाली

घटनाओं को बुद्धिपूर्वक समझ सकते हैं। किन्तु प्राकृतिक वातावरण के प्रति उनके ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। यह ज्ञान उन्हें होना चाहिए।

(९) नवाँ फल होना चाहिए--सहयोग और सेवा-भाव का विकास। इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है, ऐसा लक्ष्य किया गया है। विद्यार्थीगण विद्यालय में और उसके बाहर आपस में तथा शिक्षकों के साथ सहयोगपूर्वक रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आपस में एक-दूसरे के साथ सहयोग करने और एक-दूसरे की सेवा करने का महत्त्व वे समझने लगे हैं।

साधारण स्कूलों के छात्र-छात्राओं की तुलना में बुनियादी स्कूलों के छात्र और छात्राएँ अधिक साफ-सुथरा रहने की अभ्यस्त होती हैं, यह एक जानी हुई बात है। सभी बुनियादी विद्यालयों में—बेतिया के बुनियादी विद्यालय में भी—यह बात देखी गयी है, किन्तु इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि कई बच्चे निरीक्षण के दिन बिना मुँह धोये ही आये। स्कूलों में एक श्रम-सप्ताह का आयोजन किया गया था। उस सप्ताह में सभी लोगों ने गाँवों में जाकर गंदगी साफ की और कूड़ा-कचरा गड्ढों में डाला। कुओं के पास नाली बनाकर जल-निकासी की व्यवस्था की। ग्राम-सफाई के अन्यान्य कार्य किये गये। इन सब कामों का विवरण छात्रों ने अपनी नोटबुकों में लिखा है।

सुव्यवस्था (Orderliness) का अभ्यास बुनियादी तालीम का एक उप-फल (Bye-product) है। लड़कों को दूसरा कितना अभ्यास हुआ है, इसकी परीक्षा की गयी। विद्यालय की कुछ चीजों को उनके उचित स्थान से हटाकर यहाँ-वहाँ रख दिया गया और छात्रों से पूछा गया कि उन्हें कोई गड़बड़ी दिखाई पड़ती है या नहीं। छात्रों ने गड़बड़ी बतला दी और सब चीजों को यथास्थान रख दिया। किसी-किसी विद्यालय में चीजें रखने-रखाने के मामले में अव्यवस्था अवश्य देखी गयी।

शिक्षा के फलस्वरूप छात्र अपने भावों को भलीभाँति व्यक्त करना

सीखते हैं। ऐसा देखा गया कि साधारण विद्यालयों की अपेक्षा उन बुनियादी विद्यालयों के छात्रों ने अपने भाव अच्छी तरह व्यक्त करना सीखा था। उस अंचल के बच्चे साधारणतः खूब लजीले और भीरु बने रहते हैं। किन्तु बुनियादी विद्यालयों के छात्रों में यह त्रुटि बिलकुल ही नहीं है। बुनियादी तालीम के फलस्वरूप छात्रों के समग्र व्यक्तित्व का विकास होना उचित है। यहाँ यह हो रहा है या नहीं—इस विषय में इतनी जल्दी विचार करना कठिन है। परन्तु अब तक जो फल प्राप्त हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि उनकी शिक्षा अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है।

पटना ट्रेनिंग कॉलेज के अध्यापक श्री यू० सी० चटर्जी ने उन बुनियादी विद्यालयों के सम्बन्ध में एक कौतूहलोद्दीपक और तुलनामूलक परीक्षण किया। बेतिया-अंचल के साधारण प्राथमिक स्कूलों और उस अंचल के बुनियादी स्कूलों में जिन सब छात्रों ने चार वर्ष शिक्षा पायी थी, उन्हें लेकर यह तुलनामूलक परीक्षण किया गया। पढ़ना, लिखना, अंकगणित, सामाजिक विषयों की शिक्षा, साधारण विज्ञान और स्वास्थ्य-नीति, इन कुछ विषयों की परीक्षा लेने पर देखा गया कि साधारण स्कूलों के छात्रों की तुलना में बुनियादी स्कूलों के छात्र कहीं आगे हैं, किन्तु अन्यान्य विषयों में इतनी प्रगति नहीं हुई है। आर्थिक दृष्टि से बुनियादी तालीम की कितनी प्रगति हुई है, इसकी भी परीक्षा की गयी। उन कुछ बुनियादी विद्यालयों में छात्रों ने जिन वस्तुओं का उत्पादन किया था, उनकी कीमत समस्त खर्च निकाल देने के बाद ११२४॥–)॥। है। उन सब विद्यालयों के छात्रों का यही कुल उत्पादन था।

इसके बाद सन् १९४२ का जन-आन्दोलन आरम्भ हुआ। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के २१ सदस्यों में से १५ गिरफ़्तार करके जेल भेज दिये गये। अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों को बन्द कर देना पड़ा। उड़ीसा के बुनियादी विद्यालय भी बन्द हो गये। किन्तु बिहार आदि कुछ प्रदेशों और कश्मीर राज्य की सरकारों की ओर से जो काम चलाया जा रहा

था, वह चलता रहा। जामिया मिलिया इस्लामिया द्वारा संचालित बुनियादी विद्यालय और ट्रेनिंग स्कूल, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा संचालित सेवाग्राम का बुनियादी स्कूल और बुनियादी ट्रेनिंग स्कूल और तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ द्वारा पूना के निकटस्थ संचालित स्कूल—ये सब चलते रहे। परन्तु सरकार-संचालित और गैर-सरकारी परीक्षा-कार्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

आत्मपरीक्षण

सन् १९४२-४४ के जन-आन्दोलन के समय नयी तालीम का बाह्य स्वरूप इस प्रकार संकुचित और बाधाग्रस्त हुआ अवश्य, किन्तु भीतर-ही-भीतर उसके विकास का पथ प्रशस्त हो रहा था। अहिंसा नीरवता में अधिक सक्रिय होती है। नयी तालीम के कार्यकर्ताओं और अन्यान्य जन-सेवकों को जेलों में नयी तालीम के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने का अवसर मिला। जब वे लोग जेल से रिहा हुए, तब नयी तालीम के आदर्शों एवं उद्देश्यों को वे गम्भीर और स्पष्ट रूप से समझ चुके थे और राष्ट्रीय संगठन में नयी तालीम का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा बना चुके थे। उस समय देश के विभिन्न भागों से नयी तालीम के प्रवर्तन के प्रस्ताव भी आने लगे। कस्तूरबा गांधी स्मारक ट्रस्ट ने नयी तालीम को अपनी शिक्षा-नीति के रूप में ग्रहण किया। ट्रस्ट के लिए दान की जो अपील की गयी, उसमें कहा गया कि नयी तालीम का प्रचार करना ट्रस्ट का अन्यतम उद्देश्य होगा। जेल से निकलने के बाद महात्मा गांधी ने ट्रस्ट के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए कहा कि बुनियादी तालीम का प्रचार और प्रचलन उसका एक प्रधान लक्ष्य होगा। इस प्रकार, ग्रामांचलों में बालिकाओं और स्त्रियों के बीच नयी तालीम के प्रसार का मार्ग खुला। सन् १९४२-४३ में बंगाल पर दुर्भिक्ष और महा-मारी का प्रकोप हुआ। इसके फलस्वरूप हजारों शिशु मातृ-पितृहीन होकर निराश्रित बन गये। अखिल भारतीय महिला संघ की शिशु-रक्षा-समिति

(Save the children of India Committee) ने बंगाल के विभिन्न स्थानों में शिशु-सदन खोलकर निराश्रित शिशुओं को आश्रय देने की व्यवस्था की। उसने इन सदनों को नयी तालीम की पद्धति से चलाने का निश्चय किया। बंगाल में अब तक नयी तालीम के प्रवर्तन की कोई व्यवस्था नहीं हुई थी। इस स्थिति में सदनों में नयी तालीम के प्रवर्तन के लिए हिन्दुस्तानी तालीमी संघ से निवेदन किया गया। इसके लिए सन् १९४४ में अस्थायी शिक्षण-केन्द्र खोलकर बंगाल के शिशु-सदनों और तीन अन्य बुनियादी विद्यालयों के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया गया। सेवाग्राम में भी इसके लिए कई शिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया।

जन्म से मृत्यु तक शिक्षा

इस प्रकार सन् १९४२-४३ के जन-आन्दोलन के बाद, एक ओर जिस तरह नयी तालीम का क्षेत्र प्रसारित होने का सुयोग मिला, उसी तरह दूसरी ओर नयी तालीम का अर्थ-विकास करके उसके दृष्टिकोण को विस्तृत किया गया। महात्मा गांधी ने जेल से निकलने के बाद ही नयी तालीम के अर्थ-विकास की बात कही। उन्होंने कहा कि अब हमारा लक्ष्य केवल सात वर्ष से चौदह वर्ष तक के बच्चों को शिक्षा देना नहीं है। उन्होंने कहा : "अब तक हम लोगों ने जितना कुछ प्राप्त किया है, उतने से ही हम सन्तुष्ट नहीं होंगे। हम लोग बच्चों के घरों में भी प्रवेश करेंगे। उनके माता-पिता को भी शिक्षा देंगे। नयी तालीम अक्षरशः जीवनव्यापी शिक्षा होगी।

"मैंने इस बात को भलीभाँति समझा है कि बुनियादी तालीम का क्षेत्र प्रसारित करना होगा। जीवन के प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा बुनियादी तालीम में अन्तर्भुक्त होगी। बुनियादी विद्यालय के शिक्षक अपने को सार्वजनिक शिक्षक मानेंगे। पुरुष हो या स्त्री, युवा हो या वृद्ध, वे जब भी किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आयेंगे, तब यह सोचेंगे कि उसे वे क्या शिक्षा दे सकते हैं। इसके अलावा, हम लोगों को सन्तान-

जन्म के समय से ही उस पर दृष्टि रखनी होगी। मैं तो एक कदम और आगे बढ़कर कहूँगा कि जन्म के पहले से ही भावी शिशु को शिक्षा का कार्य आरम्भ होगा।"

तीसरा सम्मेलन सेवाग्राम

इस प्रकार, नयी तालीम के क्षेत्र-प्रसार के लिए यह निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त देश के नये-नये अंचलों में नयी तालीम के प्रवर्तन या प्रसार के लिए आग्रह जाग्रत हो रहा था। इस स्थिति में, सन् १९४५ के जनवरी मास में, सेवाग्राम में नयी तालीम के तीसरे शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन में महात्मा गांधी ने अपने उद्घाटन-भाषण में कहा : "हम लोगों द्वारा प्रवर्तित शिक्षा नये ढंग की होने के बावजूद अब तक एक उपसागर में सुरक्षित थी। खुले समुद्र की अपेक्षा उपसागर सुरक्षित होता है। उसमें आश्रय की कुछ व्यवस्था होती है। हमारा काम सीमाबद्ध था। अब हम लोग उपसागर से मिलकर खुले समुद्र में प्रविष्ट हो रहे हैं। वहाँ ध्रुवतारा के सिवा हमारा और कोई रक्षक नहीं है। वह ध्रुवतारा है, हस्त-शिल्प। अब केवल ७ से १४ साल तक के बच्चों तक हमारा क्षेत्र नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु तक, आजीवन, हमारा अर्थात् नयी तालीम का क्षेत्र है। इसलिए हमारा काम बहुत बढ़ गया है। किन्तु काम करनेवाले आदमी तो उतने ही हैं।

"लेकिन इसके कारण हमें चिन्तित नहीं होना है। हमारा वास्तविक साथी है, सत्यरूपी ईश्वर। वह कभी हमसे छल नहीं करेगा। जब हम लोग किसी और बात की चिन्ता न कर केवल सत्य पर निर्भर करेंगे, तभी सत्य हमारा वास्तविक साथी हो सकेगा। उसमें आडम्बर को स्थान नहीं है—अहंकार या क्रोध को भी स्थान नहीं है। हम सब ग्रामवासियों के शिक्षक बनना चाह रहे हैं, अर्थात् हम ग्रामवासियों के वास्तविक शिक्षक बनना चाह रहे हैं। उसमें काम ही हमारा पुरस्कार होगा। और, यदि ऐसा हो, तो यह हमारे हृदय का गवाह होगा, बाहर का

नहीं। सत्य के अनुसन्धान में यदि हमें अपना साथी मिल जाय, तो अच्छा—यदि न मिले, तो भी अच्छा।

"नयी तालीम को धन पर निर्भर नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कितनी ही आलोचना क्यों न हो, नयी तालीम का खर्च शिक्षा की आय से ही पूरा किया जाना चाहिए। मैं जानता हूँ कि वास्तविक शिक्षा स्वाश्रयी होती है। इसमें लज्जा नहीं है, किन्तु नवीनता है। यदि हम इसे सफल बना सकें और यह कह सकें कि इससे मन अर्थात् मस्तिष्क की वास्तव में उन्नति हो रही है, तो आज जो लोग इसका मजाक उड़ा रहे हैं, वही उस समय नयी तालीम की प्रशंसा करेंगे और नयी तालीम सर्व-व्यापी हो उठेगी। हमारे सात लाख गाँवों में जो आज घोर दरिद्रता व्याप्त है, वह समाप्त हो जायगी—वे समृद्ध हो उठेंगे। लेकिन यह समृद्धि कहीं बाहर से नहीं आयेगी, भीतर से ही आयेगी—वह हमारे प्रत्येक ग्रामवासी के पवित्र श्रम-आधारित कार्य से आयेगी। यह स्वप्न है या सचमुच का खेल!

"यही नयी तालीम का उद्देश्य है—इससे कम कुछ भी नहीं है। यह उद्देश्य सफल करने के लिए सत्यरूपी ईश्वर हमारा सहायक हो!"

नयी तालीम का क्षेत्र बढ़ा

सम्मेलन ने नयी तालीम का क्षेत्र-प्रसार करके पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को इसमें अन्तर्भुक्त करने की सिफारिश की और तालीमी संघ से अनुरोध किया कि वह एक उपयुक्त समिति की नियुक्ति करके पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और राष्ट्रीय प्रौढ़-शिक्षा के लिए शिक्षा-क्रम निश्चित करे। तदनुसार, अगले महीने (फरवरी १९४५ में) हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की एक विशेष बैठक बुलायी गयी। तालीमी संघ ने सम्मेलन की सिफारिश को स्वीकार करने पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और राष्ट्रीय प्रौढ़-शिक्षा का शिक्षा-क्रम तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। नयी तालीम का क्षेत्र इस प्रकार प्रसारित

किये जाने के कारण संघ के उद्देश्य और लक्ष्य में भी संशोधन किया गया। संघ के उद्देश्य और लक्ष्य का नया रूप यह निश्चित हुआ :

"जीवन के सभी पर्यायों में राष्ट्रीय शिक्षा-योजना को कार्यरूप में परिणत करना हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का उद्देश्य है।

"नव शिक्षा-विचार इतने दिनों तक बुनियादी शिक्षा के रूप में चल रहा था। अब वह नयी तालीम में परिवर्तित होता है।"

स्वावलम्बन पर जोर

सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया था कि कुछ वर्षों से राष्ट्रीय आन्दोलन की स्थिति प्रतिकूल रहने के बावजूद नयी तालीम की प्रगति में कुछ विशेष बाधा नहीं पड़ी है। इसके विपरीत, नयी तालीम सम्बन्धी जनसाधारण के आग्रह में वृद्धि ही हुई है। नयी तालीम में व्यक्तिगत और नागरिक, दोनों ही दृष्टियों से विद्यार्थियों का व्यक्तित्व-विकास देखकर सब लोग सन्तुष्ट हुए हैं और उसमें निहित गुण व्यापक रूप से स्वीकार किये गये हैं। सम्मेलन के प्रस्ताव में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते समय विद्यार्थी इतने परिमाण में उत्पादन करें कि उनकी शिक्षा का संचालन-व्यय पूरा हो सके। इस बात को ध्यान में रखकर नयी तालीम को संगठित किया जाय। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि ग्रामीण लोगों को व्यवहार की चीजों के उत्पादन के माध्यम से शिक्षा-दान की व्यवस्था होने से इस उद्देश्य की सहज ही पूर्ति हो सकेगी। देश के लोगों के उत्पादन की नीति भी ऐसी ही होनी चाहिए। अर्थात् मूलतः अपने अथवा स्थानीय व्यवहार के लिए (बाजार में बिक्री के लिए नहीं) उत्पादन करना चाहिए। तात्पर्य यह कि स्वावलम्बन ही उत्पादन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इससे हमारी अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति आयेगी। एक ओर, शिक्षा-व्यवस्था में क्रान्ति और दूसरी ओर, अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति। युग के अनुसार इन दोनों क्रांन्तियों से ही देश का अभीष्ट-साधना होगा।

सार्जेण्ट योजना

सन् १९३८-३९ में वर्धा-शिक्षा-योजना के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके रिपोर्ट तैयार करने के लिए केन्द्रीय उपदेष्टा शिक्षा-बोर्ड द्वारा दो समितियाँ नियुक्त की गयीं। दोनों ही समितियों ने ६ वर्ष से लेकर १४ वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिए बुनियादी पद्धति से राष्ट्रीय शिक्षा का संगठन करने की सिफारिश की। सन् १९४३ के अन्त में केन्द्रीय उपदेष्टा शिक्षा-बोर्ड ने इन दोनों रिपोर्टों के आधार पर युद्धोत्तरकालीन शिक्षा-व्यवस्था-सम्बन्धी योजना प्रकाशित की। यह योजना 'सार्जेण्ट-योजना' के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के मुख्य सिद्धान्त ये हैं :

(१) ६ वर्ष से १४ वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क सार्वजनिक शिक्षा का यथासम्भव शीघ्र प्रबन्ध करना होगा। यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित शिक्षकों के अभाव के कारण ४० वर्ष से कम समय में इस योजना को पूरी तरह कार्यान्वित करना सम्भव नहीं होगा।

(२) प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा, दोनों ही बुनियादी शिक्षा में अन्तर्भुक्त होंगी। काम के माध्यम से शिक्षा देने की नीति ग्रहण करनी होगी। निम्नतम पर्याय में अन्य कोई भी कर्म-प्रचेष्टा शिक्षा का माध्यम बन सकती है। किन्तु क्रमशः एक मूल उद्योग को ही शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण करना होगा। उसके साथ सामंजस्य रखते हुए ही समस्त पाठ्य-क्रम का निश्चय करना होगा।

इस प्रकार, नयी तालीम की कुछ नीतियों को उसमें स्वीकार किया गया है। किन्तु उसकी एक प्रधान एवं अत्यावश्यक नीति उक्त सार्जेण्ट-योजना में ग्रहण नहीं की गयी। उसमें किसी भी स्थिति में स्वावलम्बन की नीति स्वीकार नहीं की गयी। उसमें कहा गया है कि बालक-बालिकाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचकर शिक्षा का संचालन-व्यय पूरा किया जाय या किया जा सकता है, यह बात नहीं मानी जा सकती।

इतना अवश्य कहा गया है कि बालक-बालिकाओं द्वारा जो वस्तुएँ तैयार की जायँगी, उनसे हस्त-शिल्प के लिए जो अतिरिक्त सामान आदि खरीदने की आवश्यकता होगी, उसका खर्च पूरा किया जा सकता है।

शिल्प-शिक्षा और स्वावलम्बन

अतएव, उपयोगी शिल्प-शिक्षा के माध्यम से शिक्षा-दान की नीति तो ग्रहण की गयी, किन्तु शिक्षा के खर्च के सम्बन्ध में स्वावलम्बन की नीति स्वीकार नहीं की गयी। पर यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। इन दोनों के बीच अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मूल-उद्योग के माध्यम से यदि अन्य सब शिक्षा देने की व्यवस्था होगी, तो विद्यार्थियों द्वारा इतना उत्पादन निश्चय ही होगा, जिससे शिक्षा का संचालन-व्यय पूरा किया जा सके। अन्ततः शिक्षकों के वेतन का खर्च इससे निश्चय ही पूरा किया जा सकता है, यह अनुभव से सिद्ध हो चुका है। शिक्षा के संचालन-व्यय के निर्वाह की दिशा में पर्याप्त उत्पादन हुआ है या नहीं, यह देखने पर प्रकट होगा कि मूल शिल्प की शिक्षाप्रद सम्भावनाओं का पूरी तरह लाभ उठाया गया है या नहीं। अर्थात्, शिक्षा-दान के लिए यदि सब प्रकार के कामों में मूल शिल्प का उपयोग किया जाय, तो शिक्षकों के वेतन के लायक उत्पादन अवश्य ही होगा। यदि ऐसा नहीं होता, तो इसका मतलब है कि शिक्षा-दान के काम में मूल शिल्प का पूरी तरह उपयोग नहीं किया गया। शिल्प के माध्यम से शिक्षा-दान की नीति से स्वावलम्बन के लक्ष्य को हटा देने से शिल्प-शिक्षा तो ठीक नहीं ही होती, शिल्प से सम्बद्ध साधारण शिक्षा भी ठीक नहीं होती।

स्वाधीनता के बाद

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद, विशेषतः पंचवर्षीय योजना-काल में सरकार की ओर से बुनियादी तालीम का प्रशिक्षण और बुनियादी विद्यालयों

की व्यापक व्यवस्था हुई है। राज्य-सरकारों ने बुनियादी तालीम को प्रारम्भिक शिक्षा के आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया है। शिक्षकों का अभाव जितना दूर होगा, उतना ही बुनियादी तालीम के विद्यालय समस्त प्राचीन पद्धति के विद्यालयों का स्थान लेते जायँगे, ऐसी आशा की जाती है। यह भी आशा की जाती है कि समस्त प्राथमिक विद्यालय बुनियादी विद्यालय में परिणत हो जायँगे। किन्तु ये सब बुनियादी विद्यालय सार्जेण्ट-योजना के अनुसार चलाये जा रहे हैं। सारांश यह कि उनमें उत्पादन के सम्बन्ध में स्वावलम्बन की नीति का अनुसरण नहीं किया जाता। इस कारण, इन सब सरकारी बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा के लिए मूल शिल्प का पूरा-पूरा उपयोग किया जा रहा है या नहीं, इसमें सन्देह है।

जन्म के बाद दो वर्ष तक नयी तालीम का परीक्षण-कार्य और प्रसार सरकारी और गैर-सरकारी, दोनों ही पक्षों के परस्पर-सहयोग से चला था। इसके बाद युद्ध छिड़ जाने के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया और यह सहयोग क्रमशः विच्छिन्न होने लगा। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बाहरी सहयोग पुनः प्रतिष्ठित होने अथवा उसका पथ उन्मुक्त होने पर भी भावना की दृष्टि से दोनों पक्षों के बीच एकता का आभास नहीं मिलता। स्वावलम्बन का नीति-सम्बन्धी भेद तो है ही। इसके अतिरिक्त नयी तालीम केवल एक नवीन शिक्षा-पद्धति नहीं है, वह एक नवीन जीवन-विचार है और समाज में मूल्य-परिवर्तन अर्थात् क्रांति लाना उसका अन्तिम लक्ष्य है—यह भावना नयी तालीम के सरकारी संस्करण में प्रतीत नहीं होती। व्यक्तिगत रूप से किसी-किसी शिक्षक और शिक्षिका में यह भावना हो सकती है और है, ऐसी आशा की जाती है। किन्तु समग्र भाव से देखने पर यही प्रकट होता है कि ऐसा दृष्टिकोण अभी तक नहीं आया है।

सेवाग्राम उत्तर-बुनियादी

उत्तर-बुनियादी, पूर्व-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को नयी तालीम

में सम्मिलित करने और उसके लिए शिक्षा-क्रम तैयार करने की जो व्यवस्था की गयी थी, उसके लिए शिक्षा-क्रम भी तैयार किया गया था। सेवाग्राम के बुनियादी स्कूल के जिन विद्यार्थियों ने पहले-पहल सात वर्ष का शिक्षा-क्रम पूरा किया था, उन्हें लेकर सन् १९४७ के मार्च महीने में सेवाग्राम में उत्तर-बुनियादी तालीम आरम्भ की गयी। यह थी १४ विद्यार्थियों और एक शिक्षक की गोष्ठी। उत्तर-बुनियादी में स्वावलम्बन का लक्ष्य है, संतुलित (Balanced) खाद्य, वस्त्र और शिक्षक का पूरा सरंजाम और अन्यान्य संचालन-खर्च के सम्बन्ध में पूर्ण स्वावलम्बन। पढ़ने-लिखने के बारे में उसका लक्ष्य यही है कि विद्यार्थियों को स्वयं अपनी प्रेरणा से पढ़ने और चिन्तन करने का अभ्यास हो। इसके लिए शिक्षक पढ़ाने के बदले विद्यार्थियों को पढ़ने की प्रेरणा देंगे और उनका पथ-प्रदर्शन करेंगे। सेवाग्राम का उत्तर-बुनियादी शिक्षा-क्रम इन्हीं सब नीतियों पर आधारित था। विद्यार्थियों को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के चुने हुए ग्रन्थों का अध्ययन करना होगा और उस ज्ञान को काम में लाने की योग्यता अर्जित करनी होगी। सेवाग्राम में इसी पद्धति से कार्य-संचालन हुआ। वहाँ के विद्यार्थीगण विद्यालय की ओर से एक साप्ताहिक पत्रिका भी प्रकाशित करते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें सरल अंग्रेजी में लिखना, पढ़ना और बातचीत करना सिखाया जाता था। साथ ही ये विषय भी सिखाये जाते थे : (१) गृह-शिल्प के काम, शिल्प के लिए आवश्यक हस्त-यंत्र आदि के सम्बन्ध में यंत्र-शास्त्र का ज्ञान और अन्यान्य वैज्ञानिक तथ्य आदि सम्बन्धी ज्ञान; (२) समाज के स्वास्थ्य, सफाई और उनसे सम्बद्ध विषय-समूह का विवेचन; (३) स्थानीय तथा प्रादेशिक जीवन का समाज-विज्ञान; (४) वर्तमान परिस्थिति के सम्बन्ध में ज्ञान आदि। इसके अतिरिक्त चित्रकला, संगीत और लोक-नृत्य सिखाने का भी प्रबन्ध था। इसी प्रकार बिहार में भी उत्तर-बुनियादी तालीम का प्रयोग आरम्भ किया गया। इस समय देश के और भी १३-१४ स्थानों में उत्तर-बुनियादी तालीम का प्रयोग चल रहा है।

उत्तम बुनियादी

उत्तर-बुनियादी तालीम समाप्त होने पर उत्तीर्ण छात्रों को लेकर नयी तालीम का विश्वविद्यालय आरम्भ करने की बात सोची गयी। जिन लोगों ने उत्तर-बुनियादी शिक्षा समाप्त की, ऐसे आठ व्यक्तियों का एक दल लेकर सेवाग्राम में विश्वविद्यालय के रूप में कार्य आरम्भ किया गया। विनोबाजी ने नयी तालीम की विश्वविद्यालयीय शिक्षा को 'उत्तम बुनियादी' नाम दिया है। नयी तालीम विश्वविद्यालय, अर्थात् उत्तम बुनियादी तालीम समाप्त कर नयी तालीम के स्नातकों का जो प्रथम दल सन् १९५६ में बाहर आया, उसे कांचीपुरम्-सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर आयोजित ग्यारहवें नयी तालीम सम्मेलन में विनोबाजी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इन स्नातकों में से कुछ कोरापुट के ग्रामदानी गाँवों में ग्राम-निर्माण-कार्य कर रहे हैं और कुछ सेवाग्राम और रामचन्द्रपुर में नयी तालीम का काम कर रहे हैं।

पूर्व बुनियादी प्रयोग

पूर्व-बुनियादी तालीम के लिए भी हिन्दुस्तानी तालीम संघ द्वारा नियुक्त समिति ने एक शिक्षा-क्रम तैयार किया। उसके आधार पर सेवा-ग्राम में पूर्व-बुनियादी विद्यालय आरम्भ किया गया। इसके बाद उसका देश के सभी भागों में प्रसार हुआ। उसके शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है। कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट की सेविकाओं ने भी किसी-किसी स्थान में यह काम हाथ में लिया है। विभिन्न स्थानों में हुए प्रयोगों के फलस्वरूप पूर्व-बुनियादी तालीम के लिए एक व्यावहारिक शिक्षा-क्रम तैयार हो रहा है।

इस प्रकार धीरे-धीरे एक-एक पग आगे बढ़कर नयी तालीम बुनि-यादी तालीम से आरम्भ होकर उत्तर-बुनियादी, पूर्व-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा के पर्यायों को पार कर विश्वविद्यालय के स्तर पर पहुँची। इन सबके शिक्षा-क्रमों का प्रयोग सेवाग्राम में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की

प्रत्यक्ष देखरेख में हुआ। इन सबके शिक्षा-क्रमों का प्रयोग पूरा किया जा चुका है। देश के अन्यान्य कई विद्यालयों में भी बुनियादी, पूर्व-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा चल रही है। इस तरह, नयी तालीम के विभिन्न अंगों का एक-एक उदाहरण देश के समक्ष रखा जा चुका है।

नयी तालीम के तपस्वी

नयी तालीम का मंत्र दिया महात्मा गांधी ने। इस मंत्र को सिद्ध करने के लिए आज इक्कीस वर्ष से भी अधिक समय से अनेक आदर्शनिष्ठ शिक्षाव्रती तपस्वी तपस्या करते आ रहे हैं। आज तक नयी तालीम की जितनी प्रगति और प्रसार हुआ है उसके पीछे उन सबका बहुमूल्य योग-दान है। उनमें से तीन महान् व्यक्तियों के नाम नयी तालीम के इतिहास में चिरकाल तक अविस्मरणीय रहेंगे। वे तीन सज्जन हैं : (१) सन्त विनोबा, (२) श्री ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम् और (३) श्रीमती आशादेवी। आर्यनायकमजी और आशादेवी आरम्भ से ही नयी तालीम के काम में महात्मा गांधी के दाहिने हाथ की तरह रहे हैं। इस शिक्षाव्रती दम्पति ने नयी तालीम की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। नयी तालीम के संगठनात्मक और शैक्षणिक, दोनों ही क्षेत्रों में वे प्राणस्वरूप रहे हैं। सेवक अपने निर्दिष्ट सेवा-क्षेत्र में कहाँ तक एकरस होकर और अनन्य-निष्ठ रहकर एक आदर्श के पीछे सारा जीवन हँसते-हँसते बिता सकते हैं; वे इसके उत्तम उदाहरण हैं।

बुनियादी शिक्षा का मान

यहाँ एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। सप्तवर्षीय बुनियादी तालीम के फलस्वरूप विद्यार्थी जो शिक्षा-लाभ करेंगे, उसका मान क्या होना चाहिए? बुनियादी तालीम के मान के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया था कि अंग्रेजी को छोड़ देने के बाद मैट्रिकुलेशन-शिक्षा का जो मान है, वही मान उसका होगा। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। यह बात सही है कि साधारण साहित्य, मातृभाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, प्राथ-

मिक विज्ञान आदि विषयों का मैट्रिकुलेशन-उत्तीर्ण विद्यार्थियों को जितना ज्ञान होता है, उतना ज्ञान सप्तवर्षीय बुनियादी तालीम-प्राप्त विद्यार्थियों को भी होगा, पर दोनों शिक्षा-व्यवस्थाओं की पद्धतियों के बीच जो मौलिक पार्थक्य है, उसके कारण पूर्णतः भिन्न प्रकार के जो अतिरिक्त फल प्राप्त होते हैं, वही नयी तालीम के वास्तविक लाभ हैं। इसके अलावा इतिहास, गणित, भूगोल आदि साधारण विषयों का भी जो साधारण ज्ञान-लाभ होता है, वह जीवन-यापन के क्षेत्र में आवश्यक श्रम-शिल्प के माध्यम से अर्जित होने पर अधिक तेजस्वी एवं प्राणवान् हो जाता है। बुनियादी विद्यालय में कोई आनुष्ठानिक परीक्षा नहीं होती। विद्यार्थी विद्यालय में कैसा काम करता है, इसका जो विवरण वह स्वयं और शिक्षक रखते हैं, वह, विद्यालय में उसकी उपस्थिति और विद्यार्थी के सम्बन्ध में शिक्षक की धारणा कैसी है—इन बातों पर विचार करके उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण का निश्चय किया जाता है। जिस नवसमाज का निर्माण करना हमारा लक्ष्य है, उसके अनुरूप नागरिकों के रूप में विद्यार्थियों का निर्माण करना (पूर्व-बुनियादी-सहित) बुनियादी तालीम का वास्तविक लक्ष्य है।

आठ वर्ष का शिक्षा-क्रम समाप्त करने के बाद बुनियादी तालीम के छात्रों में योग्यता और गुणों का जो विकास होगा, उसका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि बुनियादी तालीम की वास्तविक सार्थकता कहाँ है। बुनियादी तालीम के द्वारा जो योग्यता प्राप्त होती है, उसकी एक सुस्पष्ट रूप-रेखा १२ वर्ष के अनुभवों के फलस्वरूप बुनियादी तालीम के अध्यापकों और परिचालकों ने तैयार की है। उसीका नीचे उल्लेख किया जा रहा है :

(१) निर्मल और स्वस्थ जीवन-यापन की योग्यता

इसमें नीचे लिखी बातें शामिल हैं :

(क) शरीर संतुलित और समुचित रूप से पुष्ट होगा। छात्रों में

श्रम-साध्य काम करने की क्षमता होगी और वे स्वस्थ तथा उत्साही होंगे।

(ख) सामाजिक और व्यक्तिगत स्वास्थ्य तथा सफाई का उन्हें अच्छा अभ्यास होगा और उसके सामाजिक तथा नैतिक पक्षों का ज्ञान होगा।

(ग) सामुदायिक सफाई-रक्षा के लिए उनमें विवेक-बुद्धि विकसित होगी और गाँवों को साफ रखने विषयक मूल बातें उन्हें ज्ञात रहेंगी।

(घ) घर, गाँव और स्थानीय समाज की सफाई का कार्यक्रम तैयार करने की उनमें योग्यता रहेगी।

(ङ) मानव-शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों का उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा। स्वास्थ्य-रक्षा के मूल नियम उन्हें ज्ञात रहेंगे और स्थानीय वस्तुओं से स्वास्थ्यप्रद भोजन तैयार करने की प्रणाली के सम्बन्ध में भी उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा।

(च) साधारण प्राथमिक उपचार (फर्स्ट एड) का ज्ञान उन्हें रहेगा। स्थानीय पौधों और घरेलू दवाओं के सम्बन्ध में उन्हें जानकारी रहेगी। साधारण रोगों के कारणों और उनकी रोकथाम के उपायों से वे परिचित रहेंगे। साधारण तौर पर वे रोगियों की सेवा-शुश्रूषा कर सकेंगे।

(२) अन्न, वस्त्र और निवास-स्थान-विषयक स्वावलंबन की योग्यता

इसमें निम्नलिखित बातें शामिल होंगी :

(क) वे कपास से अपना वस्त्र तैयार कर ले सकेंगे।

(ख) वे अपने स्वास्थ्यप्रद भोजन के लिए विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन कर सकेंगे।

(ग) वे साधारण भोजन बना सकने में समर्थ होंगे।

(घ) परिवार या संस्था के लोगों के लिए भोजन बनाने, परोसने और खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने की योग्यता उनमें होगी। वे खान-पान के खर्च का बजट बना सकेंगे और हिसाब रख सकेंगे।

(ङ) वे घरेलू यंत्र आदि का उपयोग जानेंगे। उन्हें ठीक ढंग से रखना भी उन्हें आयेगा।

(च) वे साइकिल चढ़ना जानेंगे और उसे ठीक ढंग से रख सकेंगे।

(३) बुनियादी हस्त-शिल्प-सम्बन्धी योग्यता

निर्वाचित मूल हस्त-शिल्पों के सम्बन्ध में छात्रों में इतनी कुशलता और शास्त्रीय ज्ञान रहेगा कि आवश्यकता पड़ने पर वे उसके द्वारा अपने संतुलित खाद्य, सीधे-सादे वस्त्र और जीवन की अन्यान्य आवश्यक वस्तुएँ तैयार कर ले सकेंगे।

इसके अन्तर्गत ये विषय होंगे :

(क) मूल अथवा अन्यान्य हस्त-शिल्पों के अभ्यास के लिए घरेलू यंत्रों और उपकरणों के व्यवहार के क्षेत्र में गणित तथा अन्यान्य विज्ञानों के जिन सब नियमों को काम में लाना होगा, उनके विषय में उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा।

(ख) अपने लिए आवश्यक खाद्य-सामग्रियों और कपास-उत्पादन के काम में, रसोई बनाने के काम में, घर के काम-काज में, मूल हस्त-शिल्प की प्रक्रिया में एवं अपनी स्वास्थ्य-रक्षा और सफाई के क्षेत्र में रसायन-शास्त्र और प्राणि-विज्ञान के जो नियम प्रयुक्त होते हैं, उनकी उन्हें साधारण तौर पर जानकारी रहेगी।

(४) साधारण विज्ञान और गणित-विषयक योग्यता

अपने चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण और दैनिक जीवन के विभिन्न कामों में विज्ञान, गणित और अन्यान्य शास्त्रों के जो नियम काम में आते हैं, उनका उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा।

इसमें निम्नलिखित विषय होंगे :

मूल हस्तशिल्पों तथा अन्यान्य हस्तशिल्पों के उपकरणों और सरंजाम के क्षेत्र में यंत्र-विद्या और गणित-शास्त्र के जो सब नियम निहित रहते हैं, उनके सम्बन्ध में उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा।

खाद्य-पदार्थों और कपास के उत्पादन में, रसोई बनाने के काम में, अन्यान्य गृह-कार्यों में, मूल हस्त-शिल्पों की प्रक्रियाओं में तथा स्वास्थ्य-रक्षा के क्षेत्र में शारीरिक, रासायनिक और जीवन-सम्बन्धी शास्त्रों के जिन नियमों का प्रयोग आवश्यक होता है, उनके सम्बन्ध में उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा।

(५) नागरिकता की योग्यता

उन्हें सहकारी समाज के आदर्श का ज्ञान रहेगा और वे सबके साथ मिल-जुलकर काम कर सकेंगे।

(क) उन्हें विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की नीतियों का ज्ञान रहेगा। उसमें कृषि और ग्रामोद्योगों के समुचित समन्वय द्वारा स्वावलम्बी गाँव का संगठन किया जा सकेगा और शहरों तथा गाँवों के बीच आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान का श्रेष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगा।

(ख) सहकारी-समितियों के नियम उन्हें ज्ञात रहेंगे और सहकारितामूलक कार्यादि के संचालन का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव रहेगा।

(ग) वे समाचारपत्र और अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएँ बुद्धिपूर्वक पढ़ सकेंगे और इस प्रकार भारत तथा संसार की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं को समझ सकेंगे।

(घ) उन्हें भारत और संसार के इतिहास और भूगोल का, विशेषतः आर्थिक भूगोल का ज्ञान रहेगा और वे उनकी वर्तमान समस्याओं को समझ सकेंगे।

(ङ) विभिन्न धर्म-संस्थापकों की जीवनियों और शिक्षाओं से वे परिचित रहेंगे।

(च) वे राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्सव भली-भाँति मना सकेंगे और उनके महत्त्व का उन्हें ज्ञान रहेगा।

(छ) नयी तालीम के अनुसार एक उदीयमान नागरिक की भाँति वे समग्र मानव-जाति को एक बहुशाखा-सम्पन्न परिवार मानेंगे और

उसकी प्रत्येक शाखा से उन्हें सांस्कृतिक परम्परा के सौन्दर्य और गुणों का कुछ अंश प्राप्त होगा।

(ज) सभी धर्मों और उत्तम विचारों के प्रति उनके मन में श्रद्धा रहेगी तथा सभी मतवादों के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आचार के प्रति वे सहिष्णु रहेंगे। जातिगत, धर्मगत, भाषागत, सांस्कृतिक और राजनीतिक, सभी प्रकार की संकीर्णताओं से वे मुक्त रहेंगे।

(झ) भाषा और गणित के क्षेत्र में उनकी इतनी योग्यता होगी कि अपने दैनिक जीवन के कार्यों को पूरा कर सकें। उत्तर-बुनियादी शिक्षा पूरी होने के बाद वे इस सम्बन्ध में अधिक ज्ञान-लाभ कर सकने में समर्थ होंगे।

(६) भाषा-विषयक योग्यता

(क) विद्यालय और ग्राम-समाज-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य विचारों पर वे विद्यालय की साधारण सभाओं और सार्वजनिक भाषाओं में प्रांजल और शुद्ध भाषण कर सकेंगे।

(ख) अपनी मातृभाषा के साहित्य से उनका परिचय रहेगा।

(ग) वे दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं का सदुपयोग कर सकेंगे।

(घ) वे अभिधान का व्यवहार करना जानेंगे।

(७) गणित-सम्बन्धी योग्यता

(क) छात्रों का गणित-बोध (Mathematical Sense) जाग्रत होगा।

(ख) हिसाब रखने के क्षेत्र में उनमें इतनी योग्यता होगी कि दैनिक जीवन के काम-काज-विषयक सरल हिसाब, परिमाप आदि ठीक ढंग से जल्दी-जल्दी कर लें।

(ग) ज्यामिति की सरल आकृतियों और प्रमुख नियमों का उन्हें ज्ञान रहेगा।

(८) रचनात्मक और कलात्मक योग्यता

(क) उनकी सुरुचि का विकास होगा ।

(ख) उत्तम संगीत, साहित्य और कला के आदर्श का उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा और वे उनसे आनन्द प्राप्त करने में समर्थ होंगे ।

(ग) कला, संगीत और किसी कलात्मक हस्तशिल्प के द्वारा आत्मप्रकाश की प्रत्यक्ष अभिज्ञता उनमें रहेगी और उनके द्वारा वे सानन्द अपने समय का सदुपयोग कर सकेंगे ।

(घ) वे सामूहिक रूप से राष्ट्रीय संगीत, आनन्दवर्द्धक गीत, भजन, धुन आदि गा सकेंगे । नाट्याभिनय करने की भी उनमें योग्यता होगी ।

(ङ) उत्सवों, पर्वों और सभा-समितियों के समय वे विद्यालय-भवन तथा सभास्थल आदि को सुरुचिपूर्वक सजा सकेंगे ।

(च) अपने क्षेत्र की परम्परागत कलाओं, लोक-संगीत, लोक-नृत्य इत्यादि से वे परिचित रहेंगे ।

(छ) वे कक्षा, विद्यालय और ग्राम-समाज के लिए शुद्ध मनोरंजन के कार्यक्रमों की रचना कर सकेंगे ।

यूनेस्को के प्रतिनिधि-मंडल की राय

एक बात और । नयी तालीम का जो प्रयोग सेवाग्राम और अन्य कुछ स्थानों में चल रहा है, उसका विदेशी शिक्षाविदों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, यह जानने की लोगों को उत्सुकता हो सकती है । यहाँ ऐसे एक दृष्टान्त का उल्लेख किया जाता है । दिसम्बर १९५२ में UNESCO (संयुक्त राष्ट्रसंघीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति-संघटन) के शिक्षा-विभाग के अधिकर्ता बम्बई नगर में अनुष्ठित प्रौढ़-शिक्षा-गोष्ठी में भाग लेने पधारे थे । भारत में महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित शिक्षा के नवविचार का जो प्रयोग चल रहा है, उसके परिदर्शन का अधिकार (Commission) भी उन्हें प्राप्त था । तदनुसार वे सेवाग्राम आये और वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने नयी तालीम के विभिन्न पर्यायों के शिक्षा-कार्य का निरीक्षण

किया। इसके फलस्वरूप वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, उसे उन्होंने यों लिपिबद्ध किया है :

It is difficult for an outsider, who has been in India only for a month, to talk about the spirit of India. But I feel that something of that spirit is epitomized here at Sevagram. The principle of education through work, not mere activity, is a profoundly sound one, however, simple a form it may take with young children. With adequate safeguards against the conscious or unconscious exploitation of the child for the sake of mere production, it helps to integrate the child in his society, to develop his intellect and his sense of responsibility. There is another profound principle on which the experiment of Sevagram seems to be based. It is the Buddhist, Christian, Gandhian principle of love and dedication to our fellowmen coupled with the principle of renunciation of the acquisitiveness of worldiy goods and of presonal ambitions as methods of building up a new, peaceful society. I feel sure that no peaceful society can be built on personal ambitions and interests and on acquisitiveness and competitive search for profits. Inevitably, the profits and possession become the ends, and fellow human beings are sacrificed and exploited for them. Moreover, ambitions and interests clash and lead to personal group and national conflicts–hence war. The only legitimate personal ambition is to come in contact with and gently and discreetly serve other groups. When every human being feels concerned about the welfare of any other human beings all over the world, then we can hope to have a new, ethical and peaceful world order.

Sevagram in its own humble way is trying to practise these principles of its master and founder, Mahatma Gandhi. If it keeps an experimenting with ever fresher ways of applying its principles, and if it has the courage to utilise modern science in the service of these principles, it may yet have a lesson to give to India and to the world. अर्थात्—"भारत में केवल एक महीना ठहरकर उसकी विशिष्ट प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ कहना किसी बाहरी व्यक्ति के लिए कठिन है। किन्तु मैं अनुभव कर रहा हूँ कि भारत की विशिष्ट प्रकृति का सारांश किंचित् परिमाण में इस सेवाग्राम में ही उपलब्ध है। केवल क्रियाशीलता नहीं, काम के माध्यम से शिक्षा-दान की नीति छोटे बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में कितनी ही सीधी-सादी क्यों न हो, वास्तव में यह अत्यन्त ठोस है। केवल उत्पादन करने के काम में बच्चों को लगाकर उनका ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से शोषण न हो, इसके लिए यदि यथेष्ट सतर्कता बरती जाय, तो यह शिक्षा बच्चों को उनके समाज के साथ एकरूप बनने में सहायता देगी और उनकी बुद्धि तथा कर्तव्य-ज्ञान को विकसित करेगी। सेवाग्राम में नवशिक्षण का जो परीक्षण-कार्य चल रहा है, वह एक और महान् नीति पर आधारित है। वह नीति है, बुद्ध, ईसा और गांधी का प्रेम-धर्म और जन-सेवा में आत्मोत्सर्ग और उसके साथ संयुक्त है नवीन, शान्तिपूर्ण समाज-निर्माण के उपाय के रूप में पार्थिव धन-सम्पत्ति की परिग्रह-प्रवणता तथा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा-लिप्सा का विसर्जन। मेरा यह पक्का विश्वास है कि व्यक्तिगत प्रतिष्ठा-लिप्सा, व्यक्तिगत स्वार्थ, परिग्रह-आकांक्षा और लाभ के लिए प्रतियोगितामूलक प्रचेष्टा के आधार पर शान्तिमय समाज का निर्माण कर सकना सम्भव नहीं है। वैसी स्थिति में लाभ और धन-सम्पत्ति अनिवार्य रूप से लक्ष्य बन जाते हैं और जन-गण के स्वार्थ का विसर्जन हो जाता है—शोषण आरम्भ हो जाता है। इसके अलावा परस्पर की प्रतिष्ठा-लिप्सा और स्वार्थ-बुद्धि के बीच संघर्ष पैदा होता है और इसके फलस्वरूप

व्यक्तिगत, समूहगत और राष्ट्रगत संघर्ष जन्म लेता है, जिसकी परिणति युद्ध में होती है। यदि यथार्थ व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का पोषण करना हो, तो अन्यान्य समूहों के सम्पर्क में आकर नम्रतापूर्वक और विचक्षणता सहित उनकी सेवा करनी होगी। जब प्रत्येक मनुष्य संसार के अन्य लोगों के कल्याण के लिए आग्रहशील होगा, तब एक नवीन नैतिकता-सम्पन्न और शान्तिमय विश्व-समाज के निर्माण की आशा की जा सकेगी।

"सेवाग्राम अपने महान् नेता और संस्थापक महात्मा गांधी की इन सब नीतियों का अनुसरण करने के लिए नम्र भाव से साधना कर रहा है। यदि वह नये-नये उपायों से इन सब नीतियों को कार्यान्वित करने का परीक्षा-कार्य चलाता रहे और इन नीतियों के अनुसरण-कार्य में आधुनिक विज्ञान का उपयोग करने का साहस उसमें हो, तो वह भारत और समस्त विश्व को एक महान शिक्षा प्रदान करने में समर्थ होगा।"

● ● ●

अध्याय ३

नयी तालीम की कल्पना और महात्मा गांधी

महात्मा गांधी ने प्राथमिक शिक्षा तथा राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी क्रान्तिकारी कल्पना ३१ जुलाई, १९३७ के 'हरिजन' में प्रकाशित की थी। उस लेख को पढ़कर ऐसा लग सकता है कि उक्त कल्पना अकस्मात् उनके मन में उत्पन्न हुई थी। उन्होंने स्वयं भी ऐसा आभास दिया था। उस समय उन्होंने लिखा था कि उक्त कल्पना आकस्मिक दीप्ति-स्वरूप उनके अन्तर में उद्भासित हुई। सम्भव है, उक्त कल्पना समग्र रूप से अकस्मात् उनके मन में उदित हुई हो, किन्तु वह उनके दीर्घकालीन निरन्तर चिन्तन तथा अनुभवों का परिणाम था। बहुत पहले से उनके मन में उक्त कल्पना के उद्भव की भूमिका तैयार हो रही थी। उस भूमिका को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध उनके अन्तर का विद्रोह और (२) प्रचलित शिक्षा-पद्धति के संस्कारों के कारण जो-जो विचार उनके मन में आ रहे थे, उनके अनुसार शिक्षा-कार्य चलाने के लिए उनकी चेष्टा। उनकी बुनियादी तालीम तथा नयी तालीम की कल्पना को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए उक्त भूमिका के काल पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

(१) प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह

सन् १९०८ में उन्होंने 'हिन्द-स्वराज्य' में लिखा कि साधारण तौर पर अक्षर-ज्ञान को शिक्षा कहा जाता है। किन्तु जो किसान ईमानदारी के साथ खेती द्वारा जीविकोपार्जन करता है; माता, पिता, पत्नी, पुत्र, कन्या आदि के साथ उचित व्यवहार करना जानता है; गाँव के लोगों के साथ मिला-जुलाकर रहना जानता है और सदाचार के नियमों को अच्छी तरह

समझता तथा उनका पालन करता है; परन्तु अपना हस्ताक्षर करना नहीं जानता, उसे वे अशिक्षित मानने को तैयार नहीं हैं और उसे अक्षर-ज्ञान की शिक्षा देना अत्यावश्यक भी नहीं मानते। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि अनुशीलन के फलस्वरूप जिस व्यक्ति का शरीर ऐसा बन गया है कि सभी काम आसानी से कर सके, जिस व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध है, जो व्यक्ति शान्त और न्यायदर्शी है, जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और जो दूसरों को अपनी तरह मानता है, उसीने वास्तविक शिक्षा प्राप्त की है। उन्होंने कहा कि उनके इस कथन का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि वे अक्षर-ज्ञान के विरुद्ध हैं। वे केवल इतना कहना चाहते हैं कि अक्षर-ज्ञान की देवता की तरह पूजा करना उचित नहीं है।

तदुपरान्त सन् १९२१ में 'यंग इण्डिया' नामक पत्र में उन्होंने अपना यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि सरकारी स्कूल-कॉलेजों ने हमें पुरुषार्थहीन, असहाय और नास्तिक बना दिया है—इन सब स्कूल-कॉलेज ने हमारे हृदय में असन्तोष भर दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य सरकारी और व्यापारी दफ्तरों के लिए किरानी तैयार करना है।

अंग्रेजी शिक्षा के कुपरिणाम

अंग्रेजी-शिक्षा के सम्बन्ध में उनका कहना था : "लाखों आदमियों को अंग्रेजी-शिक्षा देने का अर्थ उन्हें गुलामी के लिए तैयार करना है। मेकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद तैयार की, उसने हमें गुलाम बना दिया है। उनका ऐसा कोई उद्देश्य था, यह मैं नहीं कहता; परन्तु उसका नतीजा यही निकला है। क्या यह दुःख की बात नहीं है कि हमें अपने स्वराज्य से सम्बद्ध बातें भी अंग्रेजी में बोलनी पड़ती हैं?

"अंग्रेजी-शिक्षा के कारण हममें दम्भ और अत्याचार की मात्रा बढ़ी है। क्या यह दुःख की बात नहीं है कि न्यायालय में जाने पर हमें अंग्रेजी

में बोलना होगा ? बैरिस्टर होने के कारण अपनी मातृभाषा में बोल भी नहीं सकता ?

"जिन लोगों ने अंग्रेजी-भाषा का अध्ययन किया है, उन्हें अपने बच्चों को मातृभाषा के माध्यम से पहले नीति-धर्म की शिक्षा देनी चाहिए। एक अन्य भारतीय भाषा भी उन्हें सिखायी जानी चाहिए। फिर, जब वे बड़े हों, तब अंग्रेजी सीखें। किन्तु अन्तिम लक्ष्य यही होना चाहिए कि अंग्रेजी हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है—ऐसी भावना हममें जड़ न पकड़ पाये।"

(२) शिक्षा-संस्कार-सम्बन्धी विचार

सन् १८९७ में जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका गये थे, तभी शिक्षा के सम्बन्ध में उनका यह विचार था कि छोटे बच्चों को उनके माता-पिता से दूर रखना ठीक नहीं है। छोटे बच्चे सुव्यवस्थित घर में स्वाभाविक ढंग से जो शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, वह किसी छात्रावास में सम्भव नहीं है। उस समय उनका १० वर्षीय एक भांजा और ८ तथा ५ वर्षीय दो पुत्र उनके साथ थे। अतः समस्या उपस्थित हुई कि उनकी शिक्षा की क्या व्यवस्था की जाय। वे उन्हें भारत भेजने को तैयार नहीं थे। अतः उन्हें उन्होंने अपने साथ ही रखा और स्वयं शिक्षा देने लगे। किन्तु इसके लिए उन्हें पूरा समय नहीं मिल पाता था। वे उन्हें जितनी साहित्यिक शिक्षा देना चाहते थे, उतनी भी नहीं दे पाते थे। बच्चों को विद्यालय की शिक्षा न मिलने के कारण उनके मन में कुछ क्षोभ भी था। परन्तु वे कहते हैं : "इसके बावजूद मैं यह समझता हूँ कि यदि साधारण विद्यालय में उनकी शिक्षा की व्यवस्था होती, तो अपने अनुभवों के विद्यालय और माता-पिता की सहायता से उन्होंने जो शिक्षा पायी है, उससे वे वंचित रह जाते। फिर उनके सम्बन्ध में मैं उतना निश्चिन्त नहीं रह पाता। साथ ही उनमें जो अनाडम्बर और सेवा की भावनाएँ आज दिखाई पड़ रही हैं, वे इंग्लैण्ड या दक्षिण अफ्रीका के किसी विद्यालय में शिक्षा पाने की स्थिति में उनमें नहीं रह पातीं।"

टॉल्स्टॉय-फार्म

तत्पश्चात् टॉल्स्टॉय-फार्म में उनके सहकर्मियों के बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था करने की आवश्यकता उपस्थित हुई। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा : "वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में मुझे विश्वास नहीं था। मैं चाहता था कि प्रत्यक्ष अनुभवों और गवेषणा के आधार पर शिक्षा की एक निर्दोष प्रणाली का आविष्कार करूँ।" वे जानते थे कि माता-पिता ही वास्तविक शिक्षा दे सकते हैं और उसमें बाहरी हस्तक्षेप कम-से-कम होना चाहिए। उन्होंने अपने को टॉल्स्टॉय-फार्म के बच्चों का पिता मानकर स्वयं ही उनकी शिक्षा का भार ग्रहण किया। शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने हृदय की शुद्धता और चरित्र-निर्माण को पहला स्थान दिया और अपना अधिकांश समय उन्हींके साथ बिताने लगे। श्री केलनबक और श्री प्रागजी देसाई की सहायता से उन्होंने कक्षाएँ आरम्भ कीं और यथासम्भव साहित्यिक शिक्षा की व्यवस्था की। शिक्षा में शारीरिक श्रम पर उन्होंने विशेष बल दिया। फार्म में कोई नौकर नहीं रखा जाता था। भोजन बनाने से लेकर सफाई तक के सारे काम आश्रम के कार्यकर्ता स्वयं ही करते थे। श्री केलनबक को बागवानी का शौक था। अतः युवा-वृद्ध, सबको अपनी सामर्थ्य के अनुसार बगीचे का काम करना पड़ता था। इसके फलस्वरूप अलग से व्यायाम तथा खेल-कूद की आवश्यकता नहीं रह जाती थी।

हस्तशिल्प-आवश्यक

शिक्षा के सम्बन्ध में उनका विचार तब भी यही था कि प्रत्येक बच्चे को किसी-न-किसी हस्त-शिल्प की शिक्षा दी जानी चाहिए। अतः वैसी व्यवस्था की गयी। श्री केलनबक किसी ट्रेपिस्ट मठ से जूता बनाने का काम सीख आये। गांधीजी ने भी यह काम उनसे सीखा। श्री केलनबक थोड़ी बढ़ईगिरी भी जानते थे। इस प्रकार बच्चों की हस्तशिल्प-शिक्षा की व्यवस्था हुई। वहाँ यह नियम बनाया गया कि जो काम शिक्षक स्वयं

नहीं करेंगे, वह काम विद्यार्थी भी नहीं करेंगे। गांधीजी का विश्वास था कि बच्चे अपनी आँख से देखकर जितने समय में कोई बात सीख सकते हैं, उससे कम समय में कान से सुनकर कहीं अधिक सीख सकते हैं। अतः वे स्वयं किसी चीज को अच्छी तरह पढ़कर बच्चों को सुनाते थे। आध्यात्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। किन्तु आध्यात्मिक शिक्षा के लिए धर्म-ग्रन्थों पर विशेष निर्भर नहीं किया जाता था। किन्तु ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक छात्र को अपने धर्म के तत्त्वों और शास्त्रों के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसी तरह परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार वहाँ ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की गयी, जिसे नयी तालीम की शिक्षा-व्यवस्था का पूर्वाभास कहा जा सकता है।

उनके भारत आने के उपरान्त राष्ट्रीय विद्यापीठों में सूत कातने का काम आरम्भ किया गया। उनमें उनकी प्रेरणा से चरित्र-निर्माण और हृदय की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाने लगा। पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता पर कम जोर दिया गया और सेवा को शिक्षा का अंग माना गया।

उन्होंने गुरुकुल के छात्रों को शारीरिक श्रम करने और आत्मनिर्भर बनने का उपदेश दिया। एक गुरुकुल-अनुरागी के रूप में, उन्होंने उसकी समिति तथा छात्रों के माता-पिता को सम्बुद्ध करते हुए कहा : "गुरुकुल के छात्रों को यदि आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी बनना है, तो उन्हें हस्त-शिल्प की उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। मेरे खयाल में जिस देश के ५० प्रतिशत लोगों की जीविका का साधन खेती है और जिस देश में १० प्रतिशत लोग किसानों की आवश्यकताओं को पूरा करने का काम करते हैं, उस देश के युवकों की शिक्षा में खेती-बारी और कपड़ा तैयार करने की बात अनिवार्य रूप से शामिल होनी चाहिए।

नयी तालीम की कल्पना के जन्म लेने से १६ वर्ष पहले सन् १९२१ में यह विचार उनके मन में आया था कि शिक्षा के क्षेत्र में आर्थिक स्वावलम्बन सम्भव है। सन् १९२१ में 'यंग इण्डिया' नामक पत्र में

उन्होंने लिखा : "यदि प्रत्येक विद्यालय में सूत कातने का काम हो, तो मेरा खयाल है कि शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था में एक क्रान्ति आ जायगी। हम प्रति दिन छह घंटे विद्यालय चलाकर छात्रों को निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था कर सकते हैं। मान लीजिये कि एक लड़का प्रतिदित चार घंटा चरखे पर सूत कातता है, तो इसका मतलब यह हुआ कि पाठशाला के लिए वह प्रतिनिद एक आने की व्यवस्था कर देता है।"

नयी तालीम के आविष्कार की दिशा में महात्मा गांधी इसी प्रकार धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे थे। यही थी नयी तालीम की कल्पना की भ्रूणावस्था। ● ● ●

अध्याय ४ महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित हस्त-शिल्प के माध्यम से शिक्षा की कल्पना क्या मौलिक है ?

सन् १९३७ के अक्तूबर महीने में वर्धा में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन में भाषण करते हुए डॉ० जाकिर हुसेन ने कहा था कि महात्मा गांधी ने शिक्षा की जो योजना उपस्थित की है, वह नवीन नहीं है। उन्होंने कहा कि अनेक शिक्षाविद् हस्त-शिल्प को केन्द्र बनाकर शिक्षा-दान करने की चेष्टा करते आ रहे हैं। इस प्रणाली को अमेरिका में 'प्रोजेक्ट'-प्रणाली (Project method) और रूस में 'कम्प्लेक्स'-प्रणाली (Complex method) कहा जाता है। इसके उत्तर में विनोबाजी ने उसी सम्मेलन में कहा था कि वह नयी चीज भले न हो, पर वह नये प्रकाश में उपस्थित की गयी है। हस्त-शिल्प के माध्यम से शिक्षा की कल्पना का जन्म कब, कहाँ और किस तरह हुआ था, इसे जानना और गांधीजी ने किस नवीन प्रकाश में उसका प्रवर्तन किया, इसे भली प्रकार समझना आवश्यक है। तभी इस बात का सम्यक् रूप से ज्ञान हो सकेगा कि नयी तालीम की हस्त-शिल्प-केन्द्रित शिक्षा-पद्धति की विशिष्टता कहाँ है।

विदेशों के शिक्षाविद्

रूसो का यह दृढ़ विचार था कि दूसरों के अनुभवों पर निर्भर रहकर बच्चों को शिक्षा देना उचित नहीं है। पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान इसी परोक्ष शिक्षा के अन्तर्गत आता है। इसलिए पुस्तकीय विद्या वे पसन्द नहीं करते थे। उनका विचार था कि बच्चों को प्रत्यक्ष अनुभवों के द्वारा ज्ञान-लाभ करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवों अर्थात् काम

के माध्यम से शिक्षा की नयी भाव-धारा उन्होंने संसार के समक्ष पहली बार उपस्थित की। आधुनिक काल के अमेरिका के प्रख्यात शिक्षा-शास्त्री डॉ० जान डिउंग ने भी अपनी शिक्षा-विषयक योजना में काम के माध्यम से शिक्षा दिये जाने पर विशेष बल दिया। अपनी 'हाउ टु थिन्क' नामक पुस्तक (१९१०) में उन्होंने चिंतन-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा है कि जब तक कोई असुविधा अथवा समस्या उपस्थित नहीं होती, तब तक मनुष्य को चिंता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो भोजन मैंने किया है, वह यदि न पचे, तो मुझे उसके कारण और प्रतिकार के सम्बन्ध में सोचना पड़ेगा। जिस गाड़ी पर मैं जा रहा हूँ, वह यदि हटात् रुक जाय, तो मुझे उसके विषयमें चिंता करनी पड़ेगी। इसी प्रकार जब हमारे समक्ष कोई समस्या उपस्थित होती है, तब उसके समाधान के लिए हम चिंता आरम्भ करते हैं। चिंता करके हम प्रतिकार का कोई उपाय ढूँढ़ते हैं और उसका प्रयोग करते हैं। यदि उससे समस्या का समाधान हो जाय, तो हमारा ज्ञान बढ़ता है और यदि समस्या का समाधान न हो, तो किसी अन्य उपाय को काम में लाते हैं। यही मन के विकास की प्रक्रिया है, अर्थात् इसी तरह मन का विकास होता है। इससे यह प्रकट होता है कि चिंतन क्रियाशीलता (Activity) की एक वृत्ति (Function) है। क्रियाशीलता के ही माध्यम से मन का विकास होता है। अतः ज्ञान-लाभ या ज्ञान का विकास क्रियाशीलता के माध्यम से ही सम्भव है। इस चिंतन-प्रक्रिया के विश्लेषण और मन के विकास की व्याख्या की ओर शिक्षाविदों का ध्यान विशेष रूप से गया और उसके आधार पर कई प्रगतिशील शिक्षा-प्रणालियों का जन्म हुआ, जैसे फंकशनल प्रणाली (Functional method), प्रोजेक्ट प्रणाली (Project method), प्राब्लेम प्रणाली (Problem method) आदि। डॉ० जान डिउंग ने अपने उपर्युक्त सिद्धांत का अनुसरण करके अपनी शिक्षा-योजना में काम के माध्यम से शिक्षा-दान की प्रणाली पर बल दिया। इसके अतिरिक्त नयी तालीम और डॉ० डिउंग द्वारा प्रवर्तित शिक्षा-

योजना के बीच कुछ बाह्य सादृश्य है—जैसे (१) दोनों ही शिक्षा-योजनाओं में छात्र के व्यक्तित्व-विकास पर अधिक बल दिया जाता है; (२) नयी तालीम में सामूहिक जीवन-यापन और परस्पर-सहयोग के माध्यम से शिक्षा-दान दिया जाता है। डॉ० जान डिउंग की शिक्षा-योजना में भी शेयर्ड एक्टिविटी (Shared activity — जिस काम में अनेक लोग एक साथ हिस्सा लेते हैं) एवं परस्पर-सहयोग से साधारण उद्देश्य-सिद्धि द्वारा सामाजिक बोध जाग्रत करने की व्यवस्था है। यह देखकर कुछ लोग इस हद तक सोच जाते हैं कि सम्भवतः महात्मा गांधी ने जान डिउंग से ही नयी तालीम की प्रेरणा प्राप्त की। इस अनुमान का कोई ठोस आधार नहीं है। जान डिउंग की 'हाउ टु थिंक' नामक पुस्तक सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। इससे पहले ही महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में काम के माध्यम से शिक्षा-दान का प्रयोग आरम्भ कर दिया था और शिक्षा-सम्बन्धी अत्यन्त क्रान्तिकारी भावधारा उससे पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी। फिर उन्होंने स्वयं ही कहा है कि यह कल्पना उनके हृदय में एक दीप्ति की भाँति उदित हुई थी। डॉ० जान डिउंग की योजना के साथ कुछ बाह्य सादृश्य रहने पर भी नयी तालीम की मूल वस्तु सम्पूर्णतः नवीन और मौलिक है।

नयी तालिम का आधार अहिंसा

नयी तालीम की मौलिकता और नवीनता कहाँ है, इसे भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है : (१) नयी तालीम की योजना का आधार अहिंसा है। महात्मा गांधी ने स्वयं ही कहा है : "अहिंसा के केन्द्र से इस योजना का जन्म हुआ है। हमें अपने बच्चों को देश को कृषि, सभ्यता और प्रकृति के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में तैयार करना होगा। यूरोप का उदाहरण हमारे किसी काम नहीं आयेगा। यूरोप हिंसा के आधार पर अपनी योजनाएँ बनाता है, क्योंकि हिंसा में उसका विश्वास

है। रूस ने जो कुछ किया है, उसे मैं छोटे रूप में नहीं देखना चाहता। किन्तु उसके समस्त संगठन का आधार है, हिंसा और बल-प्रयोग। भारत हिंसा रोकने के लिए कृतसंकल्प है। इसलिए यह शिक्षा-व्यवस्था अहिंसा की शृङ्खला का अविभाज्य अंग है।" (२) पाश्चात्य जगत् की कुछ शिक्षा-योजनाओं के पाठ्य-क्रमों में हस्तशिल्प शिक्षा का स्थान हो तो सकता है, किन्तु अब भी वे अन्य देशों का शोषण करते हैं। हस्तशिल्प-शिक्षा के परिणाम-स्वरूप उनकी शोषण-वृत्ति दूर नहीं होगी। उन शिक्षा-प्रणालियों का यह उद्देश्य है भी नहीं। गांधीजी की शिक्षा-योजना में हस्त-शिल्प की शिक्षा और साधारण शिक्षा एक तथा अविभाज्य हैं। उनकी इस क्रांतिकारी योजना के कार्यरूप में परिणत होने पर शोषण-वृत्ति पूर्णतः समाप्त हो जायगी। (३) अहिंसा और सत्य पर आधारित नव-समाज-रचना के उपाय-स्वरूप यह शिक्षा-योजना प्रस्तुत की गयी है। यदि इस योजना का ठीक ढंग से अनुसरण किया जाय, तो देश के बच्चे अहिंसक नागरिकों के रूप में तैयार होंगे और परिणामस्वरूप अहिंसक समाज का निर्माण होगा। (४) इस विराट देश की राष्ट्रीय-शिक्षा-योजना के रूप में इसका प्रवर्तन किया गया है। ७ से १४ वर्ष तक की आयुवाले सारे बच्चों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देने के उद्देश्य से इस योजना की रचना हुई है। (५) स्वावलम्बनमूलक शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है। स्वावलम्बन नयी तालीम का अविच्छेद्य अंग है। इसमें प्राथमिक स्तर पर शिक्षा द्वारा स्वावलम्बन की और उच्च स्तर पर स्वावलम्बन द्वारा शिक्षा की व्यवस्था है। ● ● ●

अध्याय ५ नयी तालीम के शास्त्रकार विनोबा

युग की आवश्यकता के अनुसार समाज-निर्माण के लिए उपयोगी मन्त्र युग-पुरुष के मानस-पट पर उद्भासित हो उठता है। जब इस मन्त्र का उद्भव होता है, तब यह बीज रूप में ही प्रकट होता है। युग-पुरुष समाजरूपी भूमि में इस बीज को बो देते हैं। मिट्टी को सरस रखकर बीज को अंकुरित कराने और जल सींचकर शिशु पादप को बड़ा करने की जिम्मेदारी उद्यानपाल अथवा माली की होती है। किन्तु बीज किस तरह का है, उससे किस प्रकार का वृक्ष उत्पन्न हो सकता है, उससे किस प्रकार का काम लिया जा सकता है, उसके पालन-पोषण और विकास के लिए किस प्रकार की जलवायु की आवश्यकता है, अर्थात् बीज में क्या-क्या सम्भावनाएँ निहित हैं, इसकी वैज्ञानिक ढंग से जाँच करके व्याख्या करने और जन-साधारण को बीज बोने के लिए प्रेरित करने का काम वनस्पति-शास्त्री का है। राष्ट्रीय शिक्षा तथा नयी तालीम के क्षेत्र में विनोबा का स्थान इसी वनस्पति-शास्त्री का है। गीता आदि अध्यात्म-शास्त्रों में विज्ञान का एक और अर्थ है। शास्त्र-पाण्डित्य ज्ञान है और अनुभवसिद्ध ज्ञान, विज्ञान। नयी तालीम के शास्त्र में विनोबा का ज्ञान केवल ज्ञान नहीं है, विज्ञान भी है। फिर नयी तालीम के बीज को सिंचाई द्वारा अंकुरित करने और उसके शिशु पादप के पालन-पोषण का जो काम माली का है, उसमें भी विनोबा का योगदान कम नहीं है।

ज्ञान की अमिट भूख

विनोबाजी स्वभाव से ही शिक्षक हैं—विद्यार्थी भी हैं। जीवनभर वे स्वयं सीखेंगे और दूसरों को सिखायेंगे, यह बात उनके स्वभाव में शामिल

है। बाल्यकाल से ही उनमें ज्ञान की अमिट भूख है। बड़ौदा के स्कूल में पढ़ते समय वे वहाँ की सेण्ट्रल लाइब्रेरी में जाकर अध्ययन-मनन किया करते थे। उन दिनों उस पुस्तकालय जैसा समृद्ध भारत में दूसरा कोई पुस्तकालय था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। किन्तु विनोबा ने कुछ ही दिनों के भीतर पुस्तकालय की समस्त पुस्तकें पढ़ डालीं। उस समय उन्होंने अपने साथियों के सहयोग से 'विद्यार्थी-मंडल' का निर्माण किया और उसके लिए १६०० अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संग्रह किया। इससे उनकी अपनी ज्ञान-क्षुधा शान्त करने के साथ-साथ अपने साथियों की ज्ञान-क्षुधा शान्त करने का भी आग्रह प्रकट होता है। इस क्षेत्र में भी उनकी शिक्षक-प्रकृति ही काम कर रही थी। महात्मा गांधी के साबरमती-आश्रम में निवास करते समय विनोबा ने स्वास्थ्य-सुधार तथा वेद-उपनिषद् आदि के अध्ययन के लिए आश्रम से एक वर्ष की छुट्टी ली। उस समय उनकी आयु कुल १२ वर्ष की थी। वे 'वाई' नामक स्थान में जाकर एक आजन्म ब्रह्मचारी पण्डित से गीता, उपनिषद्, वेदान्त आदि धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा लेने लगे और दूसरों को गीता आदि पढ़ाने लगे। वहाँ से १० फरवरी, १९१८ को उन्होंने गांधीजी को पत्र लिखा, उसमें इस बात का वर्णन किया कि स्वयं अध्ययन करने के साथ-साथ वे किसे क्या पढ़ाते थे। उन्होंने लिखा : "(१) गीता का क्लास लिया है। दो व्यक्तियों को निःशुल्क सव्याख्या गीता पढ़ाई है। (२) चार व्यक्तियों को ज्ञानेश्वरी के छह अध्याय पढ़ाये हैं। (३) दो छात्रों को लेकर उपनिषद् का क्लास आरम्भ किया है। ९ उपनिषद् पढ़ा चुका हूँ। (४) मैं स्वयं अच्छी हिन्दी नहीं जानता, फिर भी दो छात्रों को हिन्दी-पत्रिका पढ़ने और पढ़ाने की व्यवस्था की है।" इतनी अल्पवय में भी उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के आचार्य की भूमिका ग्रहण की थी।

स्वाभाविक शिक्षक

साबरमती-आश्रम में रहते समय ही उन्होंने अपने में शारीरिक श्रम-

शिक्षा और मानसिक शिक्षा का समन्वय आरम्भ किया। एक ओर वे झाड़ू देनेवाले और मल-मूत्र साफ करनेवाले भंगी थे और दूसरी ओर आश्रम के विद्यालय के शिक्षक तथा गुजरात-विद्यापीठ के धर्माध्यापक। सन् १९२१ में विनोबा साबरमती-आश्रम से निकलकर वर्धा-आश्रम की स्थापना के लिए गये। उनके साथ कुछ अन्य नवयुवक भी गये। विनोबाजी के सान्निध्य से आश्रम के कार्यों, चाल-चलन, बातचीत और विचार-विमर्श में विशुद्ध शिक्षा का वातावरण उत्पन्न हुआ। उन्होंने उन युवकों को कार्यादि तथा शिक्षा-दीक्षा में प्रवीण बना दिया। उनके एक छात्र दत्तोबा ने लिखा है : "सन् १९२७ में मैं विनोबा के आश्रम में गया। उस समय मेरी आयु १४ वर्ष की थी। पहले से मैं जानता था कि उनके आश्रम में स्कूली पद्धति से शिक्षा नहीं दी जाती। पूरे दिन केवल कामों में लगे रहना होता है। वहाँ शिल्पोद्योग में था, कपड़ा बुनना और गृह-कार्य में था भोजन बनाना। प्रातः-सायं विनोबा का प्रार्थना-प्रवचन; मध्याह्न में भोजनोपरान्त धान की निराई की बात और सन्ध्याकालीन भोजन के उपरान्त आग के पास बैठकर बातचीत करना—यही था पाठ्य-क्रम। आधा घंटा गीता का सामूहिक क्लास होता था। बड़े-बड़े लोगों की बातें सुनने को मिलती थीं। सर्वोपरि बात यह कि विनोबा स्वभाव से ही शिक्षक थे। किसी कमरे में तो क्लास नहीं लगता था, परन्तु जहाँ कहीं विनोबा रहते, वहीं ज्ञान-चर्चा होती। टहलते समय विनोबा के शब्दों में सुनने को मिलतीं, प्राचीन काल की वेदान्त की कहानियाँ। सुनने को मिलती, कबीर के दोहों की आलोचना।" इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि नयी तालीम के उद्भव से १४-१५ वर्ष पहले ही स्वाभाविक शिक्षक विनोबा नयी तालीम के शिक्षक बन गये थे। एक प्रसंग में विनोबा ने कहा है* : "जो बच्चे मुझसे पढ़े हैं, उन्हें मैंने केवल पढ़ाया नहीं है—उन्हें भोजन बनाकर खिलाया भी है। ये जो वल्लभस्वामी आदि मेरे छात्र हैं, उन्हें मैंने अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया

* विनोबा—श्री वीरेन्द्रनाथ गुह।

है।" प्राचीन भारत में आचार्यगण इसी प्रकार छात्रों के काम कर दिया करते थे। इसी तरह उनके जीवन में नयी तालीम के ज्ञान-विज्ञान की बुनियाद पड़ी थी।

कॉलेज में अध्ययन करते समय एक दिन एक अध्यापक के साथ शिक्षा-शास्त्र के सम्बन्ध में उनकी बहस हो गयी। उन्होंने समकक्ष-स्वरूप उत्कृष्टतर युक्ति, तर्क आदि प्रस्तुत किये। शिक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में रूसो का 'एमिली' नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शिक्षा-तत्त्व के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। सन् १९२३ में विनोबाजी ने एक सभा में इस ग्रन्थ की आलोचना के प्रसंग में शिक्षा के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की। उनके ये विचार पूर्णतः निर्दोष थे, इस बात से कोई भी शिक्षा-शास्त्री इनकार नहीं कर सकता। यह नयी तालीम के उद्भव से १४ वर्ष पहले की बात है। इतने पहले भी शिक्षा-सम्बन्धी उनके विचार कितने गम्भीर, शुद्ध और क्रांतिकारी थे, यह देख-कर आश्चर्य होता है।

इसी तरह, दृढ़ आधार पर शिक्षा-शास्त्री विनोबा का निर्माण हो रहा था। इसीलिए नयी तालीम का पाठ्य-क्रम तैयार करने के लिए डॉ० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में जो समिति बनायी गयी, उसमें उनके जैसे योग्यतम व्यक्ति को भी स्थान दिया गया।

नयी तालीम के संगठन-कार्य में वे आरम्भ से ही आर्यनायकमजी और श्रीमती आशादेवी की सहायता करते रहे। सन् १९३८ में वर्धा में नयी तालीम के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए जो केन्द्र खोला गया, उसका अध्यक्ष-पद विनोबाजी ने ग्रहण किया। वहाँ आचार्य विनोबा नयी तालीम के तत्त्व और प्रयोग के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करते थे। उस केन्द्र से संलग्न अभ्यासशाला में उन्होंने ही पहले-पहल नयी तालीम की पद्धति से पढ़ाना आरम्भ किया। उसी समय से ही वे जिस किसी रचनात्मक कार्य के सम्पर्क में आये, उसका नयी तालीम के दृष्टिकोण से निरीक्षण किया और उसे नयी तालीम का रंग देने की चेष्टा की। दिन-पर-दिन, मास-

पर-मास और वर्ष-पर-वर्ष वे प्रवचन, विचार-विमर्श और लेखों के माध्यम से नयी तालीम के गम्भीरतम तत्त्वों का उद्घाटन करके उन्हें शिक्षानुरागी लोगों तथा जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करते आ रहे हैं। नयी तालीम के विभिन्न अंगों पर वे प्रकाश डालते आ रहे हैं। नयी तालीम के विभिन्न अंगों को उन्होंने समृद्ध किया है। राष्ट्रीय शिक्षा का कोई पक्ष ऐसा नहीं है, जिस पर उन्होंने नवीन प्रकाश न डाला हो। उनकी 'शिक्षण-विचार' नामक पुस्तक में उसका सार संगृहीत है। कहा जा सकता है कि नयी तालीम तथा राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में उस तरह का और कोई उत्कृष्ट ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनके इन अमूल्य विचारों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

विनोबाजी द्वारा प्रवर्तित भूदान और ग्रामदान आन्दोलन के फल-स्वरूप नयी तालीम के प्रयोग का क्षेत्र अपूर्व रूप से प्रसारित हुआ है। अब सारे ग्रामदानी गाँव नयी तालीम के विद्यालय में परिणत हो सकते हैं। इसके लिए दीवारों से घिरे हुए संकीर्ण शिक्षा-भवनों की आवश्यकता नहीं रहेगी। ग्रामवासियों द्वारा नयी तालीम के ग्रहण किये जाने के लिए अब विशेष प्रयत्नों की भी आवश्यकता नहीं होगी। कारण, ग्रामदान के द्वारा सभी गाँवों में नयी तालीम के आधार पर नये समाज की रचना की प्रेरणा प्राप्त की है। केवल यही नहीं, इसके लिए कुछ गाँवों ने संकल्प भी किया है। अतः अब ग्रामदानी गाँवों के बच्चे, जवान, बूढ़े और स्त्रियाँ नयी तालीम के छात्रों का स्थान लेंगी। गाँव के सारे खेत और शिल्पोद्योग नयी तालीम की अभ्यास-शाला तथा गवेषणागार बनेंगे। गाँव के सभी कुशल किसान और कारीगर नयी तालीम के उद्योग-शिक्षक होंगे। फिर जिन गाँवों ने जीवन-निर्वाह के लिए अत्यावश्यक एक या अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध में स्वावलम्बी होने का संकल्प किया है, अथवा जिन गाँवों के भू-स्वामियों ने सर्वोदय का विचार समझकर गाँव के भूमिहीनों के लिए अपनी भूमि का षष्ठांश दान में दिया है, उनमें नयी तालीम के प्रवेश के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार हो चुका है।

पिछले ९ वर्षों से वे सारे देश की निरन्तर पदयात्रा करके नवसमाज-निर्माण के लिए कठोर तपस्या कर रहे हैं। इस तपस्या के बीच से नयी तालीम का एक क्रान्तिकारी विचार उनके अन्तर में उद्भासित हुआ है। यह विचार हालाँ कि पहले से उनके अन्तर में उपस्थित था, परन्तु इतने समय तक स्पष्ट नहीं हो सका था। यह विचार है—अहिंसक क्रान्ति और अहिंसक समाज-निर्माण की प्रक्रिया मूलतः एक शिक्षा प्रक्रिया है। हिंसात्मक क्रान्ति में भावावेग का ही प्रमुख स्थान होता है। भावावेग के वशीभूत होकर और उससे परिचालित होकर मनुष्य एक दिन में ही क्रान्ति कर बैठता है। किन्तु अहिंसक क्रान्ति के क्षेत्र में केवल भावावेग से काम नहीं चलता। यहाँ जितनी आवश्यकता विचार-क्रान्ति की होती है, उतनी ही क्रान्ति के विचार के अनुसार समाज-निर्माण की भी होती है। हिंसात्मक क्रान्ति के पीछे भी विचार-क्रान्ति की आवश्यकता होती है, किन्तु अब तक समाज का समस्त संगठन अल्पाधिक रूप से हिंसा के आधार पर चला आ रहा है। इसलिए समाज की प्रवणता अब भी उसी ओर है। यही कारण है कि हिंसात्मक विचार समझने में समाज को विशेष कठिनाई नहीं होती। अतः समाज के लिए वह कोई शिक्षा-प्रक्रिया नहीं है। किन्तु अहिंसक क्रान्ति का अर्थ है, अहिंसा का विचार समझकर उसके द्वारा उद्बुद्ध होना और तदनुसार समाज-निर्माण करना। ये दोनों ही बातें समाज के लिए नवीन शिक्षा-स्वरूप हैं। यह नवमानव के निर्माण का काम है, अतः इसे शिक्षा के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता है। इसी कारण विनोबाजी विचार-क्रान्ति-सहित नवसमाज निर्माण के समस्त काम को शिक्षा की दृष्टि से देखने और समझने के लिए कहते हैं और सभी रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम के रंग में रँगने पर जोर देते हैं। केवल इतना ही नहीं, वे सम्पूर्ण सर्वोदय-आन्दोलन को (अर्थात् सर्वोदय के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रोंके कामों को) नयी तालीम की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करने को कहते हैं। इसीलिए वे सूत्ररूप में कहते हैं: "यदि समाज शिक्षित

हो, तो वह शासनमुक्त होगा और यदि शिक्षाहीन हो, तो शासनपूर्ण होगा।"

विनोबा स्वभाव से ही आचार्य हैं। विनोबा ज्ञानी हैं। विनोबा सन्त हैं। आचार्य, ज्ञानी और सन्त—ये तीनों मिलकर उनके व्यक्तित्व को परम महिमा से मंडित कर देते है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा के पीछे आत्मज्ञान या आध्यात्मिकता की बुनियाद न रहने से वह सार्थक नहीं होगी। प्राचीन भारत की शिक्षा न्यूनाधिक रूप से आध्यात्मिकता की बुनियाद पर प्रतिष्ठित थी। किन्तु कालान्तर में हमारे देश की शिक्षा की वह बुनियाद निकल गयी। वर्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के युग में शिक्षा की बुनियाद में आत्मज्ञान अपरिहार्य है। कारण यदि विज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नियन्त्रित नहीं होगा, तो अनिवार्य रूप से परिणाम निकलेगा—घोर हिंसा। अतः अहिंसक समाज-निर्माण के लिए वर्तमान युग में शिक्षा की बुनियाद-स्वरूप आध्यात्मिकता का रहना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार विनोबाजी नयी तालीम या राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श को उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर शिखर पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं। ● ● ●

अध्याय ६ विद्यालय के उत्पादनों का विक्रय

विद्यालय के छात्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बाहर बिक्री करने की कल्पना पहले से ही चली आ रही है। मूलतः महात्मा गांधी की यही कल्पना थी। जाकिर हुसेन-समिति का भी यही अभिमत था। इस समिति ने भी कहा था कि सरकार को विद्यालयों में उत्पादित वस्तुएँ खरीद लेने का दायित्व ग्रहण करना होगा। तभी बुनियादी विद्यालय शिक्षकों के वेतन-व्यय के मामले में स्वावलम्बी हो सकेंगे। विनोबाजी इस समिति के सदस्य थे। उस समय कौन जानता था कि २० वर्ष बाद वे इस सम्बन्ध में एक विपरीत अथवा अधिक उन्नत नीति ग्रहण करने का प्रस्ताव रखेंगे। काल और स्थिति का परिवर्तन हुआ है। स्थिति में परिवर्तन आने के कारण नीति में भी परिवर्तन की आवश्यकता आ पड़ी है। विनोबाजी बम्बई-राज्य के मानसहिव्रे नामक स्थान में शिक्षकों के साथ प्रश्नोत्तर के प्रसंग में (२६-७-'५८ को) बोले कि विद्यालय में उत्पादित वस्तुओं की बिक्री करने की बुद्धि दुर्बुद्धि है। विद्यालय के छात्र-छात्राओं को ही उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का भोग और व्यवहार करने देना चाहिए। सन् १९३७ में अवस्था भिन्न थी। उस समय उन वस्तुओं की बिक्री से शिक्षकों के वेतन का खर्च चलाने की आवश्यकता थी, क्योंकि कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों में खर्च चलाने की सामर्थ्य नहीं थी। अब स्वाधीन देश की सरकार को अनिवार्य शिक्षा के व्यय के लिए अर्थ-व्यवस्था करना उचित है। जिस देश के अधिकांश बालक-बालिकाएँ पुष्टिकर भोजन नहीं पातीं और जिन्हें आवश्यकताभर वस्त्र नहीं मिलता, वहाँ उनके द्वारा उत्पादित खाद्य-पदार्थों और वस्त्रों का उपभोग उन्हें ही करने देना उचित है। केवल यह देखना उचित है कि जो कुछ उत्पन्न किया जा रहा है, उससे विद्यालय का संचालन-

व्यय पूरा किया जा सकता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "स्कूल में पैदा हुए माल बेचने के लिए न होकर काम में लाने के लिए होते हैं। उपयोग होने पर ही उनकी सार्थकता है। केवल उनका हिसाब रखना चाहिए कि हमारी पाठशाला में कितने मूल्य का माल उत्पन्न हुआ। गौरक्षण में इतना मक्खन तैयार हुआ और वह सबने मिलकर खाया। नगर में मक्खन भेजकर बेचना और उससे पैसा बनाना, इससे और जीवन-शिक्षा-योजना से कोई संबंध नहीं है। पंडित नेहरू कहते हैं कि "बच्चों को स्कूल में दोपहर का भोजन दिया जाय।" इसका अर्थ यह है कि वह समाज का ही कर्तव्य है। फिर आप उसे सरकार के द्वारा दीजिये, पालकों के द्वारा दीजिये या ग्रामदानी गाँवों के द्वारा दीजिये। लेकिन किसी भी तरह से बच्चों का पोषण भी शिक्षण का अंग है। वह खर्च शिक्षा-विभाग पर लादने की आवश्यकता नहीं है।"

इस प्रकार उन्होंने नयी तालीम के विचार के एक आवश्यक अंग को समृद्ध किया है।

प्रसन्नता की बात है कि केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शदाता बोर्ड ने भी यह सिद्धांत स्वीकार किया है कि स्कूलों में उत्पादित वस्तुएँ छात्रों के व्यवहार के लिए दी जानी चाहिए। ● ● ●

अध्याय ७ पूर्व-बुनियादी शिक्षा

इस देश में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था में प्राथमिक शिक्षा की प्रथम कक्षा से ही बच्चों की शिक्षा आरम्भ कर दी जाती थी—अब भी की जाती है। किंतु प्राथमिक शिक्षा आरंभ होने के पहले भी उनकी शिक्षा की व्यवस्था होना अत्यावश्यक है, यह बात देश के शिक्षा-शास्त्री और शिक्षानुरागी लोग अनुभव करते थे। बड़े-बड़े शहरों में पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण किये जाने के कारण शिशु-शिक्षा की थोड़ी-बहुत व्यवस्था थी और है। इसलिए महात्मा गांधी ने जब पहली बार नयी तालीम का प्रवर्तन किया, तब कुछ लोगों ने यह विचार व्यक्त किया कि सात वर्ष की आयु से पहले ही शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए। उनकी इस बात में युक्ति थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अस्तु, महात्मा गांधी सन् १९४४ में पूर्व-बुनियादी शिक्षा का विचार लेकर जेल से बाहर आये। उनकी शिशु-शिक्षा की कल्पना शिशु-शिक्षा-सम्बन्धी साधारण विचारधारा की तुलना में क्रान्तिकारी थी। कारण उनकी कल्पना यह थी कि जब शिशु माँ के गर्भ में आये, तभी से शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए। विनोबाजी उनसे भी आगे बढ़ जाना चाहते हैं। वे कहते हैं : "सन्तान की अपनी एक विशेषता होती है। वह अपने माता-पिता का चुनाव करने के बाद गर्भ से पैदा होती है। इसीलिए सद्गुण-सम्पन्न माता-पिता की सन्तान में कुछ विशेष गुण देखने को मिलते हैं। यदि आरम्भ से ही उन गुणों की रक्षा की व्यवस्था हो, तो बच्चा बहुत ही गुणवान् और विचारशील बनेगा।" इसका अर्थ यह है कि जो लोग सद्गुण-सम्पन्न सन्तान के माता-पिता होना चाहें, उन्हें अपने जीवन का सद्भावपूर्ण ढंग से निर्माण करना होगा और अपने घर तथा आसपास के वातावरण को ऐसा बनाना होगा,

जिससे वे सद्‌गुण-सम्पन्न बालक के परिपूर्ण विकास में उपयोगी सिद्ध हों। तभी प्रकृति के नियमानुसार सद्‌गुण-सम्पन्न बालक का उनके घर जन्म होगा। अतः बालक के जन्म के बहुत पहले से ही माता-पिता के जीवन-निर्माण के माध्यम से पूर्व-बुनियादी शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए। पूर्व-बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में कितनी गम्भीर और क्रांतिकारी विचारधारा है!

घर ही शिशु-शिक्षा का वास्तविक शिक्षालय होता है—वही एकमात्र शिक्षालय होना भी चाहिए। किन्तु इसके बावजूद वर्तमान स्थिति में शिशु-शिक्षा की व्यवस्था घर से बाहर करने की आवश्यकता पड़ती है। कारण पाश्चात्य देश उद्योग-प्रधान है। वहाँ के अधिकांश माता-पिताओं को काम के कारण सारा दिन घर से बाहर रहना पड़ता है। इसलिए छोटे बच्चों की देखभाल का पूरा मौका उन्हें नहीं मिलता। इसी कारण वहाँ शिशु-शिक्षा की व्यवस्था पृथक् ढंग से घर के बाहर करनी पड़ी है। इस देश में भी माता-पिताओं को काफी समय घर से बाहर रहना पड़ता है। फिर इस देश के अधिकांश परिवार गरीब हैं। उनके घर और पास-पड़ोस का वातावरण अज्ञता और कुसंस्कारों से परिपूर्ण होता है। अतः आज के घरों में बच्चों का सर्वांगीण विकास हो सकना सम्भव नहीं है। इस देश के परिवारों में और उनके आस-पास आवश्यक संस्कारमूलक वातावरण पैदा करना कष्टसाध्य कार्य है और उसमें पर्याप्त समय लगेगा। ऐसी स्थिति में इस देश में भी घर से बाहर शिशु-शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है। किन्तु उक्त शिक्षा-व्यवस्था होने पर भी, स्कूल के समय के बाद, बच्चों को घर में बहुत-सा समय बिताना पड़ता है। अतः शिशु-शिक्षा-व्यवस्था के अंगस्वरूप बच्चे के घर और आसपास के वातावरण को भी ऐसा बनाने की आवश्यकता है, जिससे शिक्षालय और घर के वातावरण में असंगति न रहे। इसलिए पूर्व-बुनियादी शिक्षा का एक प्रधान काम है, बच्चों के पालन-पोषण और विकास के सम्बन्ध में माता-पिता को शिक्षित करना और उनके घर तथा पास-पड़ोस के वातावरण में

आवश्यक सुधार करना। महात्मा गांधी कहा करते थे कि बच्चे ही माता-पिता के वास्तविक गुरु हैं। शिक्षा की दृष्टि से सन्तान के कल्याण के लिए माता-पिता को चाहिए कि वे बच्चे के सामने न तो झूठ बोलें और न स्वार्थपरता दिखायें। कारण बच्चे की आँखें सदा माता-पिता के कार्यों का निरीक्षण करती रहती हैं। पूर्व-बुनियादी के सम्बन्ध में विनोबा-जी कहते हैं : "मेरे विचार में छोटे बच्चों की शिक्षा (जिसे हम पूर्व-बुनियादी शिक्षा कहते हैं) परिवार में ही होनी चाहिए। माता-पिता ही बच्चे के पहले शिक्षक होते हैं और अन्यान्य शिक्षकों की अपेक्षा उनका अधिकार भी अधिक होता है, तब, यह आवश्यक है कि उनमें शिक्षा देने लायक योग्यता हो। अभी वैसी स्थिति नहीं है। इसलिए पूर्व-बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है और उसकी रूपरेखा भी तैयार करनी पड़ती है। परन्तु आदर्श तो यह होना चाहिए कि बुनियादी तालीम और प्रौढ़-शिक्षा का इतना प्रसार हो कि प्रत्येक परिवार एक विद्यालय में परिणत हो जाय। स्मृतिकारों ने यह भी उपदेश दिया है कि गर्भाधान के समय से बच्चे की शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए। जब तक यह आदर्श प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक अन्य लोगों को माता-पिता के प्रतिनिधि के रूप में यह काम करना होगा।" अतः शिशु-शिक्षा को उपलक्ष्य बनाकर वयस्कों को शिक्षा देना तथा घर और विद्यालय, दोनों के सहयोग से बच्चों का विकास करना शिशु-शिक्षा-व्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। इसलिए अभी शिशु-शिक्षा का कार्यक्रम घर और विद्यालय, दोनों जगह चलाना होगा। शिक्षक विद्यालय आरम्भ होने के एक घंटा पहले और विद्यालय बन्द होने के बाद संध्या-समय बच्चों के घर-घर जाकर उनके माता-पिता आदि के साथ सम्पर्क दृढ़ बनायेंगे और उनके अभ्यास आदि तथा उनके घर और आसपास के वातवरण में आवश्यक संस्कार पैदा करने की चेष्टा करेंगे। इस दृष्टि से पूर्व-बुनियादी कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं है—वह प्रौढ़-शिक्षा में ही शामिल है।

पूर्व-बुनियादी : दो भागों में

साधारण तौर पर ढाई वर्ष से छह वर्ष तक की आयु पूर्व-बुनियादी का शिक्षा-काल माना जाता है। बच्चे के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से यह समय इतना लम्बा है कि किसी एक प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती। अतः उसे दो भागों में बाँटा गया है : (१) दो-ढाई वर्ष से चार वर्ष तक और (२) चार वर्ष से छह वर्ष तक। पहले भाग के डेढ़-दो वर्षों में उनके शारीरिक विकास, भोजन, सोने और जागने के समय, दूसरों से मिलने की व्यवस्था आदि की ओर विशेष रूप से दृष्टि रखने की आवश्यकता पड़ती है। पाश्चात्य देशों में और इस देश के बड़े-बड़े शहरों में शिशु-शिक्षा की जो व्यवस्था है, उसमें बच्चों की शिक्षा के इस स्तर को 'नर्सरी' कहा जाता है। जिस नर्सरी स्कूल में और भी कम आयु के बच्चे लिए जाते हैं (जिनके माता-पिता साधारणतः बाहर काम करते हैं), उसे 'क्रेश' (Creche) कहा जाता है। दूसरे भाग की दो वर्षों की शिक्षा के आधार होंगे—मानसिक विकास, अभ्यास एवं प्रवृत्तियों की परिशुद्धि तथा रचनात्मक पथ पर उनका संचालन। सामाजिक और सांस्कृतिक सद्गुणों की सृष्टि भी इसमें शामिल होगी। शिशु-शिक्षा के इस दूसरे स्तर को 'इन्फैण्ट्स स्कूल' अथवा 'किंडरगार्टन' कहा जाता है।

पहले कहा गया है कि इस देश के बड़े-बड़े शहरों में पाश्चात्य पद्धति पर शिशु-शिक्षा की थोड़ी-बहुत व्यवस्था है। शिशु-शिक्षा की मुख्यतः दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं : (१) फ्रोयबेल की किंडरगार्टन-पद्धति और (२) मांटेसरी-पद्धति। इन दोनों पद्धतियों का स्वरूप क्या है और पूर्व-बुनियादी तालीम में इन्हें किस हद तक ग्रहण किया जाता है, इसकी यहाँ हम संक्षेप में चर्चा करेंगे।

किंडरगार्टन-पद्धति

फ्रोयबेल की किंडरगार्टन-पद्धति की शिक्षा-व्यवस्था ५ से ७ वर्ष तक

के बच्चों के लिए है। इस पद्धति में बच्चों की शिक्षा के लिए कई निर्दिष्ट कार्यों और खेलों की व्यवस्था की जाती है। फ्रोयबेल बहुत बड़े दार्शनिक और विचारक थे। उन्होंने बच्चों के जीवन, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और प्रवणताओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त जिन सब क्रियाओं और कार्यों की व्यवस्था की, उनके द्वारा बच्चों की स्वाभाविक क्रियाओं और पारस्परिक चेष्टाओं का भलीभाँति प्रदर्शन हो सकता है—ऐसी उनकी मान्यता थी। खेल फ्रोयबेल की पद्धति का एक मुख्य अंग है। अतः इसके लिए उन्होंने कई विशिष्ट शिक्षाप्रद खिलौनों (Gifts of educative toys) का आविष्कार किया। यह उनकी पद्धति की एक विशेषता है। उनकी धारणा थी कि असली तत्त्व मनुष्य के भीतर छिपा रहता है। प्रतीक-स्वरूप कतिपय काल्पनिक क्रियाओं द्वारा उसे प्रकाशित किया जा सकता है। इन सब काल्पनिक क्रियाओं को गणित के विभिन्न आकारों में भी प्रदर्शित किया जा सकता है। एक उदाहरण लीजिये। सबको मालूम है कि बच्चों को एक जगह जमा करना हो, तो वृत्ताकार में उन्हें जमा करना सर्वाधिक सुविधाजनक होता है। किन्तु फ्रोयबेल द्वारा प्रवर्तित खेलों में वृत्ताकार में जमा करने की व्यवस्था इसलिए की गयी है कि वे उसके द्वारा बच्चों को सामुदायिकता एवं एकता की शिक्षा देना चाहते हैं। खेलों के अलावा उन्होंने अन्य जिन कामों का प्रवर्तन किया, उनमें बच्चों की कल्पना-शक्ति का विकास ही मुख्य उद्देश्य है। बच्चों की कल्पना-शक्ति के सम्बन्ध में उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उनके प्रकाश्य कामों के माध्यम से उनके आन्तरिक तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने बच्चों की शिक्षा में उनकी कल्पना-शक्ति के विकास पर बड़ा बल दिया। उन्होंने बच्चों के लिए जिन सब आकर्षक कार्यों का प्रवर्तन किया, उनमें बागवानी का एक प्रमुख स्थान है। किन्तु उन्होंने उनके लिए वास्तविक बागवानी की सिफारिश नहीं की, बल्कि प्रतीक-स्वरूप कृत्रिम क्रियाओं की व्यवस्था की। फ्रोयबेल ने बच्चों की कल्पना-शक्ति के विकास के लिए कृत्रिम क्रियाओं

पर इतना बल क्यों दिया था, इसका पता बच्चों की खेल-सम्बन्धी प्रवृत्तियों और प्रवणताओं पर ध्यान देने से चल जाता है। बच्चे स्वतःप्रवृत्त होकर जो सब खेल खेलते हैं, उनमें से अधिकांश दैनिक घरेलू जीवन की क्रियाओं के अनुकरण मात्र होते हैं। अनेक लोगों ने लक्ष्य किया होगा कि बच्चे अपनी माँ के भोजन बनाने की नकल करते हैं। परन्तु जिन सब उपकरणों का वे प्रयोग करते हैं, वे वास्तविक नहीं होते। वे भोजन बनाने के लिए न तो असली अँगीठी का प्रयोग करते हैं, न कोयले का और न खाद्य सामग्रियों का। स्वेच्छा से कृत्रिम वस्तुओं का प्रयोग करते हैं—नकली अँगीठी बनाते हैं, चावल के बदले धूल या सुर्खी काम में लाते हैं और सब्जियों की जगह ईंट-पत्थर के टुकड़ों से काम चलाते हैं। इसी प्रकार भोजन बनाकर वे घर की खूँटी आदि को मनुष्य मानकर उसके समक्ष उन्हें खाने के लिए रख देते हैं। बच्चे स्वतःप्रवृत्त होकर जो दूसरे खेल खेलते हैं, उन पर ध्यान देने से पता चलता है कि कल्पना-शक्ति के अनुशीलन की ओर उनका झुकाव रहता है, अर्थात् उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कृत्रिम वस्तुओं के माध्यम से कल्पना के सहारे वास्तविकता तक पहुँचने की होती है। किन्तु फ्रोयबेल द्वारा प्रवर्तित कुछ काम ऐसे हैं, जिनमें कल्पना और वास्तविकता की दूरी इतनी अधिक है कि कल्पना के द्वारा सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। बच्चों की कल्पना-शक्ति के विकास के लिए कुछ कल्पनात्मक खेलों अथवा कामों की व्यवस्था निस्सन्देह आवश्यक है, परन्तु उनमें कल्पना और सत्य के मध्य सीधा सम्पर्क होना चाहिए। घर तथा पास-पड़ोस के जीवन के साथ उनका निकट सम्बन्ध होना आवश्यक है, अन्यथा उनका अभीष्ट उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। फ्रोयबेल द्वारा प्रवर्तित अधिकांश खेल और काम अवास्तविक तथा कृत्रिम हो गये हैं। इसलिए अब उनका बहुत कम व्यवहार होता है।

मांटेसरी-पद्धति

फ्रोयबेल के बाद शिशु-शिक्षा की नवीन पद्धति को जन्म देनेवालों में

सर्वप्रमुख हैं, मादाम मांटेसरी। मांटेसरी स्कूल तीन से छह वर्ष तक के बच्चों के लिए होते हैं। उन्होंने अपने देश इटली की राजधानी रोम में एक नवीन पद्धति से स्वल्पबुद्धि बच्चों की शिक्षा का परीक्षण आरम्भ किया और उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि उक्त पद्धति साधारण बच्चों के लिए भी उपयोगी होगी। उनके द्वारा प्रवर्तित पद्धति की विशेषता है, इन्द्रिय-शिक्षा। उन्होंने इन्द्रिय-शिक्षा के लिए अनेक सरंजाम की व्यवस्था की। ये सब सरंजाम ज्यामिति के विविध आकारों पर आधारित हैं। उनकी पद्धति में आरम्भ से ही लिखना-पढ़ना सिखाया जाता है। उनके द्वारा प्रवर्तित समग्र शिक्षा एक सुनिर्दिष्ट व्यवस्था के अन्दर बँध गयी है। इसलिए मांटेसरी-पद्धति में शिक्षिका को छात्रों को कुछ विशेष दिखाना-समझाना नहीं पड़ता। इसमें बच्चों की स्वतंत्रता बनी रहती है और वे आत्मनिर्भर बननेका अवसर पाते हैं।

दोनों की तुलना

अब फ्रोयबेल की किंडरगार्टन-पद्धिति और मांटेसरी-पद्धति पर थोड़ा तुलनात्मक ढंग से विचार किया जाय। (१) फ्रोयबेल की पद्धति दर्शन पर आधारित है। खेल आदि के माध्यम से बच्चे के मन में सार्वजनिक ऐक्य का बोध जाग्रत करना शिक्षा का उद्देश्य है। मांटेसरी-पद्धति के मूल में ऐसा कोई दार्शनिक उद्देश्य नहीं है। उसके पीछे है, विज्ञान। मांटेसरी थीं डॉक्टर और वैज्ञानिक। (२) सामूहिक ढंग से शिक्षा देना फ्रोयबेल की विशिष्टता है। उसमें जो कुछ भी किया जाता है, वह सामूहिक रूप से। शिक्षा में सामाजिक वातावरण तैयार करने के महत्त्व की ओर फ्रोयबेल ने सबसे पहले लोगों का ध्यान आकर्षित किया। दूसरी ओर, मांटेसरी व्यक्तिगत आधार पर शिक्षा देने के पक्ष में थीं। वे बच्चे को अपनी गति और ढंग से काम करने की स्वतंत्रता देती हैं। फ्रोयबेल की पद्धति में कक्षाओं में पढ़ाई चलती है और नियमित रूप से समयपत्रक (Routine) का अनुसरण किया जाता है। किन्तु मांटेसरी-पद्धति में

कक्षाओं के भीतर शिक्षा देने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। (३) फ्रोयबेल का विश्वास था कि खेल बच्चों की क्रियाशीलता के केन्द्र हैं। खेल बच्चों के विकास के सर्वोच्च स्तर हैं। शैशवावस्था में मनुष्य की पवित्रतम आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति खेलों के माध्यम से होती है। इसलिए शिशुओं को शिक्षा देने का वास्तविक माध्यम खेल ही हैं। मांटेसरी यह नहीं मानतीं कि खेलों का कोई विशेष शिक्षाप्रद गुण है। वे इन्द्रिय-शिक्षा पर ही विशेष बल देती हैं और कहती हैं कि ठीक समय पर ठीक ढंग से इन्द्रिय-शिक्षा होने से बच्चे की बुद्धि-वृत्ति का सम्यक्-विकास कर सकना सरल हो जाता है। (४) फ्रोयबेल बच्चों की कल्याण-शक्ति के विकास के लिए परी आदि की कहानियाँ सिखाने के पक्षपाती हैं, परन्तु मांटेसरी इसके पक्ष में नहीं हैं। उनका वैज्ञानिक मन वास्तविकता के बाहर कल्पना का विकास करने के पक्ष में नहीं है।

प्रचलित बालमन्दिर

इस देश के साधारण शिशु-विद्यालयों में कहीं भी हू-ब-हू फ्रोयबेल या मांटेसरी पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता। हाँ, इन दोनों पद्धतियों की मूल नीतियों में से अनेक को अवश्य स्वीकार किया जाता है। उनके व्यवस्थित सरंजाम का भी विशेष व्यवहार नहीं किया जाता। बच्चों को व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। इन सब जीवन-क्रियाओं में अनेक प्रकार के काम होते हैं। तब बच्चों का काम ही है खेलना। विभिन्न वय के बच्चों के लिए विभिन्न प्रकार के कामों और खेलों की व्यवस्था की जाती है। खेल के लिए अनेक प्रकार के खिलौनों की व्यवस्था की जाती है। इन खेलों से बच्चे जितना आनन्द प्राप्त करते हैं, इनके कारण उनकी इंद्रियों और बुद्धि का भी उतना ही अनुशीलन होता है। आरम्भ से ही बच्चों को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विभिन्न काम करने की शिक्षा दी जाती है। फल-स्वरूप, वे बड़ों की सहायता छोड़कर स्वाधीन रूप से अपनी आवश्यकता

के काम करना सीखते हैं और विद्यालय में सामूहिक ढंग से समाज के कामों की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

पूर्व-बुनियादी : एक विचार

नयी तालीम कोई पद्धति नहीं, बल्कि एक विचार है। पूर्व-बुनियादी नयी तालीम का एक अंग है। अतः वह भी एक विचार है। इसलिए पूर्व-बुनियादी में यह बात नहीं मानी जाती कि बच्चों की शिक्षा के लिए किसी एक विशेष पद्धति का ही अनुसरण किया जायगा। प्रचलित पद्धतियों की जो कुछ अच्छाइयाँ हैं और जिनका नयी तालीम की नीति के साथ सामंजस्य है, उन्हें पूर्व-बुनियादी में ग्रहण किया जाता है। इसलिए किंडरगार्टन, मांटेसरी आदि प्रचलित शिशु-शिक्षा-पद्धतियों में जो कुछ नयी तालीम के विचार के अनुकूल है, उसे पूर्व-बुनियादी शिक्षा में ग्रहण किया गया है। 'शिक्षा-पद्धति—सहज शिक्षण' शीर्षक अध्याय में किये गये विवेचन से यह स्पष्ट है कि नयी तालीम सहज शिक्षा की नीति पर आधारित है और किसी विशेष शिक्षा-पद्धति द्वारा शिक्षा देना सहज शिक्षण के लिए घातक है। इसलिए विनोबाजी कहते हैं कि शिक्षा बीज-गणित का कोई संकेत-सूत्र (Formula) नहीं है कि उनके अनुसार हिसाब लगाने से हमेशा सही उत्तर निकलेगा। पूर्व-बुनियादी में जीवन-क्रिया, खेल और रचनात्मक अथवा उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा दी जाती है। इस दृष्टि से मांटेसरी, किंडरगार्टन आदि प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों के साथ पूर्व-बुनियादी का सादृश्य तो है, किन्तु इस पद्धतियों में विभिन्न उद्देश्यों से विशेष ढंग से तैयार किये गये सरंजाम का उपयोग किया जाता है। पूर्व-बुनियादी की दृष्टि से उनके द्वारा सहज भाव से शिक्षा नहीं हो सकती। पूर्व-बुनियादी में बच्चों की स्वाभाविक जीवन-यात्रा और आसपास की परिस्थिति वास्तविकता के साथ उनके खेलों और कामों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध पर विशेष बल दिया जाता है। इस बात का विशेष रूप से खयाल रखा जाता है कि जो सरंजाम काम में लाये जायँ, वे सीधे-सादे

और आसानी से मिलनेवाले हों; साथ ही वे कृत्रिम न हों। यों स्वाभाविक जीवन-यात्रा और वातावरण की वास्तविकता के क्षेत्र में जो कुछ उपयोगी है, उसे ही ग्रहण किया जाता है। इस कारण ऐसा लग सकता है कि स्थान, काल, वातावरण और परिस्थिति के पार्थक्य के अनुसार पूर्व-बुनियादी में विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न पद्धतियाँ ग्रहण की जाती हैं। किन्तु नीति और विचार में कोई अन्तर नहीं आता। स्थान और वातावरण के भेद के अनुसार विभिन्न स्थानों में विभिन्न सरंजामों और शिक्षा-कौशल का आश्रय लिया जा सकता है। सेवाग्राम में एक पद्धति, नागपुर में दूसरी पद्धति और तीसरी जगह तीसरी पद्धति—इस तरह हो सकता है।

बताया जा चुका है कि मांटेसरी-पद्धति में इन्द्रिय-शिक्षण के लिए अनेक प्रकार के शिक्षाप्रद, परन्तु बँधे-बँधाये यंत्रों और सरंजामों की व्यवस्था रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय को अन्यान्य इन्द्रियों से अलग ढंग से शिक्षा दी जाती है। पूर्व-बुनियादी में इन्द्रिय-शिक्षा के लिए किसी यंत्र आदि की व्यवस्था नहीं की जाती। उसमें उपकरणों के आकार-प्रकार के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है। स्थान और परिस्थिति के अनुसार, इन्द्रिय-शिक्षा के लिए सभी प्रकार के उपयोगी उपाय काम में लाये जा सकते हैं। उसमें शास्त्रीयता के नाम पर किसी भी कृत्रिम वस्तु का उपयोग नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं: "जिस गाँव में नदी है, वहाँ क्या तैराकी के द्वारा बच्चों के विकास की व्यवस्था नहीं की जायगी? इन्द्रिय-शिक्षा के लिए गाँव का स्वाभाविक वातावरण क्या अनकूल नहीं होगा? गोबर उठाने और फूल चुनने आदि जैसे काम क्या शिक्षा देने के साधन नहीं माने जायँगे? इन सब कामों के द्वारा क्या शिक्षा नहीं दी जायगी?" विनोबाजी पूर्व-बुनियादी में इन्द्रिय-शिक्षण पर विशेष बल देने को तैयार नहीं हैं। स्वाभाविक जीवन-क्रिया के अनन्तर इन्द्रिय-विकास अपने-आप हो सकता है और होता है। इन्द्रियों की अभिरुचि अच्छाइयों की ओर ले जाना इन्द्रिय-विषयक शिक्षा का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। विनोबाजी कहते हैं: "पशुओं का भी तो इन्द्रिय-

विकास होता है। उन्हें क्या अपने इन्द्रिय-शिक्षण के लिए किसी मांटेसरी स्कूल में जाना पड़ता है ? बाघ की एक इन्द्रिय का विशेष रूप से विकास होता है। अन्य पशुओं में यह बात नहीं होती। बाघ की घ्राणेन्द्रिय अत्यन्त प्रखर होती है। सभी ने देखा होगा कि परिस्थिति जितनी विषम होती है, इन्द्रियों का विकास उतना ही अधिक होता है। इसलिए इन्द्रिय-विकास कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक और प्रधान बात है—इन्द्रियों की रुचि को परिशुद्ध करना। कृत्रिम जीवन-यापन करने से इन्द्रियाँ परिशुद्ध नहीं होतीं, उलटे विकृत हो जाती हैं। इन्द्रियों की विकृति की यह प्रक्रिया शहर और गाँव, दोनों क्षेत्रों में चल रही है।"

बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने जो कुछ कहा है, उसे यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उन्होंने कहा है : "हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि सभी बच्चे आकर्षित होकर आ सकें। जो बच्चे नहीं आयेंगे, उनके लिए हम स्वयं दोषी होंगे। छोटे-छोटे बच्चों को आकर्षित करने के लिए हमें यथेष्ट आकर्षण की सृष्टि करनी पड़ेगी। हमारे पास जो भी बच्चे आयेंगे, वे हमारी सन्तान-स्वरूप होंगे—यह भावना लेकर चलना पड़ेगा। यदि उनका मन सबल हो जाय और वे साधारण सभ्यता सीख जायँ, तो हमें अपना काम सफल मानना होगा। बच्चे तोड़-फोड़ करना सीखते हैं, मैं इसमें विश्वास नहीं करता। मैंने अनेक बच्चों को शिक्षा दी है, किन्तु किसीको भी दुष्ट नहीं बनने दिया। बच्चे यदि मेरे हाथ में रहें, तो मैं उन्हें ऐसी शिक्षा दूँगा कि बचपन से ही वे दुष्टता नहीं करेंगे—चीजें तोड़ना-फोड़ना नहीं सीखेंगे। इसके विपरीत वे जो कुछ भी करेंगे, वह सृजनात्मक होगा।

"मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि बच्चे जन्म से ही अच्छे या बुरे होते हैं। हाँ, उनका स्वभाव अवश्य कुछ-कुछ भिन्न प्रकार का होता है। उसे ठीक कर लेना होगा। इससे यह समझना होगा कि जब सन्तान माँ के गर्भ में आती है, तभी से उसकी शिक्षा आरंभ हो जाती

है। इसी आधार पर वयस्कों को शिक्षा देना उचित है। बड़ों के संस्कार बच्चों पर असर डालते हैं और उन्हींके आधार पर बच्चों के संस्कार बनते हैं। बच्चों के हाथ-पाँव हमेशा हिलते-डुलते रहते हैं। कभी-कभी वे स्वयं ही कुछ करते रहते हैं। किन्तु उनका हर काम रचनात्मक होता है, ध्वंसात्मक नहीं।

"दो-ढाई वर्ष के बच्चे यदि मेरे हाथ में आयें और जैसा मैं सिखाऊँ, उसी ढंग से वे अपने हाथ-पाँव का व्यवहार करते रहें, तो उनकी सीमातीत रूप से उन्नति होगी। उन्हें प्रेम से सिखाना होगा—मार-पीटकर नहीं।"

बच्चों को बुनियादी शिक्षा पाने के योग्य पात्र बनाना पूर्व-बुनियादी का लक्ष्य होना चाहिए। बच्चों के विशिष्ट चाल-चलन, गति-प्रकृति और मनस्तत्त्व का विवेचन करके पूर्व-बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए। बच्चे हमेशा हाथ-पाँव चलाते रहते हैं। वे कुछ-न-कुछ करते रहना चाहते हैं। माता-पिता तथा शिक्षक का काम होगा, उनकी इस सक्रियता को सही रास्ते पर ले जाना। छोटे बच्चे जब माँ को तंग करते हैं, तब माँ उन्हें कुछ काम बता देती है: "वह कटोरा ले आओ, वह कपड़ा वहाँ रख आओ, वहाँ से थोड़ा पानी ले आओ" आदि। बच्चे ये काम करना पसन्द करते हैं और अक्लान्त भाव से इन्हें करते हैं। उनके हाथ-पाँव के संचालन को इस ढंग से मोड़ना होगा कि उनमें अपनी जीवन-यापन के लिए आवश्यक काम करने की प्रवृत्ति पैदा हो। बच्चों की एक और स्वाभाविक प्रवणता यह है कि वे हर समय स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनने के लिए सचेष्ट रहते हैं। दूसरे के हाथ से खाना उन्हें पसन्द नहीं आता—वे अपने हाथ से खाना चाहते हैं। उन्हें कपड़े पहनाने जाइए, तो वे स्वयं पहनने के लिए उतावले हो उठेंगे। नहाने के मामले में भी यही बात है। क्रियाशीलता और स्वावलम्बन-प्रवणता, बच्चों के ये दो स्वाभाविक गुण ही शिशु-शिक्षा की आधार-शिलाएँ हैं। इनको आधार बनाकर अग्रसर होने से बच्चों का सर्वांगीण विकास सहजसाध्य हो जायगा।

रचनात्मक क्रियाशीलता के साथ-साथ बच्चों के गुण-विकास की ओर ध्यान देना उचित है। प्रेम के साथ आज्ञा-पालन सिखाने से वे नम्रता-पूर्वक आज्ञा मानना सीखेंगे। बच्चे स्वभाव से ही अनुकरणप्रिय होते हैं। इसलिए बच्चों में सद्‌गुणों के विकास का प्रधान उपाय है—माता-पिता और शिक्षक-शिक्षिकाओं का सद्‌गुण-सम्पन्न होना। तभी वे उनका अनुकरण करके अच्छी आदतें सीखेंगे।

जिस प्रकार अच्छी आदतों से बच्चों का गुण-विकास होता है, उसी प्रकार खेल से उनका व्यक्तित्व प्रकाशित और विकसित होता है। खेल से यह प्रकट होता है कि बच्चे में क्या-क्या गुण हैं। इस पर ध्यान रखना उचित है कि बच्चों का खेल काम में और काम खेल में परिणत हो। गांधीजी कहते थे कि उन्होंने बारह वर्ष की आयु तक जो कुछ सीखा, वह खेल के माध्यम से ही। श्रीमती शान्ता नारूलकर ने अपनी 'पूर्व-बुनियादी' पुस्तक में लिखा है कि छोटे बच्चों के खेल के उपकरण ऐसे होने चाहिए कि वे (१) उन्हें सक्रिय बनायें, (२) उनके व्यक्तित्व का विकास करें, (३) उनकी बुद्धि के विकास में सहायक हों, (४) उनकी सृजन-शक्ति को बढ़ायें और (५) जीवन-यापन के वातावरण के साथ उनका मेल रहे।

बहुत छोटे बच्चों को कोई निर्दिष्ट खेल या काम देना सम्भव नहीं है। उनके चारों ओर का वातावरण ऐसा रखना होगा कि वे जिस प्रकार चाहें, खेल सकें और उनसे उसी तरह खेलवा भी लिया जाय। इसलिए पूर्व-बुनियादी का स्थान बड़ा होना चाहिए। फिर घर में भी उनके लिए बड़ा स्थान होने की आवश्यकता है। बच्चों के शरीर और मन की स्वतन्त्रता तथा स्वास्थ्य के लिए इसकी विशेष रूप से आवश्यकता है। कारण वे एक स्थान पर अधिक देर तक स्थिर नहीं रह सकते। जिन घरों में स्थान कम होता है, उनके बच्चों पर ध्यान देने से पता चलता है कि वे प्रायः घर से बाहर भाग जाते हैं और इधर-उधर दौड़ते हैं।

छोटे बच्चों के काम और खेल के उपकरण इस प्रकार सजाकर रखे

जाने चाहिए कि वे स्वयं उन्हें लेकर काम तथा खेल में मगन हो सकें। शिक्षक का काम केवल उन्हें खेल की प्रक्रिया दिखा देना और इस बात का ध्यान रखना होगा कि वे उन्हें इधर-उधर फेंककर नष्ट न करें—काम और खेल के बाद वे उन्हें सँभाल कर रख दें।

चार वर्ष से छह वर्ष तक के बच्चों को खेल के अतिरिक्त कुछ नियमित काम भी दिये जाने चाहिए—जैसे, (१) सफाई, (२) भोजन, (३) पानी भरना, (४) सूत कातना, कपास साफ करना, तुनाई करना और पाँज करना, (५) खेती, (६) संगीत और (७) चित्रकला। पूर्व-बुनियादी में दल-नायक की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। सफाई में शरीर की सफाई, दाँतों की सफाई, हाथ-पाँव और मुँह की सफाई, बाल झाड़ना, नख काटना, कपड़े धोना, अनाज साफ करना आदि काम आते हैं। शरीर की सफाई घर में करने का काम है। जो बच्चे घर में नियमित रूप से ये काम नहीं करेंगे, उन्हें ये काम सिखाने पड़ेंगे। भोजन भी सफाई में ही शामिल है। बीच-बीच में घर से जलपान लाने के लिए कहकर और जहाँ शिक्षालय में जलपान की व्यवस्था होगी, वहाँ बच्चों के साथ बैठकर शिक्षक उन्हें सिखायेंगे कि साफ-सुथरे ढंग से किस प्रकार खाया जाता है। पानी किस प्रकार साफ किया जाता है और गन्दा पानी पीने से तथा उससे भोजन बनाने से बीमारी होती है—ये बातें पानी भरने के क्रम में उन्हें सिखानी होंगी। सूत कातने का काम कपास साफ करने के काम से शुरू किया जाना चाहिए। फिर वे तकली पर सूत कातना सीखेंगे। खेती के काम में वे क्यारियाँ बनाकर शाक-सब्जी उपजाना सीखेंगे। मिट्टी खोदना, खाद देना, बीज बोना, चारा रोपना, पौधों की सिंचाई करना, घास-पात साफ करना आदि काम वे सीखेंगे। उन्हें ऐसे गीत और कहानियाँ आदि सिखायी जानी चाहिए, जिनसे उनका मनोरंजन भी हो और सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से शिक्षा भी मिले। चित्रकला में मुख्यतः हस्तकौशल सिखाया जाय और उनके माध्यम से कल्पना आदि सहज चित्रांकन सिखाये जायँ। चित्रकला के

लिए खल्ली का टुकड़ा, लकड़ी की पट्टी, मिट्टी का कटोरा पौधों तथा घास से निर्मित तूलिका, रंगीन सूत आदि सीधे-सादे उपकरण काम में लाये जायँ। अन्यान्य कामों के साथ-साथ प्रकृति-निरीक्षण करना भी सिखाया जाना चाहिए—जैसे, (१) विभिन्न ऋतुओं में वे धूप, वर्षा, मेघ, बिजली, गर्मी, शीत, शिशिर, कुहासा आदि देखेंगे और उनके सम्बन्ध में चर्चा करेंगे, (२) भ्रमण और काम के समय वे विभिन्न प्रकार के पेड़ों, जीव-जन्तुओं तथा कीट-पतंगों को पहचानना सीखेंगे। वे प्रकृति-निरीक्षण करेंगे और यह जाने-समझेंगे कि कौन मनुष्य के किस काम आता है।

यहाँ एक बात का उल्लेख करने की आवश्यकता है। जन्म के बाद १०-१५ दिन तक बच्चे का वजन कम होता रहता है। इसके बाद डेढ़ वर्ष तक वजन बढ़ता रहता है। दो से पाँच वर्ष तक वजन विशेष नहीं बढ़ता—प्रायः स्थिर रहता है। पाँच से सात वर्ष तक वजन फिर तेजी से बढने लगता है। जन्म के बाद दो वर्ष तक के और फिर पाँच से सात वर्ष तक के बच्चों की मृत्यु का अनुपात सबसे अधिक रहता है। इसलिए कुछ शिक्षाविद् कहते हैं कि पाँच से सात वर्ष तक की अवस्थावाले बच्चों पर शिक्षा का विशेष बोझ डालना उचित नहीं है। इस बात को ध्यान में रखकर पूर्व-बुनियादी का शिक्षा-क्रम तैयार किया जाना चाहिए या नहीं, इस प्रश्न पर विशेषज्ञों को विचार करना चाहिए। ● ● ●

अध्याय ८ नयी तालीम में स्वावलम्बन

नयी तालीम की दो क्रान्तिकारी नीतियाँ हैं : (१) किसी उपयोगी शिल्प के माध्यम से हर प्रकार का शिक्षा-दान और (२) स्वावलम्बन। नयी तालीम के बुनियादी पर्याय में ऐसी आशा की गयी थी कि उक्त शिल्प-शिक्षा प्राप्त करते-करते विद्यार्थीगण जिन वस्तुओं का उत्पादन करेंगे, उनकी आमदनी से विद्यालय का संचालन-व्यय पूरा होगा। जाकिर हुसेन-समिति की रिपोर्ट में कहा गया था कि यह निश्चित है कि इस शिक्षा-दान की प्रक्रिया से इतनी आमदनी होगी, जिससे विद्यालय के संचालन-व्यय का अधिकांश पूरा किया जा सके। मोटे तौर पर, शिक्षकों का वेतन उस आमदनी से पूरा करने की नीति स्वीकार की गयी। वर्धा, सेवाग्राम और अन्य कई विद्यालयों के अनुभवों से यह प्रकट हुआ है कि छात्र-छात्राओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं की आमदनी से शिक्षकों के वेतन का खर्च पूरा किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि किसी सरकारी या गैर-सरकारी सूत्र से विद्यालय का संचालन-व्यय पूरा करने की व्यवस्था हो भी जाय, तो क्या स्वावलम्बन के लिए वैसा प्रयास करने की आवश्यकता होगी? महात्मा गांधी ने जब इस नवीन शिक्षा-व्यवस्था की कल्पना सर्वप्रथम देश के समक्ष रखी थी, तब कई प्रदेशों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने शासन का दायित्व ग्रहण कर रखा था। उस समय प्रादेशिक सरकारों के हाथ में जो आय थी, उससे देश में सर्वत्र अवैतनिक बुनियादी तालीम की व्यवस्था कर सकना सम्भव न था। साथ ही प्रादेशिक सरकारों के हाथ में शिक्षा की मद में खर्च करने के लिए जो आय थी, उसमें से प्रदेश-प्रदेश में मद्य-वस्तु-निषेध की व्यवस्था सफल बनाने के बाद कुछ भी रकम नहीं बचती।

अर्थात् स्थिति ऐसी थी कि प्रादेशिक सरकारों को मादक द्रव्यों की बिक्री करके उसकी आमदनी से शिक्षा का खर्च पूरा करना पड़ता था। यह बात महात्मा गांधी के लिए असह्य थी। इसीलिए उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की थी कि प्रदेशों में मंत्रित्व ग्रहण करने के बाद ही कांग्रेस प्रथम जनकल्याणमूलक कार्य के रूप में मद्य-वस्तु-निषेध की व्यवस्था करे। दूसरी ओर वे यह भी चाहते थे कि अविलम्ब अनिवार्य बुनियादी तालीम की व्यवस्था सार्वजनिक रूप से की जाय। आर्थिक दृष्टि से यह बिलकुल ही सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वावलम्बी शिक्षा-व्यवस्था की योजना तैयार की। किन्तु जिन सब शिक्षाविदों और शिक्षानुरागियों के समक्ष उन्होंने अपनी योजना प्रस्तुत की, वे उनके विचार से पूरी तरह सहमत नहीं हो सके। अतः जाकिर हुसेन-समिति ने स्वावलम्बन के सम्बन्ध में सतर्कतामूलक अभिमत व्यक्त किया। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति को ग्रहण तो किया है, परन्तु स्वावलम्बन का पक्ष छोड़ दिया है। बुनियादी शिल्प-शिक्षा को केवल शिक्षा-दान के माध्यम के रूप में सरकार ने स्वीकार किया है। इसे 'सारजेण्ट योजना' कहते हैं, यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है। सरकारी बुनियादी विद्यालयों में यही संशोधित पद्धति लागू की गयी है।

इस प्रकार की बुनियादी शिक्षा-व्यवस्था नयी तालीम की दृष्टि से सफल होगी या नहीं, इस पर विचार कर लेना उचित है। पहली नजर में ऐसा लग सकता है कि स्वावलम्बन का पक्ष छोड़कर बुनियादी शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करने से सफलता के मार्ग में कोई बाधा नहीं आयेगी। इसके अलावा यदि विद्यालय का खर्च अन्य तरीकों से चलाने की व्यवस्था हो सके, तो स्वावलम्बन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी—ऐसा भी लग सकता है। किन्तु थोड़ा गम्भीर चिन्तन करने से स्पष्ट हो जायगा कि यह धारणा गलत है। कारण यदि बुनियादी तालीम की जड़वत् या यन्त्रवत् शिक्षा न दी जाय, उसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया जाय, तो विद्यालय-संचालन के लिए पर्याप्त उत्पादन हुए बिना नहीं

रहेगा। विभिन्न बुनियादी विद्यालयों के अनुभवों से यह बात सिद्ध हो चुकी है। और वैज्ञानिक ढंग से शिल्प-शिक्षा न देने से नयी तालीम का मूल उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। जड़वत् शिल्प-शिक्षा में शिक्षाप्रद अनुबन्ध का अस्तित्व नहीं रहेगा और इसके परिणामस्वरूप शिक्षा-दान के माध्यम के रूप में मूल शिल्प-शिक्षा की कोई सार्थकता ही नहीं रहेगी। वैज्ञानिक रीति से शिल्प-शिक्षा देने का क्या रूप है और उसमें अनुबन्ध के द्वारा विभिन्न विषयों के शिक्षण का द्वार किस प्रकार उन्मुक्त होता है, इस पर आगे विचार किया जायगा। अतः विद्यालय का पूरा खर्च चलाने योग्य अन्य साधन प्राप्त होने पर भी विद्यालय में उत्पादित वस्तुओं का प्रकार और उनकी मात्रा इतनी होनी ही चाहिए कि उनकी आमदनी से विद्यालय का संचालन-व्यय पूरा हो सके। यह बुनियादी शिक्षा-व्यवस्था की अपरिहार्य नीति है।

विनोबाजी की राय में नयी तालीम के बुनियादी स्तर में स्वावलम्बन के आदर्श तक पहुँचने की शिक्षा दी जायगी और उत्तर-बुनियादी स्तर से स्वावलंबन के द्वारा शिक्षा दी जायगी।

यद्यपि महात्मा गांधी ने बुनियादी तालीम में स्वावलंबन के सम्बन्ध में जाकिर हुसेन-समिति के प्रस्ताव प्रारम्भिक और परीक्षणात्मक आधार पर स्वीकार कर लिये थे, तथापि वे उनसे संतुष्ट न हो सके। कारण उनका हार्दिक विश्वास था कि "स्वावलम्बन बुनियादी शिक्षा की कसौटी है।" जेल से निकलने के बाद जनवरी १९४५ में सेवाग्राम के नयी तालीम सम्मेलन में गांधीजी ने नयी तालीम के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डाला। तदनुसार पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को नयी तालीम में अन्तर्निहित माना गया। इसके बाद सन् १९४६ में पटना में हुई हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की बैठक में उन्होंने नयी तालीम में 'स्वावलम्बन' के वास्तविक अर्थ की स्पष्ट रूप से व्याख्या की। उन्होंने कहा कि विद्यालय में जिन वस्तुओं का उत्पादन होगा, उन्हें बेचा जायगा और इस प्रकार होनेवाली आमदनी से किसी प्रकार शिक्षकों के वेतन

का खर्च पूरा किया जायगा—नयी तालीम के स्वावलम्बन का अर्थ इस प्रकार लगाने से अत्यन्त निम्न कोटि का अर्थ प्रकट होता है।

विद्यालय को छात्रों और शिक्षकों का एक संयुक्त परिवार मानना उचित है। इसी आधार पर स्वावलम्बन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। छात्रों और शिक्षकों का यह परिवार श्रमनिष्ठ, सहयोगी और विकासोन्मुख होगा। इस परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए भूमि, यंत्र, आवश्यक सामान, गाय, पुस्तकालय, परीक्षण-शाला, घर आदि जिन चीजों की जरूरत होगी, वे दी जायँगी। उनकी व्यवस्था समाज या सरकार की ओर से हो जायगी। तदुपरान्त विद्यालय-परिवार अपनी आवश्यकताओं का निश्चय करके उन उपकरणों की सहायता से काम करेगा, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करेगा और उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करेगा। स्वावलम्बन के इस अर्थ में शिक्षकों और छात्रों का यह परिवार होगा। स्वावलम्बन के द्वारा यह सहयोगी परिवार अपने भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान की आवश्यकताएँ पूरी करेगा और इस प्रकार स्वावलम्बनमूलक जीवन-यापन करते हुए सामूहिक जीवन की नियमित दिनचर्या, स्वाध्याय, विचार-विमर्श, सत्संग, प्रार्थना, कीर्तन, भजन, व्यायाम, अभिनय आदि के द्वारा जीवन-निर्माण करेगा और मनोरंजन-मूलक अभ्यासक्रम का अनुसरण करते हुए भौतिक और सांस्कृतिक, दोनों ही दृष्टियों से उन्नति करेगा।

व्यापक व्याख्या

स्वावलम्बन-सम्बन्धी महात्मा गांधी की इस व्याख्या को विनोबाजी ने और भी व्यापक किया है। वे कहते हैं कि नयी तालीम में स्वावलम्बन के केवल भौतिक स्वरूप से काम नहीं चलेगा। बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी स्वावलम्बन की आवश्यकता है। भौतिक क्षेत्र का स्वावलम्बन है, अविरोधी उत्पादक और सहयोगी श्रम के द्वारा खाद्य-पदार्थों, वस्त्र, निवास-स्थान और जीवन की अन्यान्य भौतिक आवश्य-

कताओं को पूरा करना। शैक्षणिक (बौद्धिक) स्वावलम्बन में आता है—स्वाध्याय, परस्पर विचार-विनिमय, गुरुजनों की सेवा और अध्ययन के द्वारा ज्ञान-लाभ का प्रयत्न। स्वावलम्बनमूलक ज्ञान-लाभ के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है :

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥"

—ज्ञान-प्राप्ति के लिए शिष्य अपने को विनम्र भाव से गुरु के समक्ष समर्पित करेगा। गुरु जो उपदेश देंगे, उस पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करके उस सम्बन्ध में जो-जो प्रश्न उठ सकते हैं, उन्हें शिष्य गुरु के समक्ष विनीत भाव से उपस्थित करेगा। इस प्रकार उसे विभिन्न प्रकार का ज्ञान-लाभ होगा। विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी और सेवामूलक कार्य करते-करते वह अनुभवसिद्ध ज्ञान-लाभ करेगा। अन्यान्य प्रकार से ज्ञान-लाभ करने का भी सुयोग उसे मिलेगा। ज्ञान प्रदान करनेवाले ये गुरु कैसे होंगे? आदर्श शिक्षक-सम्बन्धी विनोबाजी की जो कल्पना है, उन्हें वैसा ही होना चाहिए। अर्थात् वे तत्त्वदर्शी होंगे। वे पुस्तकों में लिखे शब्दों के व्याख्यात-मात्र नहीं होंगे। वे वस्तुतः आचार्य होंगे, अर्थात् वे ज्ञान के अनुसार आचरण करेंगे और अन्य लोगों से भी तद्रूप आचरण कराने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार गुरु सेवा-कार्य के पथ-प्रदर्शक होंगे। वे चाहेंगे कि शिष्यगण प्रश्न करें और वे उन प्रश्नों को साग्रह एवं प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करके उनका उत्तर देने के क्रम में प्रत्येक विषय की गम्भीरता में प्रवेश करके उनके तत्त्व तक पहुँचेंगे। यह बौद्धिक स्वावलम्बन शिक्षा की प्रक्रिया है। नैतिक और आध्यात्मिक स्वावलम्बन की सिद्धि के लिए भी संयमशील जीवन के निर्माणार्थ वे उपयोगी दिनचर्या प्रस्तुत करके उसका निष्ठापूर्वक अनुसरण करेंगे और संयमित जीवन-यापन करेंगे। इसमें संयमित आहार-विहार, संयमित कर्म-प्रचेष्टा और संयमित निद्रा तथा जागरण की व्यवस्था रहेगी। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक

जीवन-यापन करने से भौतिक और बौद्धिक स्वावलम्बन के लिए शक्ति-संचय होगा। नयी तालीम के सभी स्तरों पर अवस्था के अनुसार इस प्रकार के स्वावलम्बन की आवश्यकता है। अतएव इसके लिए प्रयत्न करना वांछनीय है। तभी नयी तालीम की सार्थकता सिद्ध होगी।

स्वावलम्बन के सम्बन्ध में अभी तक जो चर्चा की गयी है, उससे शिक्षा में आर्थिक स्वावलम्बन की आवश्यकता के सम्बन्ध में यह धारणा बनती है कि (१) विद्यालय में उत्पादित वस्तुओं की आय से विद्यालय की संचालन-व्यवस्था की जा सकती है; और (२) शिक्षा के व्यय-निर्वाह की व्यवस्था के लिए स्वावलम्बन की आवश्यकता न होने पर भी शिक्षा की उत्कृष्टता की दृष्टि से उसकी आवश्यकता है। कारण यदि मूल हस्त-शिल्प को वैज्ञानिक ढंग से चलाया जाय और उसकी शिक्षा दी जाय तथा उसके अनुबन्ध से शिक्षा-दान-प्रणाली का सर्वोत्तम उपयोग किया जाय, तो स्वावलम्बन के लिए विशेष प्रयत्न न करने पर भी स्वावलम्बन के योग्य पर्याप्त उत्पादन होगा ही। स्वावलम्बन के लिए पर्याप्त उत्पादन न होने पर यह समझना पड़ेगा कि शिक्षा-दान की उक्त प्रणाली ठीक से काम में नहीं लायी गयी। जो हो, शिक्षा में स्वावलम्बन आवश्यक है, इसका कारण केवल यही नहीं है। इसका एक और अधिक गम्भीर कारण है। यह अपेक्षाकृत गम्भीर कारण क्या है और स्वावलम्बन के पीछे क्या दर्शन है, यह जानना और समझना आवश्यक है। तभी यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आयेगी कि शिक्षा में स्वावलम्बन अपरिहार्य क्यों है।

मानव की विशेषता

स्वावलम्बन के पीछे मूलभूत विचार क्या है, यह समझ लेना जरूरी है। मनुष्य के पास बुद्धि और विचार-शक्ति है (Man is a rational animal)। यही मनुष्य की विशिष्टता है। यही विशिष्टता उसे पशुओं और अन्य प्राणियों से पृथक् करती है। प्राणि-जगत् में मनुष्य को सर्वोच्च स्थान भी इसी विशिष्टता के कारण प्राप्त हुआ है। पशुओं तथा अन्य

जीवों के बुद्धि नहीं होती। अन्ततः विचार-शक्ति के प्रयोग जैसी बुद्धि उनमें नहीं होती। वे सभी विषयों में सहजात प्रेरणा या प्रवृत्ति (Instinct) से परिचालित होते हैं। सहजात प्रेरणा के अतिरिक्त उनमें कोई क्रियाशीलता नहीं होती। वे अनाज या अन्य किसी आवश्यक वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकते। प्रकृति ने मनुष्य को जिस प्रकार बुद्धि और अंग-प्रत्यंग दिये हैं, उस प्रकार उन्हें नहीं। वे सहजात प्रवृत्ति के वशीभूत होकर दूसरों द्वारा उत्पादित खाद्यान्न आदि का संग्रह करके उनसे अपनी उदर-पूर्ति करते हैं। उनके जो कुछ गुणावगुण हैं, उन्हें उन्होंने प्रयत्न-पूर्वक नहीं प्राप्त किया है। कुत्ते स्वामिभक्त होते हैं। किन्तु भक्ति का अनुशीलन करके वे स्वामिभक्ति नहीं सीखते। स्वामिभक्ति उनकी सहजात प्रवृत्ति होती है। उसमें कुत्ते की कोई करनी नहीं होती। बाघ की घ्राण-शक्ति प्रबल होती है। परन्तु अपनी घ्राण-शक्ति को तेज बनाने के लिए उसे किसी मांटेसरी-विद्यालय में इन्द्रिय-शिक्षा नहीं प्राप्त करनी होती। यह उसकी सहजात प्रवृत्ति होती है।

परन्तु मनुष्य के पास बुद्धि होती है, विचार-शक्ति होती है। भगवान् ने तदनुरूप ही उसे अंग-प्रत्यंग दिये हैं। उसे काम करने के लिए दो हाथ मिले हैं—दो पैर मिले हैं। बुद्धि और दोनों हाथों की सहायता से मनुष्य को खाद्यान्न आदि अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ तैयार करनी पड़ती हैं। मनुष्य में सभी गुण केन्द्रित हैं। उसकी आत्मा सभी गुणों की खान है, किन्तु वह सुषुप्त रहती है, लीन (Latent) रहती है। शिक्षा द्वारा, अनुशीलन द्वारा, अभ्यास द्वारा, प्रयोजन द्वारा उसे प्रकाशित करना पड़ता है। सहजात वृत्ति से वह प्रकाशित नहीं होती। मनुष्य के जीवन में सहजात प्रेरणा और वृत्तियों का स्थान बहुत ही कम है। जो थोड़ा-बहुत है भी, वह जीवतत्त्व-संक्रांत कुछ विषयों से सम्बद्ध है, जैसे सन्तान के प्रति माँ की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। फिर प्रकृति ने मनुष्य को जिस प्रकार बुद्धि और विचार-शक्ति दी है, उसी प्रकार स्वाधीनता भी दी है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वाधीन है। इसका अर्थ

यह हुआ कि वह अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी। वह सद्‌गुणों का अनुशीलन करके महान् बन सकता है। दूसरी ओर वह असत् वृत्तियों का दास भी बन सकता है। पशुओं और अन्य प्राणियों को यह स्वाधीनता प्राप्त नहीं है। भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक, सभी विषयों में मनुष्य स्वाधीन है। मनुष्य को जैसा होना चाहिए, वैसा वह अपने विचारों और पुरुषार्थ द्वारा ही बन सकता है। यहीं मनुष्य की मनुष्यता प्रकाशित होती है।

इसलिए स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता मनुष्य की प्रकृति के मल में है। मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए स्वावलम्बन-वृत्ति के स्फुरण की आवश्यकता है। अन्यथा मनुष्य मनुष्य नहीं बन पाता। मनुष्य को अपनी नैतिकता स्वयं गढ़नी पड़ती है। आध्यात्मिकता का स्फुरण और विकास भी उसे स्वयं ही करना पड़ता है। दूसरे लोग केवल प्रेरणा दे सकते हैं। किन्तु इस संबंध में जो कुछ करना होगा, वह अपने प्रयत्न से ही। परन्तु जीवन के एक क्षेत्र में मनुष्य स्वावलम्बन न अपनाकर भी चल सकता है। यह क्षेत्र है, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का। मनुष्य अपनी भोजन, वस्त्र आदि भौतिक आवश्यकतों के संबंध में स्वावलम्बी न होकर दूसरों पर निर्भर कर सकता है। भौतिक आवश्यकताएँ मिटाने के लिए दूसरों पर निर्भर करके जीवन-यापन कर सकता है। दूसरों द्वारा उत्पादित अन्न से वह अपने शरीर का पोषण कर सकता है। दूसरों द्वारा उत्पादित वस्त्रों का व्यवहार करके वह अपनी लज्जा और सर्दी-गर्मी का निवारण कर सकता है। मनुष्य-समाज के कष्टों का मूल कारण यही है। मनुष्य जहाँ अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस प्रकार परावलम्बी होता है, वहीं मनुष्यत्व से विचलित होकर पशुत्व की परिधि में उतर आता है। तत्त्व और विचार की दृष्टि से ऐसा सोचना अनुचित नहीं होगा। इसलिए वास्तविक शिक्षा का अर्थ है, मनुष्य को मनुष्य बनने में सहायता पहुँचाना, अर्थात् सभी विषयों (भौतिक, नैतिक और आध्या-

त्मिक) में स्वावलम्बी बनने की शिक्षा देना। इसलिए स्वावलम्बनशून्य शिक्षा वास्तविक अर्थों में शिक्षा नहीं हो सकती।

सामाजिक स्वावलंबन

यहाँ स्वावलंबन के संबंध में एक और आवश्यक बात का उल्लेख करने की आवश्यकता है। मनुष्य केवल बुद्धिसम्पन्न जीव नहीं है। मनुष्य समाजबद्ध जीव है (Man is a social animal)। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। केवल अपना परिवार लेकर भी वह नहीं रह सकता। उसे समाजबद्ध होकर रहना और जीवन-निर्वाह करना पड़ता है। सामाजिक जीवन (community life) से ही मनुष्य का मनुष्यत्व सार्थक होता है। इसलिए उसे समाज को दृष्टि में रखकर स्वावलम्बन करना होगा। स्वावलंबन के केवल व्यक्तिगत होने से काम नहीं चलेगा—सामाजिक स्वावलम्बन चाहिए। कारण केवल व्यक्तिमूलक अथवा परिवार-मूलक स्वावलंबन की दूसरों पर तथा समाज पर विपरीत प्रतिक्रिया हो सकती है, होती भी है। खाद्यान्न एवं वस्त्र-उत्पादन-विषयक मेरी और मेरे परिवार की चेष्टाओं से दूसरों की खाद्य एवं वस्त्र-उत्पादन-चेष्टाओं में बाधा पहुँच सकती है। कोई व्यक्ति अपने परिवार में सच्चा, दयालु, सहानुभूतिशील और उदार हो सकता है, किंतु परिवार के बाहर उसकी स्थिति विपरीत भी हो सकती है। इससे समाज में शोषण और उत्पीड़न का जन्म होता है। अतः भौतिक स्वावलम्बन का क्षेत्र हो या नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र हो, स्वावलंबन को समाज पर आधारित होना चाहिए। तभी स्वावलंबन सार्थक होगा। छात्रावस्था में सामाजिक स्वावलंबन की शिक्षा मिलने से ही परवर्ती जीवन में किसी व्यक्ति का सम्यक् विकास हो सकता है। शायद कोई पूछे कि छात्रावस्था में सामाजिक स्वावलंबन का अवसर ही कहाँ है ? अवसर है। शिक्षकों और छात्रों को मिलाकर एक समाज का निर्माण करना होगा। शिक्षक और छात्र मिलकर समग्र भाव से स्वावलंबन अपनायेंगे। इस प्रकार शिक्षकों और छात्रों का एक स्वाव-

लंबी समाज तैयार हो जायगा और उसके द्वारा वास्तविक स्वावलंबन की शिक्षा प्राप्त हो सकेगी।

किंतु अब विनोबाजी कहते हैं कि १५ वर्ष की उम्र तक लड़के-लड़कियों पर इस तरह शिक्षा के खर्च की जिम्मेदारी नहीं लादी जानी चाहिए। वे कहते हैं : "यह भारतीय संस्कृति का मत है कि पन्द्रह वर्ष तक बच्चों के रक्षण की जिम्मेदारी राज्य पर है। उसके बाद ही स्वावलंबन की जिम्मेदारी बच्चों पर आती है। तब तक उन्हें उत्तम स्वावलंबी बनाने की जिम्मेदारी राज्य, पालक और समाज पर ही है। उसके बाद उनकी जिम्मेदारी किसी भी तरह दूसरों पर नहीं होनी चाहिए।"

किंतु अभी विपरीत स्थिति चल रही है। समाज में एक ओर तो ६ वर्ष के बालकों को भी उपार्जन करना पड़ता है और दूसरी ओर २५ वर्ष तक के युवक-युवतियों की शिक्षा का व्यय राष्ट्र या उनके अभिभावक देते हैं। इसलिए वे स्वयं कुछ नहीं करते। दूसरी ओर छह वर्ष के जो बालक-बालिकाएँ गाय-भैंस चराकर अपने माता-पिता का कुछ बोझ हल्का करती हैं, उन्हें यदि लिखना-पढ़ना सीखने के लिए विद्यालय जाने को विवश किया जाय तो उनके माता-पिता को अपनी आमदनी के एक भाग से वंचित होना पड़ेगा और उन पर दरिद्रता का बोझ बढ़ेगा। यह निष्ठुरता है। नयी तालीम इस विषमता को दूर करना चाहती है। १५ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं को स्वावलम्बी बनने के लिए शिक्षा देनी होगी। विनोबाजी का विचार यही है कि १५ वर्ष की आयु तक बालक-बालिकाओं की शिक्षा-प्राप्ति की प्रणाली में जो कुछ उत्पादन हो, उसका व्यवहार उन्हीं के पालन-पोषण के लिए करना उचित है। उनकी शिक्षा के संचालन-व्यय के रूप में उसका किंचित् अंश भी काम में नहीं आना चाहिए। किन्तु पन्द्रह वर्ष से अधिक आयु के विद्यार्थियों की शिक्षा पर होनेवाले खर्च का दायित्व राष्ट्र का उनके अभिभावक (चाहे उनके माता-पिता हों या ग्रामदानी ग्राम हो) ग्रहण नहीं करेंगे।

● ● ●

अध्याय ६ उत्तर-बुनियादी शिक्षा

अध्याय २ में उत्तर-बुनियादी के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया गया है। उसमें कहा गया है कि सन् १९४२ के आन्दोलन के समय गिरफ्तारी के बाद महात्मा गांधी जब कारागार से मुक्त हुए, तब उन्होंने नयी तालीम के क्षेत्र-प्रसार का प्रस्ताव रखा और इस बारे में विचार करने के लिए सन् १९४४ के जनवरी मास में सेवाग्राम में जो नयी तालीम सम्मेलन हुआ, उसकी सिफारिश के अनुसार हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा उत्तर-बुनियादी, पूर्व-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को नयी तालीम में समाविष्ट माना गया। सेवाग्राम के उक्त नयी तालीम सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए महात्मा गांधी ने कहा : "आज तक अगरचे हमारी तालीम तो नयी थी, पर हम एक उपसागर में रहे। खुले समुद्र से उपसागर सुरक्षित है। उसकी ओर कुछ रक्षा रहती है। हमारा कार्यक्रम बँधा हुआ था। अब हम उपसागर को छोड़कर भरे समुद्र में फेंके जा रहे हैं। वहाँ ध्रुव तारे को छोड़कर हमारा कोई रक्षक नहीं है। वह ध्रुवतारा हाथ का ग्रामोद्योग है। अब हमारा क्षेत्र सात से चौदह साल के बालक नहीं हैं; बल्कि जब बच्चे माँ के पेट में आते हैं, तब से लेकर मरते समय तक हमारा अर्थात् नयी तालीम का क्षेत्र है।" इसमें अन्तर्निहित अर्थ यह है कि पूर्व-बुनियादी हो या उत्तर-बुनियादी हो या प्रौढ़-शिक्षा हो, ये सबके सब अपार सम्भावनाओं से पूर्ण हैं। असंख्य उपायों द्वारा और असंख्य दिशाओं में उनका विकास किया जा सकता है। विभिन्न स्वरूपों में, विभिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न प्रकारों से उनका विकास हो सकता है। एकमात्र स्थिर वस्तु रहेगी, उपयोगी एक या एकाधिक गृह-शिल्प। अथाह सागर में ध्रुव तारा के समान इसका स्थान

होगा। अन्य सभी चीजें विभिन्न क्षेत्रों, स्वरूपों और परिस्थितियों पर निर्भर करेंगी।

शिक्षाक्रम

जो हो, सेवाग्राम के उक्त सम्मेलन में उत्तर-बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार-विमर्श किया गया और इसके लिए एक योजना तथा शिक्षाक्रम तैयार करने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की गयी। आचार्य बदरीनाथ वर्मा इस समिति के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। डॉ० जाकिर हुसेन, श्री सैयदेन, श्री रामशरण उपाध्याय, श्री जे० सी० कुमारप्पा आदि इसके सदस्य थे। इस समिति ने सारे देश के लिए उत्तर-बुनियादी का एक पाठ्यक्रम तैयार किया और उसे महात्मा गांधी के समक्ष उपस्थित किया। उन्होंने उसे देखकर पूछा कि उत्तर-बुनियादी शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक शिक्षार्थियों की संख्या कितनी होगी? उन्हें बतलाया गया कि सेवाग्राम में १५ और बिहार में २५ व्यक्ति बुनियादी शिक्षाक्रम समाप्त करने के उपरान्त उत्तर-बुनियादी तालीम लेने के लिए तैयार हैं। इस पर उन्होंने कहा : "नहीं, अभी केवल सेवाग्राम और बिहार के उन विद्यार्थियों के बारे में सोचो, जिन्होंने बुनियादी तालीम पूरी की है। उनके लिए ही शिक्षाक्रम बनाओ। उसे देश के सामने अभी नहीं रखना है—उसे प्रकाशित नहीं करना है।"

उस समय उनसे पूछा गया : "उत्तर-बुनियादी के बाद क्या होगा? विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में विचार किया जाय।" इस पर उन्होंने कहा : "नहीं, इस समय केवल उत्तर-बुनियादी की बात ही सोचनी होगी।" अर्थात् काल्पनिक कोई भी काम करने के लिए वे तैयार नही थे। कारण, इस प्रकार के काल्पनिक चित्रों के सम्बन्ध में उनकी बुद्धि काम नहीं करती थी। वे कहते थे कि वास्तविकता और आवश्यकता के अनुसार कार्य करके उससे मिलनेवाले ज्ञान का संग्रह करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। उससे जो भी फल प्राप्त होगा, वह वस्तुतः उपयोगी होगा।

अस्तु, इसके एक वर्ष के भीतर ही सेवाग्राम और बिहार में उत्तर-बुनियादी की पढ़ाई चालू की गयी। सेवाग्राम में पूर्व-निर्धारित किसी शिक्षाक्रम का अनुसरण करके कार्य आरंभ नहीं किया गया। वहाँ दैनिक कार्यों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान के आधार पर शिक्षाक्रम का निर्माण होने लगा। फलतः सन् १९५४ में उत्तर-बुनियादी तालीम की अभिज्ञता के आधार पर हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने उत्तर-बुनियादी का एक शिक्षाक्रम प्रकाशित किया। इसके बाद सन् १९५६ में सेवाग्राम में अखिल भारतीय उत्तर-बुनियादी तालीम सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमें देश के विभिन्न भागों के नयी तालीम और उत्तर-बुनियादी शिक्षा के प्रति आग्रहशील एवं अभिज्ञता-सम्पन्न प्रमुख शिक्षा-विशारदों ने योगदान किया। उसमें उत्तर-बुनियादी तालीम के सम्बन्ध में विशद रूप से विचार-विमर्श किया गया। सेवाग्राम से प्रकाशित उक्त शिक्षाक्रम और उत्तर-बुनियादी सम्मेलन के विचार-विमर्श के सार-तत्त्व को उत्तर-बुनियादी की विचारधारा और शिक्षाक्रम की प्रामाणिक रूपरेखा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सम्पूर्ण स्वावलम्बन

नयी तालीम में, विशेषतः उत्तर-बुनियादी और उत्तम-बुनियादी में, जिस स्वावलम्बन की बात कही जाती है, वह केवल भौतिक स्वावलम्बन नहीं है। वह है, संपूर्ण स्वावलम्बन—अर्थात् भौतिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक। इनमें से किस स्वावलम्बन का क्या स्वरूप है, यह पहले बताया जा चुका है। इस व्यापक अर्थ में स्वावलंबन के लिए नयी तालीम के सभी स्तरों पर प्रयत्न किये जायेंगे। किंतु उत्तर-बुनियादी के स्तर से वह अनिवार्य है। इस समय विद्यार्थी किशोर-वय से आगे बढ़कर यौवनावस्था में प्रवेश करते हैं। इस समय नवयुवकों की अन्तर्निहित शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ ठीक ढंग से काम में लगने के लिए व्यग्र रहती हैं। यह शरीर की वृद्धि और पुष्टि का समय होता है। इसलिए नवयुवक कुछ-न-कुछ करने

के लिए उत्सुक रहते हैं। उनकी अध्ययन और चिन्तन-मनन की भूख जागती है। इस भूख की तृप्ति के लिए नित्य नियमित रूप से खुराक जुटाने की आवश्यकता होती है। इसी समय उनमें अपने व्यक्तित्व के विकास का सुयोग प्राप्त करने की आकांक्षा जागती है। इस समय यदि सब प्रकार की स्वावलम्बन-वृत्तियों पर आधारित कार्यक्रम का अनुसरण करने का दायित्व उन्हें सौंपा जाय, तो उनकी अन्तर्निहित शक्तियों और प्रवृत्तियों को समुचित विकास का अवसर मिले। इसीलिए उत्तर-बुनियादी स्तर पर शिक्षक पढ़ाने के बजाय विद्यार्थियों के पढ़ने की प्रेरणा देते हैं। स्वावलंबन पर दृष्टि रखते हुए अन्य सब विषयों में भी ऐसा ही किया जाता है। विद्यार्थियों को इस बात के लिए उत्साह और प्रेरणा दी जाती है कि वे अपने बल पर भौतिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी विषयों में स्वतःप्रवृत्त होकर आगे बढ़ें। किन्तु इस सुयोग से उन्हें वंचित रखा जाय, तो उनका विकास अवरुद्ध हो जाय। इसका परिणाम होता है, नैराश्य। इस नैराश्य की प्रतिक्रिया होती है, अनुशासनहीनता। आजकल साधारण स्कूल-कॉलेजों के विद्यार्थियों में जो अनुशासनहीनता की बात प्रायः सुनी जाती है, उसका मूल कारण यही है अथवा नहीं, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

उत्तर-बुनियादी स्तर के दैनिक आठ घंटे के कार्यक्रम में से चार घंटे उत्पादन-कार्य के लिए और चार घंटे अध्ययन के लिए निर्धारित हैं। दिन-रात के चौबीस घंटों को तीन हिस्सों में बाँटने पर आठ घंटे आते हैं। आठ घंटे काम, आठ घंटे विश्राम और आठ घंटे नित्य के कार्यक्रम। आठ घंटे के कामों में चार घंटे उत्पादक शरीर-श्रम के काम होने चाहिए। चार घंटे के इस उत्पादक श्रम द्वारा सरल और संयमित जीवन की आवश्यकताओं को पूरा किया जाना चाहिए। बाकी चार घंटों में अध्ययन, अध्यापन, लेखन इत्यादि काम होने चाहिए। जल्दी सोने और जल्दी उठने की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि चिन्तन, मनन और व्यक्तिगत अध्ययन आदि कामों में ब्राह्ममुहूर्त का सदुपयोग किया जा सके।

शौच, स्नान, भोजन, सामाजिक सम्पर्क, मिलना-जुलना, आमोद-प्रमोद और अवकाश—आठ घंटे की नित्यक्रिया में शामिल हैं। अवकाश के समय को किस तरह बिताया जाय, यह व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करेगा। अवकाश के समय का सद्व्यवहार होता है या नहीं, इस बात पर नैतिक और आध्यात्मिक स्वावलम्बन की सफलता निर्भर करती है। इस सारे कार्यक्रम के लिए आवासिक पाठशालाएँ उपयुक्त हैं।

सेवाग्राम के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में जिन आश्रम-विद्यालयों (गैर-सरकारी व्यवस्था में) में उत्तर-बुनियादी शिक्षा चलायी जा रही है, उनकी संख्या इस प्रकार है : तमिलनाड—३, केरल—३, गुजरात और सौराष्ट्र—१४ (?), पंजाब—२, बंगाल—१, उत्तर प्रदेश—१ और उड़ीसा—३। इन सब विद्यालयों से प्राप्त स्वावलम्बन सम्बन्धी आँकड़े देखने से पता चलता है कि उत्तर-बुनियादी तालीम में शिक्षार्थियों द्वारा नित्य चार घंटे किये जानेवाले उत्पादक श्रम के फलस्वरूप उत्पादित वस्तुओं द्वारा उत्तर-बुनियादी तालीम में स्वावलम्बन-सम्पादन किया जाता है। बिहार के (२४ ?) उत्तर-बुनियादी विद्यालय सरकारी तत्त्वावधान में संचालित होते हैं। उन्हें अब तक स्वावलम्बन की नीति के आधार पर संगठित नहीं किया गया है। किन्तु वहाँ भी जिन कुछ उत्तर-बुनियादी-विद्यालयों में उत्पादन-कार्यक्रम की व्यवस्था की गयी है, वहाँ प्राप्त अंकों से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर-बुनियादी के छात्र परिवार या समाज पर निर्भर न होकर अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं की आय से अपनी शिक्षा का व्यय-निर्वाह करने में समर्थ हैं।

विचार और अनुभव से यह व्यक्त हुआ है कि अधिकांश स्थानों में उत्तर-बुनियादी स्तर पर कृषि और गोपालन उपयोगी मूल उद्योग हैं। इनके द्वरा विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सकता है। कृषि और गोपालन के द्वारा समाज की सर्वोपरि भौतिक आवश्यकता (अन्न) पूरी हो सकती है। इसलिए शिक्षा की दृष्टि से कृषि और गोपालन को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों की स्थिति के

अनुसार सहायक शिल्प के रूप में मिट्टी के बर्तन आदि बनाना, घर बनाना, लकड़ी की चीजें तैयार करना, चमड़े के सामान बनाना, बाँस की चीजें बनाना आदि शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं।

महात्मा गांधी के शब्दों में उत्तर-बुनियादी तालीम का लक्ष्य "एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना है, जिसकी नींव न्याय पर हो—जिसमें अमीर और गरीब का भेद-भाव न हो; जहाँ सबको आजादी का हक हासिल हो और अपनी उन्नति का विश्वास हो।" इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सामाजिक जीवन और सामाजिक कार्यों को शिक्षा के एक प्रधान माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसीलिए ग्रामीण कार्यों को भी उत्तर-बुनियादी तालीम के एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह उत्तर-बुनियादी की एक विशिष्टता है। सामुदायिक सफाई, सामुदायिक भोजन सम्बन्धी कार्य, अतिथि-सेवा, सामुदायिक स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था, सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक मौन प्रार्थना और उत्सव-पर्वादि के आयोजन द्वारा विद्यार्थियों में सहयोगी और सामाजिक वृत्ति पैदा होती है और उन्हें इन सबके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। शिक्षार्थी लोग गाँव की खेती, गाँव के जीवन और गाँव की समस्याओं के निकट सम्पर्क में आकर ग्राम-निर्माण और ग्रामोन्नति के कामों में सहायता पहुँचायेंगे, तो उन्हें ग्राम-निर्माण और सामुदायिक सेवा-कार्यों का ज्ञान प्राप्त होगा और उनमें समाज-सेवा की उपयोगी वृत्तियाँ पैदा होंगी।

उत्तर-बुनियादी का पाठ्यक्रम

अनुभवों के आधार पर हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने उत्तर-बुनियादी के जिस शिक्षाक्रम की रचना और प्रकाशन किया, वह संक्षेप में इस प्रकार है :

साधारण शिक्षा-क्रम

सहयोगी श्रम पर आधारित सामाजिक जीवन के निर्माण का अभ्यास।

जीवन में स्वावलम्बन के लिए आवश्यक कर्म-प्रचेष्टा का अभ्यास और उसके द्वारा संश्लिष्ट ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा।

सामुदायिक प्रार्थना, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, सामुदायिक कृषि और बागवानी, सामुदायिक पाकशाला और सामुदायिक भोजन का कार्य, सामुदायिक सांस्कृतिक कार्यक्रम, गृह-निर्माण और गृह-निर्माण के सरंजाम तैयार करने में सहयोग-दान और इन सबसे संश्लिष्ट ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन।

समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, नागरिक-शास्त्र, इतिहास, भूगोल और भारत की वर्तमान समस्याओं का विशेष अध्ययन।

पवित्र और निरोग व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-यापन के लिए आवश्यक कार्यों का अभ्यास और उनसे सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञान—यथा, शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, खाद्य-विज्ञान और मनोविज्ञान का अध्ययन।

ग्राम-अध्ययन और ग्राम-सेवा।

कम-से-कम तीन महीने प्रत्यक्ष समाज-सेवा का कार्य।

भाषा और साहित्य

मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, भारत की एक अन्य प्रादेशिक भाषा और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा (अंग्रेजी)।

चित्रकला, संगीत और नाट्यकला, उत्सव-शास्त्र।

विशेष शिक्षा-क्रम

(क) शिक्षा के माध्यम-स्वरूप निर्वाचित मूल शिल्प ;

(१) कृषि-बागवानी और उसके पूरक शिल्प—तेलघानी, मधुमक्खी-पालन, मुर्गी-पालन और ताड़-गुड़-निर्माण।

(२) गोपालन और दुग्ध-विद्या।

(३) वस्त्र-विद्या—बुनाई, रँगाई और सिलाई।

(४) काष्ठ-शिल्प, धातु-मरम्मत का काम, बाँस का काम और चटाई तैयार करने का काम।

(५) ग्राम्य इंजीनियरिंग—गृह-निर्माण, मार्ग-निर्माण, जल-निकासी और सफाई की व्यवस्था, जल-सिंचाई की व्यवस्था।

(६) गृह-विज्ञान और पाक-शास्त्र।

(७) ग्रामीण स्वास्थ्य-सम्बन्धी काम।

(८) ग्राम-शिक्षा का काम।

(ख) उपर्युक्त शिल्पों से सम्बद्ध विषयों का ज्ञान :

भाषा, गणित, यन्त्र-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, कीटाणु-विज्ञान, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र।

उपर्युक्त शिक्षाक्रम में अन्तर्निहित कतिपय विषयों के उद्देश्य और उनके अनुबन्ध सूत्रों से उपलब्ध होनेवाली शिक्षा तथा ज्ञान का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है :

१. सफाई

सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में आन्तरिक और बाह्य समग्र शुद्धि की भावना का विकास करना, तदनुरूप अवस्था की सृष्टि करना एवं सामाजिक तथा व्यक्तिगत सफाई के लिए आवश्यक ज्ञान अर्जित करना सफाई-विज्ञान का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए शरीर-विज्ञान और सफाई-शास्त्र, रोग फैलानेवाले कीटाणुओं से सम्बद्ध शास्त्र, देश-विदेश की सफाई-पद्धति का अध्ययन और सफाई के लिए ग्रामीण उपकरणों की तथा सरंजाम की गवेषणा करनी होगी। इन सब विषयों में शिक्षार्थी स्वयं अग्रसर हों, ऐसी चेष्टा करनी होगी। अर्थात् अध्ययन तथा ज्ञानार्जन में स्वावलम्बन का लक्ष्य रहना चाहिए।

२. स्वास्थ्य

इसका उद्देश्य है, समाज और व्यक्ति के परिपूर्ण स्वास्थ्य के लिए आवश्यक भावना और अभ्यास की सृष्टि करना। सामाजिक और

व्यक्तिगत स्वास्थ्य-रक्षा के सामाजिक, नैतिक और वैज्ञानिक पक्षों को समझना एवं अत्यल्प व्यय में जन-गण के सामूहिक स्वास्थ्य-स्तर को उन्नत करना।

३. सामाजिक जीवन

उत्तर-बुनियादी तालीम में जो सब सामाजिक या सामूहिक जीवन से सम्बद्ध शिक्षाक्रम हैं, उनका उद्देश्य है : (क) सहयोगी, श्रमनिष्ठ तथा स्वावलम्बी समाज के निर्माण और निर्वाह के लिए आवश्यक तैयारी। (ख) सबके प्रति समान श्रद्धा-भाव का निर्वाह—विशेष रूप से अन्य धर्मावलम्बियों के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक रीतियों और सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखना। भिन्न सम्प्रदायों के लोगों के साथ बन्धुत्व और पड़ोसी का-सा सम्बन्ध रखना। (ग) संसार के सभी महान् धर्मों के सम्बन्ध में अध्ययन; धर्मगुरुओं तथा संतों के जीवन एवं उपदेशों का अध्ययन और उसके द्वारा समाज में धर्म-समन्वय की भावना उत्पन्न करना। (घ) मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता तथा आनन्द-सम्पादन का प्रयत्न। (ङ) भारत के विभिन्न भागों की स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के विकास तथा संशोधन का प्रयत्न। (च) देश की राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में ज्ञान। (छ) संसार की विभिन्न समस्याओं को अच्छी तरह समझना।

४. कृषि और बागवानी

इसके उद्देश्य हैं : (क) कृषि और बागवानी के द्वारा वर्गविहीन तथा स्वावलम्बी समाज का निर्माण, (ख) समाज के संतुलित (Balanced) खाद्य के लिए अनाज, फल और सब्जियाँ पैदा करना, (ग) कृषि-बागवानी की शिक्षा और उसके विज्ञान का अध्ययन और (घ) कृषि की उन्नति में सहायता करना तथा राष्ट्रीय खाद्य-समस्या के समाधान में सहायक बनना।

५. सामूहिक भोजनशाला

सामूहिक भोजनशाला के बारे में महात्मा गांधी ने कहा था : "हमारा रसोड़ा नयी तालीम की प्रयोगशाला हो।" इस सम्बन्ध में विनोबाजी ने कहा है : "सामुदायिक भोजनशाला साम्ययोग का मन्दिर हो।"

इसके द्वारा जो-जो उद्देश्य सिद्ध होते हैं, वे ये हैं : (क) जहाँ जो खाद्य-पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा सम्बद्ध अंचल के लोगों के लिए खाद्य एवं स्वास्थ्य-विज्ञान-सम्मत संतुलित खाद्य तैयार करने के लिए परीक्षण, (ख) खाद्य-पदार्थों का एक कण भी नष्ट न कर यथासम्भव कम खर्च में उपयुक्त खाद्य तैयार करने के लिए सचेष्ट होकर देश की समस्या और खाद्य-समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न करना और (ग) परिवार, समाज और देश के खाद्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण उत्पन्न करना। इन सबके अतिरिक्त सामुदायिक रसोड़ा के द्वारा हिसाब रखने के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

६. सामुदायिक सांस्कृतिक कार्यक्रम

सांस्कृतिक अनुष्ठानों के उद्देश्य हैं : (क) सौन्दर्य-बोध तथा देश की आर्थिक दुरवस्था, इन दोनों ही बातों को ध्यान में रखते हुए यथा-सम्भव कम खर्च में और सहजप्राप्य एवं स्थानीय वस्तुओं का व्यवहार करके सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना और (ख) सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि के आयोजन द्वारा भारत तथा विश्व के इतिहास, साहित्य, संगीत, कला, नाट्यकला एवं समाज-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना।

७. संगीत

इसके उद्देश्य हैं : (क) संतों के भजनों के अभ्यास द्वारा आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना, (ख) भारत तथा विश्व के विभिन्न प्रदेशों के भजन और सामाजिक गीतों का संग्रह करके विभिन्न प्रदेशों और देशों की संस्कृति का अध्ययन करना और (ग) संगीत का अनु-

शीलन और संगीत-सम्बन्धी अध्ययन करके उसे सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न करना तथा संगीत के प्रति रुचि जाग्रत करके जनसाधारण को एतद् सम्बन्धी ज्ञान-लाभ का सुयोग देना।

इस शिक्षाक्रम पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-बुनियादी में शिल्प के अतिरिक्त सामाजिक जीवन और प्राकृतिक तथा पारिपार्श्विक परिस्थिति का भी ज्ञान-लाभ के माध्यम के रूप में उपयोग होगा। इसमें स्वावलम्बन के द्वारा शिक्षा तो होगी ही, इसमें सब मिलाकर एक नवीन ग्राम-समाज का परिपूर्ण आदर्श खड़ा करने का भी प्रयत्न किया जायगा। बुनियादी तालीम आधार है और उत्तर-बुनियादी उस आधर पर इमारत खड़ी करेगी। इस इमारत का निर्माण-कार्य किस प्रकार आगे बढ़ेगा, यह समझ लेना आवश्यक है। खाद्य-उत्पादन पहली आवश्यकता है। इसलिए कृषि को उत्तर-बुनियादी में प्रधान शिल्प का स्थान मिलेगा। पशु-पालन, मुर्गी-पालन, मधुमक्खी-पालन आदि को मूल शिल्प के पोषक या सहकारी रूप में चलाया जायगा। एक और मुख्य आवश्यकता है वस्त्र की। इसलिए खादी-शास्त्र और खादी-शिल्प के विकास का काम चलेगा। उपकरणों और सरंजाम की मरम्मत तथा भवन-निर्माण के लिए काष्ठ-शिल्प एवं लौह-शिल्प का काम हाथ में लिया जायगा। इसके अतिरिक्त तेलघानी, साबुन-निर्माण, कागज-निर्माण, गुड़-निर्माण, चक्की, ढेंकी आदि तो चलेंगे ही। साथ ही जहाँ जो कच्चा माल स्वाभाविक रूप से प्राप्त होगा, वहाँ उसके लिए अन्यान्य शिल्प भी आरम्भ किये जायेंगे। उदाहरण के तौर पर कुम्हारी के काम के लिए उपयोगी मिट्टी जहाँ उपलब्ध होगी, वहाँ मृत्तिका-शिल्प चलाया जायगा। समाज में स्वास्थ्य-रक्षा की आवश्यकता है। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था का काम हाथ में लेना होगा। सफाई का काम अच्छी तरह चलाना होगा। आत्म-विकास के लिए कला, संगीत और साहित्य का अनुशीलन करना होगा। इन सबके अतिरिक्त ग्राम-समाज की सेवा का काम किया जाना चाहिए। शिक्षा और

सेवा, दोनों ही उद्देश्यों से ग्राम में मार्ग-निर्माण, बाँध-निर्माण, गृह-निर्माण, विद्यालय-निर्माण आदि कामों की व्यवस्था करनी होगी। उत्तर-बुनियादी तालीम के प्रवर्तन के उपरान्त भूदान-यज्ञ और सर्वोदय-आन्दोलन के द्वारा जो नवीन प्रकाश मिला है, उससे उत्तर-बुनियादी के क्षेत्र का प्रसार हुआ है। भूदान-ग्रामदान और ग्रामदानी गाँवों के निर्माण-कार्यों द्वारा ग्राम-स्वराज्य-निर्माण का काम भी उत्तर-बुनियादी में अन्तर्निहित माना गया है। इसीलिए उत्तर-बुनियादी के अनेक विद्यार्थियों ने अपने-अपने इलाके में भूदान के काम में भाग लिया है। सेवाग्राम और उड़ीसा के उत्तर-बुनियादी छात्रों ने कोरापुट के ग्राम-निर्माण-कार्य में योगदान किया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के कार्य में सक्रिय भाग न लेने से सेवा-वृत्ति का विकास सम्भव नहीं हो सकेगा।

परीक्षा-पद्धति

उत्तर-बुनियादी तालीम के सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या यह है कि छात्रों की परीक्षा किस प्रकार ली जाय। इस सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा और आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है। नयी तालीम के सभी स्तरों पर यह समस्या विद्यमान रही है। उत्तर-बुनियादी तालीम के क्षेत्र में यह प्रश्न विशेष रूप से उपस्थित हुआ है। उत्तर-बुनियादी तालीम स्वावलम्बन के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा है। अतः उसमें परीक्षा का आधार भी स्वावलम्बन ही होना चाहिए। अर्थात् किसी बाहरी प्रतिष्ठान अथवा अधिकारियों द्वारा पुरानी पद्धति के अनुसार परीक्षा लेना और प्रमाणपत्र देना उचित नहीं है।

भौतिक स्वावलम्बन के द्वारा छात्रगण शिक्षा-लाभ करने में समर्थ हुए हैं या नहीं, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वावलम्बन की शिक्षा उन्होंने ग्रहण की है अथवा नहीं और शिक्षार्थियों में अभीष्ट व्यक्तिगत एवं सामाजिक गुणों ने विकास पाया है या नहीं—इन सब बातों की जाँच कोई बाहरी व्यक्ति कुछ घंटों में अपने प्रश्नों के उत्तर लिखवाकर अथवा मौखिक उत्तर सुनकर नहीं कर सकता। अतएव यह परीक्षा-कार्य

विद्यालय की आन्तरिक, स्वतःसंचालित और सुव्यवस्थित समीक्षा-पद्धति के आधार पर होना चाहिए। इस व्यवस्था में एकाधिक वर्ष बाद परीक्षा लेने के बजाय प्रतिदिन, प्रति सप्ताह और प्रतिमास समीक्षा की जायगी। छात्र अपनी-अपनी आत्म-समीक्षा करेंगे, अर्थात् अपने हृदय में अपनी जाँच करेंगे। शिक्षक दिन-प्रतिदिन की अभिज्ञता द्वारा छात्रों के काम और उनकी लिखी चीजों को देखकर उनके सम्बन्ध में अपनी धारणा बनायेंगे। साथियों के साथ उनका सम्बन्ध कैसा है और उनके बीच उनका स्थान कहाँ है, इस सम्बन्ध में प्रत्येक छात्र विचार करेगा। छात्र तो विद्यालय-परिवार, ग्राम-परिवार और स्थानीय-परिवार के एक अंग हैं। अतः छात्रों और शिक्षकों, दोनों को ही इस बात पर विचार करते रहना चाहिए कि समाज की दृष्टि में छात्रों का क्या रूप है और उनका स्थान कहाँ है। छात्र अपनी डायरी और प्रगति-लिपि नित्यप्रति लिखेंगे। प्रत्येक छात्र की अपनी परिकल्पना-पुस्तिका और प्रगति-पुस्तिका होगी। शिल्प, अध्ययन, सामाजिक गतिविधियों, सांस्कृतिक गतिविधियों और आमोद-प्रमोद—इनमें से प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग परिकल्पना और प्रगति-पुस्तिका रखनी होगी। इन सबके आधार पर उनके सम्बन्ध में विचार कर सकना सहज-साध्य होगा। समूहगत काम करते समय छात्र अन्य सहयोगियों से कितनी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करते हैं, यह भी देखना होगा।

इस प्रकार की सर्वांगीण समीक्षा में छात्रों की योग्यता चार दृष्टिकोणों से प्रमाणित होगी : (१) स्वावलम्बन-योग्यता, (२) व्यक्तिगत उन्नति, (३) सामाजिक गुणोंका विकास और (४) जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान, के अर्जन की योग्यता। नयी तालीम में, विशेषतः उत्तर-बुनियादी में, पुरानी पद्धति के अनुसार परीक्षा लेना वांछनीय और फलदायक नहीं है—इस सम्बन्ध में सब लोग एकमत हैं। उपर्युक्त आत्म-समीक्षा की पद्धति अधिक उन्नत पद्धति है, इस सम्बन्ध में भी लोग एकमत हैं। इस पद्धति का धैर्य के साथ विकास करना होगा। मोटे तौर पर विद्यालय का

कौन छात्र प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के योग्य है, इसका निर्णय करने का दायित्व विद्यालय का होगा। तब विद्यालय यह काम ठीक ढंग से कर रहा है अथवा नहीं, पहली अवस्था में इसके परिदर्शन और जाँच का भार बाहरी लोगों पर रहना अच्छा होगा। इसके फलस्वरूप विद्यालयों की शिक्षण-पद्धति स्वतः उन्नत होगी और उनके बीच एकरूपता आयेगी।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि आत्म-समीक्षा-पद्धति के ठीक ढंग से चलने की निश्चयात्मकता कहाँ है? जब अपने छात्रों को प्रमाण-पत्र देने का अधिकार विद्यालयों को प्राप्त होगा, तब उनमें समुचित दायित्व-भावना जाग्रत होना स्वाभाविक है। यह दायित्व-भावना स्वयं ही उन्हें अपना शिक्षा-स्तर उन्नत करने और आत्म-समिक्षा-पद्धति से सचाई के साथ परीक्षा-कार्य चलाने की प्रेरणा देगी। यदि किसी विद्यालय का शिक्षा-स्तर समुचित रूप से उन्नत न हो या उसके स्नातकों में योग्यता का अभाव बाहर निकलने पर प्रकट हो, तो व्यावसायिक, सरकारी और सेवा के क्षेत्रों में उस विद्यालय की बदनामी होगी। इसके फलस्वरूप उस विद्यालय का टिका रहना कठिन हो जायगा। यही तथ्य विद्यालयों के दायित्व-पालन की दिशा में रक्षा-कवच सिद्ध होगा।

डॉ० मार्गन की राय

डॉ० आर्थर ई० मार्गन (चेयरमैन, टेनीसी वैली ट्रस्ट, अमेरिका) ने भारतीय विश्वविद्यालय-आयोग के सदस्य के रूप में उसके लिए जो स्मृतिपत्र तैयार किया (सन् १९४९), उसमें ग्रामीण भारत की उच्च-शिक्षा की योजना तैयार करने के प्रसंग में उत्तर-बुनियादी शिक्षा (माध्यमिक शिक्षा) कैसी होनी चाहिए, इसका एक मनोरम चित्र अंकित किया। यहाँ संक्षेप में उसकी चर्चा करना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि एक विदेशी मनीषी के मत से वर्तमान स्थिति में इस देश की माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए।

उन्होंने लिखा है: "ग्रामीण माध्यमिक विद्यालय (जहाँ सम्भव हो) आवासीय होना चाहिए। १५० छात्रों के एक विद्यालय के लिए, स्थिति

के अनुसार, ४० से ५० एकड़ तक भूमि रहेगी। इसमें से १०-१५ एकड़ भूमि विद्यालय-भवन, छात्रावास, खेल का मैदान, कारखाना और शिल्पालय के लिए तथा बाकी भूमि कृषि, वन और चारागाह के लिए रहेगी। सुयोजित आधुनिक ग्राम को जैसा होना चाहिए, उसके अनुसार ही जहाँ तक सम्भव हो, योजना बनाकर विद्यालय के मैदान, रास्तों और घरों का निर्माण करना होगा। छात्र-छात्राओं के अपने गाँव कैसे होने चाहिए, इसके लिए विद्यालय दृष्टान्त-स्वरूप होगा। कई सौ छात्रों को एक विद्यालय में स्थान देने की अपेक्षा १५० छात्रों को ही एक विद्यालय में स्थान देना अधिक अच्छा है। विद्यालय की जीवन-यात्रा आदर्श गाँव की भाँति चलेगी। अन्तर केवल इतना रहेगा कि काम के समय का आधा भाग अध्ययन में लगाया जायगा और शेष आधा भाग खेती-बारी, गृह-निर्माण, लकड़ी के काम, घरेलू सामानों के निर्माण, बुनाई, रास्ता-सफाई और अन्य आवश्यक ग्रामीण कार्यों में लगेगा। इनमें एक-दो आधुनिक शिल्प के काम भी शामिल कर दिये जाने चाहिए।"

माध्यमिक विद्यालयरूपी गाँव भूमि और घर आदि को छोड़कर अन्यान्य सभी विषयों में यथासम्भव स्वावलम्बी होगा। सुयोजित तथा सुव्यवस्थित शिल्प की सहायता से यह स्वावलम्बन सहज-साध्य हो जायगा। विद्यालय के लिए आवश्यक खाद्य-पदार्थों का अधिकांश विद्यालय में ही उत्पन्न होगा। भूमि से किस प्रकार अधिकाधिक फसल प्राप्त की जा सकती है, यह बात छात्र विद्यालय से सीखेंगे। आज संसार को खेती-बारी के जितने अधिक रहस्य ज्ञात हैं, उतने पहले कभी नहीं ज्ञात थे। माध्यमिक विद्यालय को भी वर्तमान संसार के साथ कदम मिलाकर चलना चाहिए।

अध्ययन के समय छात्रगण सर्वांगीण संतुलित शिक्षा प्राप्त करेंगे। वे भूगोल, भूतत्त्व और ज्योतिष-शास्त्र का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्राणिशास्त्र से भी वे परिचित रहेंगे। वे अपने प्रदेश, भारत और संसार के इतिहास के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान प्राप्त करेंगे। अच्छे साहित्य से

भी वे परिचित रहेंगे। अध्ययन के द्वारा वे अपने कार्य के तत्त्वों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करेंगे। व्यावहारिक कार्य के लिए उन्हें गणित सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान रहेगा। प्रादेशिक और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्हें साधारण ज्ञान रहेगा। शरीर-चर्चा-सम्बन्धी शिक्षा सार्वजनिक होनी चाहिए।

विद्याध्ययन की अपेक्षा अच्छी आदतें, अच्छी मनोवृत्ति और चरित्र-निर्माण अधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। आचरण की सरलता और सत्यता राष्ट्रीय शक्ति का केन्द्रबिन्दु है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अर्थात् स्वतंत्र विचार से भारत में नवजीवन का संचार होगा। ग्रामीण जीवन कैसा होना चाहिए, इसका दृष्टान्त तैयार करना इस विद्यालयरूपी गाँव का लक्ष्य होना चाहिए।

श्रम-शिल्प के काम के सम्बन्ध में ग्रामीण माध्यमिक विद्यालय को एक नवीन परम्परा आरम्भ करनी होगी। अभी ऐसा मान लिया जाता है कि श्रम-शिल्पी मुख्यतः लाभ के लिए और शिक्षक मुख्यतः सेवा के लिए काम करते हैं। इस प्रकार विभिन्न पेशों के लोगों के विभिन्न उद्देश्यों से परिचालित होने का कोई कारण नहीं है।

जीवन-यापन

ग्रामीण श्रम-शिल्पी भी न्यायसंगत और भव्य-जीवन-यापन का अधिकारी है तथा उसके जीवन में आर्थिक स्वतन्त्रता रहेगी—ऐसी परम्परा आरम्भ होनी चाहिए। इस प्रकार के जीवन-मान के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसके अतिरिक्त जो उपार्जन होगा, उसे श्रम-शिल्प को शक्तिशाली बनाने और प्रसारित करने, मंदी के दिनों के लिए संचित करने, नवीन माध्यमिक विद्यालय के नवीन श्रम-शिल्प से उत्पन्न पदार्थों की उत्कृष्टता बढ़ाने, मूल्य गिराने अथवा मजदूरी बढ़ाने तथा काम की स्थिति सुधारने के काम में लगाया जायगा। सुनागरिकता की अपेक्षा अर्थ-संचय से अधिक सुख मिलता है—यह एक अद्भुत भ्रान्ति है। ग्रामीण शिक्षा द्वारा इस परम्परा में परिवर्तन लाना होगा।

बुनियादी माध्यमिक शिक्षा को यदि स्वावलम्बी बनाना है, तो उससे सम्बद्ध सारी जीवन-यात्राओं का स्तर सीधा-सादा होना चाहिए। कुछ विश्वविद्यालयों के भवन राजप्रासादों की भाँति हैं। बुनियादी माध्यमिक विद्यालय को राजप्रासाद की परम्परा त्याग देनी चाहिए। सरल, आडम्बरहीन और अल्पव्ययी जीवन-यात्रा शुद्ध, सुविधाजनक और आकर्षक हो सकती है, उत्तर-बुनियादी के युवकों को सबके समक्ष इसका उदाहरण उपस्थित करना होगा।

वस्त्र सीधे-सादे और सुरुचि-सम्पन्न होने चाहिए। उनका गाँव के लिए उपयोगी और सीधा-सादा होना आवश्यक है। विद्यालय के लिए आवश्यक वस्त्र साधारणतः विद्यालय में ही तैयार होने चाहिए। भारत के विश्वविद्यालयों के महलों और शहरों में खाद्य-पदार्थों का अपव्यय किया जाता है। ग्रामीण विद्यालयों को इससे बचना चाहिए। इन विद्यालयों में सीधे-सादे ढंग का भोजन तैयार किया जाना चाहिए। भोजन परोसने की कला और कुशलता के क्षेत्र में बुनियादी माध्यमिक विद्यालय को नवीन आदर्श उपस्थित करना होगा। भोजन स्वास्थ्यवर्द्धक होना चाहिए और उससे भोजन की विविधता की इच्छा भी पूरी होनी चाहिए।

साधारण तौर पर बुनियादी माध्यमिक विद्यालयरूपी गाँव की जीवन-यात्रा का स्तर ऐसा होना चाहिए कि उसके द्वारा इस बात का एक दृष्टान्त उपस्थित हो कि गाँव किस प्रकार उन्नति करके समृद्धिशाली बन सकते हैं। अंशतः अभावों को कम करके सीधे-सादे जीवन-यापन द्वारा और अंशतः आय-वृद्धि द्वारा स्वावलम्बन को प्रोत्साहन देना होगा।

बुनियादी तालीम के प्रत्येक बालक और बालिका को सभी साधारण कार्य करने में समर्थ होना चाहिए। नवीन भारतीय संविधान के मन्तव्यों के अनुसार प्रत्येक बालक और बालिका को यह संकल्प लेना चाहिए:

"मैं किसी भी व्यक्ति से ऐसी कोई हीन सेवा (Menial Service) नहीं लूँगा, जो मैं उसके लिए या दूसरे लोगों के लिए सहर्ष करने को तैयार नहीं हूँ।"

● ● ●

अध्याय १० विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा स्वावलम्बन

नयी तालीम के बुनियादी स्तर पर छात्र-छात्राओं पर आर्थिक स्वावलम्बन का दायित्व नहीं लादा जाता, क्योंकि उस समय स्वावलम्बी बनने के लिए ही शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थी उस समय उत्तरोत्तर स्वावलम्बी बनने की तैयारी करते रहते हैं। किन्तु यदि मूल शिल्प का शिक्षा के माध्यम के रूप में परिपूर्ण और उचित रीति से व्यवहार किया जाय, तो शिक्षा-प्राप्ति के अनन्तर विद्यार्थी निश्चय ही इतने परिमाण में उत्पादन कर सकते हैं, जिससे विद्यालय का संचालन-व्यय, कम-से-कम शिक्षकों का वेतन-व्यय, पूरा हो सके। किन्तु ऐसा माना जाता है कि बुनियादी में उत्तीर्ण होने के बाद ही विद्यार्थी स्वावलम्बी हो सकेंगे। तदनुसार ही उत्तर-बुनियादी स्तर की शिक्षा की योजना बनायी गयी है। इसी कारण उत्तर-बुनियादी में स्वावलम्बन के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। अतएव बुनियादी स्तर पर उत्तीर्ण होने के बाद परवर्ती स्तर की शिक्षा का शिक्षाक्रम कैसा होना चाहिए, इस सम्बन्ध में विनोबाजी का परामर्श है : "बच्चे छः घंटे मेहनत करके शरीर-श्रम से रोटी कमायें और दो घंटे उसके परिपोषक ज्ञान-विज्ञान की उन्हें शिक्षा दी जाय। बच्चों पर खर्च न तो पाठशालाएँ करें और न माता-पिता ही—चाहे वे बच्चे गरीब घर के हों, चाहे अमीर घर के। ऐसा करने से ही सच्चा प्रयोग होगा और देश आगे बढ़ेगा।"

उत्तर-बुनियादी को पार करने के बाद जब नयी तालीम का विद्यार्थी विश्वविद्यालय के शिक्षा-क्षेत्र में प्रवेश करेगा, तब ऐसा माना जायगा कि वह स्वावलम्बी हो गया है। तदनुसार विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम की कल्पना और व्यवस्था की गयी। उस समय शिक्षक और छात्र, दोनों

स्वावलम्बी जीवन-यापन करेंगे और देश के समक्ष अपना उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—ऐसी आशा की गयी। इसीलिए इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "उसके शिक्षकों और विद्यार्थियों, दोनों को जैसे सुसज्जित पुस्तकालय की आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था कर दी जायगी। उनको जो औजार चाहिए, वे दिये जायँगे। जमीन आदि जो चाहिए, वह दी जायगी और कुछ मकान भी बना दिये जायँगे। शेष वे स्वयं बनायेंगे। इतना करने के बाद उनसे कहा जायगा कि इसके आगे आपको और कोई चीज मिलनेवाली नहीं है। अब दोनों मिलकर सामूहिक जीवन जियें और देश के सामने उदाहरण उपस्थित करें कि उत्तम-से-उत्तम समग्र जीवन कैसा होता है। ऐसे विश्वविद्यालय में ज्ञान-चर्चा होगी, प्रयोग किये जायँगे। उन प्रयोगों के जो परिणाम आयेंगे, वे देश के सामने रखे जायँगे। यह सब होगा। लेकिन मुख्य बात यह होगी कि सीखनेवाले और सिखानेवाले दोनों अपने पैरों पर खड़े हैं, हाथों से काम करते हैं और अपनी रोटी कमाते हैं—सो भी जैसे-तैसे नहीं, उत्तम-से-उत्तम रीति से कमाते हैं, यह वे करके दिखा देंगे। वे जो भी काम करेंगे, वहाँ जो भी शिक्षा दी जायगी, जो औजार और मकान आदि बनेंगे, उन सबमें उनकी विद्या की झाँकी दीख पड़ेगी।"

विनोबाजी कहते हैं कि नयी तालीम में जो एक निर्दिष्ट आयु तक स्वावलम्बी बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जाती है और उसके बाद छात्र को स्वावलम्बी मानकर वैसे उच्च स्तर के शिक्षाक्रम का निर्माण किया जाता है, वह हमारे देश की प्राचीन परम्परा के अनुरूप ही है। वे कहते हैं कि जनसाधारण में मनु का एक श्लोक बहुत ही प्रचलित है। यह श्लोक है : **"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।"** अर्थात् पुत्र जब १६ वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए। वे कहते हैं कि इस श्लोक का वास्तविक अर्थ यह है कि १६ वर्ष की आयु हो जाने पर बच्चों को अपना दायित्व स्वयं ग्रहण करना चाहिए। मनुष्य मित्र को परामर्श देता है और कभी-कभी विशेष

प्रयोजन होने पर उसकी सहायता भी करता है। छात्रों के सम्बन्ध में भी माता-पिता अथवा अभिभावकों को ऐसा ही करना चाहिए। यह केवल कहने की बात नहीं है। इसमें माता-पिता तथा समाज के महान् दायित्व का प्रश्न निहित है। वह दायित्व यह है कि माता-पिता और समाज की ओर से बालक-बालिकाओं की शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि १६ वर्ष की आयु होते ही वे जीवन का दायित्व वहन कर सकने में समर्थ हो जायँ।

विनोबाजी कहते हैं कि प्राचीन काल में ऐसा ही होता था, अन्यथा मनु के इस श्लोक की रचना ही न होती। समाज में दीर्घकालीन अनुभवप्राप्त ज्ञान ही मनु में संकलित है। विनोबाजी कहते हैं: "मनु का अर्थ कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है। समाज के हजारों वर्षों के अनुभव को ही 'मनु' कहा जाता है।" उस समय समाज में इस प्रकार का चलन और भावना थी, यह बात यज्ञ-रक्षा के लिए विश्वामित्र ऋषि के आश्रम में राम को भेजते समय दशरथ की उक्ति से प्रमाणित हो जाती है। विश्वामित्र ने जब दशरथ से राम को माँगा था, तब दशरथ ने यही कहकर आपत्ति की थी कि अभी राम की उम्र १६ वर्ष नहीं हुई है। अतः इस छोटी आयु में राम इतने बड़े दायित्व को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होंगे। किन्तु जब वशिष्ठ ने उन्हें समझा दिया कि विश्वामित्र की देखरेख और निर्देशन में राम इस दायित्वको ग्रहण कर सकेंगे और यह उनके लिए एक शिक्षाक्रम भी सिद्ध होगा, तब दशरथ राम को भेजने के लिए राजी हो गये। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन दिनों दायित्व ग्रहण करने की आयु १६ वर्ष मानी जाती थी। नयी तालीम में १४ वर्ष तक स्वावलम्बन-शिक्षा की नीति ग्रहण की गयी है। प्रगतिशील देशों में १४ वर्ष की आयु पार करके १५वें वर्ष में प्रवेश न करने तक बालकों को कारखाने में काम करने देने की अनुमति नहीं है। मनु के कथनानुसार स्वावलम्बी होने की आयु एक वर्ष अधिक है—बस, केवल इतना अन्तर है।

किन्तु आज हमारे देश की स्थिति विपरीत है। देश के असंख्य गरीब बालक-बालिकाओं को छोटी आयु से ही पेट भरने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। उनके शिक्षा प्राप्त करने की बात तो दूर रही, मेहनत करने पर भी उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता। दूसरी ओर २४-२५ वर्ष के युवक-युवतियों की भी शिक्षा चलती रहती है। और फिर उन्हें जो शिक्षा मिलती है, उसके फलस्वरूप वे समाजका भार कम क्या करेंगे, उलटे उस पर भार बन जाते हैं। साथ ही उनकी शिक्षा पर होनेवाले व्यय का अधिकांश समाज को अथवा सरकार को बर्दाश्त करना पड़ता है। इसी कारण विनोबाजी कहते हैं: "सोलह वर्ष तक स्वावलम्बन का शिक्षण और उसके बाद स्वावलंबन से शिक्षण—यह सूत्र स्वीकार कर तदनुसार शिक्षण-योजना चलाये बिना इस दोहरी दुर्गति से छुटकारा नहीं मिल सकता।"

यहाँ एक बात का विशेष रूप से उल्लेख किये जाने की आवश्यकता है। नयी तालीम का अभीष्ट भौतिक स्वावलंबन, पैसे पर निर्भर अर्थ-व्यवस्था नहीं है। उसमें जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्तुओं—जैसे, खाद्य-पदार्थ, वस्त्र आदि—का अपने अद्रोही श्रम से उत्पादन करके आवश्यकता-पूर्ति करनी होगी। उसमें आर्थिक फसलों अर्थात् जीवन-यापन के लिए अनावश्यक वस्तुओं का किसी शिल्प के द्वारा उत्पादन करके उसकी बिक्री से होनेवाली आय द्वारा आवश्यक वस्तुओं की खरीद करने से काम नहीं चलेगा। इसके अलावा जिस श्रम के द्वारा जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जायगा, वह अद्रोही श्रम होना चाहिए। अर्थात् उत्पादन के कारण बेकारी की सृष्टि होकर गरीबों का अहित न हो। उदाहरणस्वरूप यदि धान ढेंकी में न कूटकर हस्किंग मशीन में कूटा जाय, तो हस्किंग मशीन चलाने में लगनेवाला श्रम अद्रोही नहीं होगा। वह द्रोहात्मक श्रम होगा। इस प्रकार उत्तर-बुनियादी में आर्थिक समता के आधार पर समाज की आवश्यकता पूरी करने का प्रयत्न करके एक नवीन आर्थिक व्यवस्था को जन्म देने

का प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में एक मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। उस नये समाज में उत्पादन व्यवहार के लिए होगा, बाजार के लिए नहीं। अर्थप्रधान अर्थ-नीति के बदले अन्न आदि आवश्यक वस्तुप्रधान अर्थ-व्यवस्था उस समाज की विशेषता होगी।

बौद्धिक स्वावलम्बन का अर्थ केवल स्वाध्याय द्वारा ग्रन्थादि का अध्ययन करना नहीं है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जिन सब समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनके समाधान के लिए मन और बुद्धि को सक्रिय बनाना पड़ेगा। इसमें अनुसन्धान का सुयोग भी आयेगा। इसलिए उत्तर-बुनियादी और विश्वविद्यालय-स्तर पर अनुसन्धान का कार्यक्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा। ● ● ●

अध्याय ११ उत्तर-बुनियादी और सरकारी मान्यता

सार्जेण्ट-योजना व बुनियादी

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के पहले ही भारत-सरकार ने युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास-योजना के सम्बन्ध में विचार-विवेचन आरम्भ कर दिया था। श्री जॉन सार्जेण्ट उस समय भारत-सरकार के शिक्षा-परामर्शदाता थे। जनवरी १९४४ में केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-परामर्शदाता-मंडल ने युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की एक योजना तैयार की। सार्जेण्ट साहब उस केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शदाता-मंडल के संयोजक थे। इसीलिए केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शदाता-मंडल की उक्त योजना 'सार्जेण्ट स्कीम' या 'सार्जेण्ट-योजना' के नाम से पुकारी जाती है। उस समय तक महात्मा गांधी की नयी तालीम की बुनियादी या बेसिक शिक्षा का एक नमूना (हालाँकि उस समय तक वह अस्पष्ट ही था) देश के समक्ष आ गया था। उसमें थोड़ा परिवर्तन करके सार्जेण्ट साहब ने उसे अपनी शिक्षा-योजना में शामिल किया और युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास-योजना के आधार के रूप में ग्रहण किया। महात्मा गांधी की नयी तालीम के बुनियादी स्तर का नाम 'बेसिक' है। सार्जेण्ट साहब ने भी उसका अनुसरण करके अपनी प्राथमिक शिक्षा का नाम 'बेसिक शिक्षा' रखा। हो सकता है कि महात्मा गांधी द्वारा आविष्कृत शिक्षा-विचार के 'बेसिक' नाम का लाभ पाने के उद्देश्य से उस सरकारी योजना का नाम 'बेसिक शिक्षा' रखा गया हो। जो हो, इस प्रकार सरकारी प्राथमिक और माध्यमिक (प्राइमरी और मिड्ल) विद्यालयों में युद्धोत्तर-पद्धति 'बेसिक' अथवा 'बुनियादी' नाम से चलने लगी। किन्तु सार्जेण्ट साहब ने जब उच्च विद्यालय (हाईस्कूल) स्तर की शिक्षा के बारे में विचार किया, तब उनके सामने उत्तर-

बुनियादी शिक्षा की कोई रूपरेखा तक नहीं थी। कारण उत्तर-बुनियादी की कल्पना ने सन् १९४५ में जन्म लिया। इसके बावजूद उन्होंने हाईस्कूल की शिक्षा के उस स्वरूप का समर्थन नहीं किया, जो एक लम्बे अरसे से प्रचलित था। उनका कहना था कि विश्वविद्यालय में भर्ती के लिए छात्रों को तैयार करना हाईस्कूलों का एकमात्र उद्देश्य नहीं होना चाहिए। उनके विचार में हाईस्कूल के शिक्षाक्रम में ऐसे अनेक व्यावहारिक विषय शामिल होने चाहिए, जिसके कारण विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा न पाने पर भी हाईस्कूल-उत्तीर्ण छात्र प्रत्यक्ष जीवन-क्षेत्र में विविध व्यवसायों में प्रवेश पाने के योग्य बन सकें। इसलिए उन्होंने हाईस्कूल सम्बन्धी योजना में दो पक्ष उपस्थित किये : (१) विश्व-विद्यालय में प्रवेश के लिए और (२) स्वतन्त्र व्यवसाय में प्रवेश के लिए। इसी कारण उन्होंने अपनी योजना में हाईस्कूल का नाम रखा — Multi lateral या बहुमुखी उच्च विद्यालय। सन् १९४४-४५ में माध्यमिक शिक्षा-कमीशन की सिफारिश के फलस्वरूप सार्जेण्ट साहब के 'बहुमुखी' उच्च विद्यालय (Multi Lateral High School) को 'बहूद्देश्यीय' या 'बहुशिल्पी' उच्च विद्यालय नाम मिला और उक्त बहू-द्देश्यीय उच्च विद्यालय में विविध पाठ्यक्रमों तथा शिल्पों की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। अब प्रश्न यह है कि माध्यमिक शिक्षा-कमीशन ने इस शिक्षा-स्तर का नामकरण Post Basic या उत्तर-बुनियादी क्यों नहीं किया। साथ ही उसने 'बेसिक' प्रणाली के साथ उस प्रणाली के सामंजस्य का प्रयत्न क्यों नहीं किया ? माध्यमिक कमीशन की बात जाने भी दें, तो भी यह सोचने की बात है कि वर्तमान भारत-सरकार ने उसका यह नाम क्यों नहीं रखा ?

इन सब शिक्षा-योजनाओं का जिस समय निर्माण किया गया था, उस समय भारत स्वाधीन नहीं था। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने पूर्ववर्ती भारत-सरकार द्वारा अपनायी गयी प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा-स्तर की दोनों योजनाएँ स्वीकार कीं। तदनुसार ही

उसने बुनियादी शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के रूप में मान लिया है और पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा प्रचलित करने की व्यवस्था की है। एक निश्चित अवधि तक देश में सर्वत्र प्राथमिक शिक्षा को बुनियादी शिक्षा में परिणत करने का भी उसने निश्चय किया है। उसीके अनुसार देश में अनेक नये बुनियादी विद्यालयों की स्थापना हो रही है और पुराने ढंग के प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिणत किया जा रहा है। परन्तु सार्जेण्ट-योजना के अनुसार स्वावलम्बन नीति का अनुसरण नहीं हो रहा है—यह बात स्मरण रखना आवश्यक है।

अब नयी तालीम बुनियादी स्तर को पार कर काफी आगे बढ़ गयी है, अर्थात् वह उत्तर-बुनियादी को पार कर गयी है—उत्तम-बुनियादी (विश्वविद्यालय-स्तर) पर आ गयी है। राष्ट्र और समाज के कल्याण की दृष्टि से और जो विद्यार्थी बुनियादी स्तर को उत्तीर्ण कर चुके हैं या करेंगे, उनके कल्याण की दृष्टि से यह बात केवल आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य मानी जानी चाहिये कि निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर तक शिक्षा-नीति और पद्धति में संगति हो। अर्थात् माध्यमिक और उच्च शिक्षा में नयी तालीम की नीति (गृह-शिल्पों के माध्यम से शिक्षा) आधार-स्वरूप ग्रहण की जाय। अतएव १९५६ में सेवाग्राम में जो अखिल भारतीय उत्तर-बुनियादी सम्मेलन आयोजित हुआ, उसमें नम्रता एवं दृढ़ता के साथ यह विचार व्यक्त किया गया : "भारत-सरकार को अब इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा का रूप भी बुनियादी तालीम का ही विकसित रूप हो और विश्वविद्यालय की शिक्षा भी नयी तालीम के सिद्धान्तों पर ही आधारित हो।" इसी कारण सम्मेलन ने भारत-सरकार से सिफारिश की कि "वह माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा में इस तरह का परिवर्तन करने का शीघ्र निश्चय करे और उसको कार्यान्वित करने का आवश्यक प्रबन्ध करे।"

किन्तु सरकार ने इस सम्बन्ध में अब तक कुछ नहीं किया है।

इसका कारण क्या है ? इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में नयी तालीम की जो नीति मान ली है, वह नयी तालीम में विश्वास होने के कारण नहीं— आज भी बुनियादी पद्धति में उसकी पूरी आस्था नहीं है। देश की परिस्थिति को देखकर वह इसे मानने को विवश हुई है। शिक्षित युवकों में बेकारी, असन्तोष, निराशा और उग्रता बहुत ही तीव्र गति से बढ़ रही है। राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से कोई भी सरकार इस सम्बन्ध में उदासीन नहीं रह सकती। अतएव उसने शिक्षा में परिवर्तन करना आवश्यक समझा और भावी नागरिकों को बचपन से ही श्रमनिष्ठ तथा कर्मपरायण बनाने का निश्चय किया। किन्तु उसने जहाँ छोटे बच्चों के लिए नयी तालीम की नीति (काम द्वारा शिक्षा) मान ली, वहाँ युवकों की शिक्षा के क्षेत्र में वह इस नीति पर विश्वास न कर सकी। इसीलिए माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में विविध शिल्पों की शिक्षा की व्यवस्था तो कर दी गयी है, परन्तु उनके माध्यम से शिक्षा देने की नीति स्वीकार नहीं की गयी है। अन्ततः हाईस्कूल-स्तर की शिक्षा में इस नीति को मान लेने की विशेष आवश्यकता रही है, क्योंकि देश की शिक्षा-व्यवथा में माध्यमिक शिक्षा का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वह प्राथमिक और विश्वविद्यालय, दोनों स्तरों के मध्य में है। यदि माध्यमिक स्तर की शिक्षा सर्वोत्तम नीति के आधार पर चले, तभी सहज भाव से अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। नयी तालीम में प्राथमिक स्तर पर विद्यार्थियों में अच्छी-अच्छी वृत्तियों और संस्कारों का उन्मेष कराया जाता है। उसमें आरम्भ से ही दायित्व-बोध कराया जाता है और फिर उत्तरोत्तर उसे विकसित किया जाता है। माध्यमिक स्तर पर अर्थात् उत्तर-बुनियादी स्तर पर अर्जित कर्म और ज्ञान के संस्कारों को दृढ़ किया जाता है और दायित्व-बोध को पुष्टि प्रदान की जाती है, क्योंकि माध्यमिक स्तर उत्तीर्ण विद्यार्थियों में से ही प्राथमिक स्तर के शिक्षकों का चुनाव करना होगा। इसके साथ-साथ इन्हीं लोगों में से उच्च शिक्षा के लिए योग्य विद्यार्थियों

और समाज के विभिन्न क्षेत्रों के कार्य-संचालन के लिए योग्य कार्य-कर्ताओं का भी चुनाव करना होगा। इसलिए इस सम्बन्ध में नयी तालीम के कार्यकर्ताओं का दायित्व बहुत बड़ा है। वे देशभर में व्यापक रूप से उत्तर-बुनियादी का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें, जिससे जन-साधारण और सरकार की समस्त शंकाओं का निराकरण हो जाय और वे इसे एक अधिक समुन्नत शिक्षा-प्रणाली के रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त करें।

माध्यमिक और उच्च शिक्षा के स्तर पर बुनियादी शिक्षा-नीति को स्वीकार करके उसका अनुसरण न करते हुए भी यदि सरकार उत्तर-बुनियादी या उत्तम-बुनियादी शिक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को मान्यता प्रदान कर देती, तो इस शिक्षा के प्रसार का मार्ग कुछ-कुछ उन्मुक्त होता। अभी उत्तर-बुनियादी शिक्षा में उत्तीर्ण होकर बाहर आने पर उनका प्रमाण-पत्र सरकारी नौकरी मिलने में बिलकुल ही व्यर्थ सिद्ध होता है—उसे किसी भी प्रकार भी मान्यता नहीं प्रदान की जाती। इसके फलस्वरूप उत्तर-बुनियादी अथवा उत्तम-बुनियादी शिक्षा प्राप्त करने का विद्यार्थियों में उत्साह नहीं रह जाता। बिहार-सरकार ने एक आदेश जारी करके यह घोषणा की है कि उत्तर-बुनियादी का प्रमाणपत्र मैट्रिकुलेशन के प्रमाणपत्र के समकक्ष माना जायगा। देश की अन्यान्य राज्य-सरकारें यदि इस तरह भी कुछ करतीं, तो नयी तालमी का हित-साधन होता। किन्तु यह गौण प्रश्न है। मुख्य प्रश्न है, शिक्षा के सभी स्तरों पर नयी तालीम की नीति मानकर उसका अनुसरण करना।

प्रसन्नता की बात है कि पंजाब, मद्रास और केरल की सरकारों ने गैर-सरकारी उत्तर-बुनियादी तालीम को स्वीकृति प्रदान की है। ● ● ●

अध्याय १२ नयी तालीम के विश्वविद्यालय

सेवाग्राम के उत्तर-बुनियादी के छात्रों ने जब अपना शिक्षाक्रम समाप्त किया, तब प्रश्न उठा कि अब वे क्या करें ? नयी तालीम के आदर्श के अनुरूप समग्र शिक्षा क्या उन्हें मिली है ? नहीं, वह तो उन्हें मिली नहीं। नयी तालीम में परिपूर्ण जीवन की जो कल्पना की जाती है, उसकी तुलना में उन्होंने जो शिक्षा प्राप्त की है, वह अत्यन्त ही सीमित है। तब, अब वे क्या करेंगे ? यदि वे आगे पढ़ना न चाहें, तो उन्होंने जो सीखा है, उसका देशके कल्याण के लिए सदुपयोग कर सकेंगे और स्वयं प्रयत्न करके अपनी ज्ञान-वृद्धि कर सकेंगे। किन्तु जो लोग आगे पढ़ना चाहें, उनके लिए क्या व्यवस्था की जा सकती है ? उनके लिए नयी तालीम की उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था करना क्या उचित नहीं होगा ? फिर यह व्यवस्था की भी जा सकती है कि नहीं ?—ये सब समस्याएँ सामने आ गयीं और इस तरह नयी तालीम की विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रश्न उठा। सब लोगों ने अनुभव किया कि उत्तर-बुनियादी में उत्तीर्ण छात्रों की उच्चतर शिक्षा के लिए कुछ व्यवस्था की जानी चाहिए। इस प्रसंग में गाँवों के लिए एक पृथक् विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी प्रस्ताव रखा गया। महात्मा गांधी ने भी नयी तालीम की विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार किया था। उन्होंने कहा था : "मैं कॉलेज की शिक्षा में क्रांति लाऊँगा और राष्ट्रीय आवश्यकता के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करूँगा।" विद्यमान विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए योजना तैयार करने, उसे देश के समक्ष उपस्थित करने का भी प्रश्न उठा। इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श और आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। यह निश्चय किया गया कि यद्यपि नाम

से विश्वविद्यालय एक विराट् वस्तु के रूप में उपस्थित होता है और उससे विराट् शिक्षा-व्यवस्था की ध्वनि निकलती है, तथापि जो सब छात्र उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण करने के उपरान्त उच्चतर शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक शिक्षा-व्यवस्था करनी होगी—चाहे उसे विश्वविद्यालय नाम दिया जाय या अन्य कुछ। विद्यमान विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए योजना तैयार करने की जो बात उठी थी, उस सम्बन्ध में विनोबाजी द्वारा व्यक्त किये गये विचारों को ही समीचीन माना गया। उन्होंने कहा था कि नयी तालीम को बुनियादी शिक्षा कहकर पुकारने का अर्थ यही है कि देश की समस्त शिक्षा, सभी स्तरों की शिक्षा, नयी तालीम के मूल सिद्धान्त की बुनियाद पर आधारित होनी चाहिए। यदि विद्यमान विद्यालय नयी तालीम के सिद्धान्त को स्वीकार करें, तो वे स्वयं ही आत्म-प्रवृत्त होकर अपनी शिक्षा-व्यवस्था में आवश्यक सुधार कर लेंगे। किन्तु सहज ही अथवा शीघ्र ही इस प्रकार का परिवर्तन आ सकना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबाजी ने श्री किशोरलालभाई मश्रूवाला के इस विचार का समर्थन किया कि विश्वविद्यालयों का निर्माण पुराने ढंग पर हुआ है। उनके लिए स्वरूप-परिवर्तन कर सकना अल्प समय का अथवा सहज-साध्य काम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त विनोबाजी ने कहा कि नयी तालीम का परिपूर्ण आदर्श प्रस्तुत कर सकना अब तक सम्भव नहीं हो सका है। अतएव ऐसा करने से पहले ही विश्वविद्यालयों में सुधार लाने की योजना तैयार करके उसे उनके समक्ष उपस्थित करना ठीक नहीं होगा।

विश्वविद्यालयीन शिक्षा-क्रम

जो लोग उत्तर-बुनियादी में उत्तीर्ण हुए थे, उनके लिए सेवाग्राम में विश्वविद्यालय-स्तर (स्नातक-स्तर) की शिक्षा की योजना और शिक्षा-क्रम तैयार करने के लिए हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने जो उपसमिति बनायी, उसने एक योजना और शिक्षा-क्रम तैयार किया। उसमें विश्वविद्यालय-

स्तर का शिक्षा-काल तीन वर्ष निश्चित किया गया। पर इसके साथ ही यह भी कहा गया कि स्वास्थ्य, चिकित्सा और कारीगरी की शिक्षा के लिए अधिक समय की आवश्यकता हो सकती है। उसमें आठ विषयों की शाखाओं (Faculties) की व्यवस्था की गयी : जैसे, (१) कृषि और उससे सम्बद्ध अन्यान्य शिल्प; (२) पशु-पालन और दुग्ध-विद्या (Dairying), (३) खाद्य और पोषण-विज्ञान, (४) ग्राम-उद्योग, (५) ग्राम्य स्वास्थ्य-रक्षा, (६) ग्राम्य-शिक्षा, (७) ग्राम्य कारीगरी शिक्षा और (८) खादी-विज्ञान।

नयी तालीम की विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा में शिक्षकों और छात्रों का जीवन सहयोग तथा श्रम पर आधारित होगा। इस प्रकार शिक्षार्थी-गण आदर्श स्वावलम्बी ग्राम-स्वरूप जीवन-निर्वाह करेंगे और व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन से सम्बद्ध विषयों का उच्चतर ज्ञान प्राप्त करेंगे। फलतः वे एक परिपूर्ण व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन का आदर्श उप-स्थित करने में सफल होंगे। अनेक क्षेत्रों में उनका काम गवेषणामूलक होगा।

नयी तालीम की विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा-व्यवस्था को 'ग्रामीण विश्वविद्यालय' नाम दिया गया है। विनोबाजी ने कहा है कि उसे विश्व-विद्यालय अथवा अन्य कुछ भी कहा जा सकता है। उन्होंने उसे 'उत्तम-बुनियादी' नाम भी दिया। श्री आर्यनायकमजी ने कहा कि विश्वविद्या-लय-स्तर की उक्त शिक्षा-योजना ग्राम-कल्याण की दृष्टि से ही तैयार की गयी है, क्योंकि देश के ८५ प्रतिशत लोग ग्रामीण हैं। अतएव यद्यपि ग्राम-कल्याण की दृष्टि से उसका निर्माण हुआ है, तथापि उसे 'राष्ट्रीय विश्वविद्यालय' कहा जा सकता है। इससे ग्राम और शहर के बीच का भेद-भाव समाप्त होगा। जो हो, उस योजना के अनुसार सेवाग्राम में शिक्षा-प्राप्त प्रथम स्नातक-दल को कांचीपुरम् (मद्रास) में आयोजित सर्वोदय-सम्मेलन के समय विनोबाजी द्वारा उपाधियाँ प्रदान की गयीं।

विनोबाजी ने आरम्भ में केवल सेवाग्राम के लिए, तत्कालीन आव-

श्यकता के अनुसार, विश्वविद्यालय-स्तर का शिक्षाक्रम और शिक्षा-योजना तैयार करने का परामर्श दिया था। कारण उस समय प्रयोजन-पूर्ति के अतिरिक्त कुछ करने की स्थिति नहीं थी। अब विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा का एक नमूना (भले ही वह आदर्श अथवा आशा के अनुरूप न हो) देश के समक्ष आ गया है। अन्यान्य दृष्टियों से भी परिस्थितियाँ बदली हैं।

ग्राम-ग्राम में विश्वविद्यालय

इस स्थिति में अब विनोबाजी कहते हैं कि ग्राम-ग्राम में विश्वविद्यालय होना चाहिए। विनोबाजी जब यह बात कहते हैं, तब क्या वे कोई अवास्तविक कल्पना किये रहते हैं ? जिन बातों के बारे में मनुष्य कभी सोचता नहीं था, उनके बारे में महात्मा गांधी चर्चा किया करते थे। किन्तु उन्होंने कभी भी कोई ऐसी बात नहीं कही, जिसे व्यावहारिक क्षेत्र में कार्यान्वित करना संभव न हो। वे कल्पनानुरक्त थे, यह बात सही है; किन्तु उनकी कल्पनाएँ व्यावहारिक जीवन में प्रयोग के लिए अनुपयुक्त नहीं होती थीं। इसीलिए वे अपने को 'Practical Visionary' व्यावहारिक कल्पनाशील कहा करते थे। विनोबाजी के संबंध में भी यही बात लागू होती है। इसलिए जब वे ग्रामीण विश्वविद्यालय की बात कहते हैं, तब सभी दृष्टियों से सोच-विचारकर ही कहते हैं—ऐसा मानना अनुचित न होगा। उनकी ग्रामीण विश्वविद्यालय की कल्पना की व्यावहारिकता के संबंध में जो शंकाएँ उठ सकती हैं, उनका उन्होंने स्वयं ही समाधान भी किया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक गाँव में लोग जन्म से मृत्यु तक निवास करते हैं और सारा जीवन गाँव के कामों में लगाते हैं। अतएव उनकी शिक्षा की सारी व्यवस्था गाँव में ही होनी चाहिए। गाँव में साधारण शिक्षा, छोटे शहर में माध्यमिक शिक्षा, जिला के मुख्य शहर में उच्च शिक्षा और राज्य की राजधानी में उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए—यह धारणा गलत है। वे कहते हैं : "जब जन्म से मृत्यु

तक के सारे काम गाँव में चलते हैं, तो सब प्रकार के शिक्षण के साधन वहाँ मौजूद ही हैं।"

किंतु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि गाँव में उच्च अथवा उच्चतम तत्त्वज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि की शिक्षा की व्यवस्था हो भी जाय, तो क्या विज्ञान या उच्च कारीगरी (Technical) की शिक्षा और तत्सम्बद्ध गवेषणा की व्यवस्था वहाँ की जा सकती है ? इसके उत्तर में विनोबाजी कहते हैं : "जब मैं कहता हूँ कि हर गाँव विश्वविद्यालय होना चाहिए, तब मेरा उद्देश्य यह नहीं होता कि हर गाँव में हर चीज का पूरा ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। आज अन्य विश्वविद्यालयों में भी यह कहाँ सम्भव है ? हर विश्वविद्यालय में हर फैकल्टी (Faculty), यानी हर विषय के उच्च शिक्षण और शोध की व्यवस्था तो होती नहीं। दो स्थानों में अन्य व्यवस्थाएँ समान हों, तो भी शिक्षार्थी उस जगह जाते हैं, जहाँ उस विषय का गुरु अधिक योग्य होता है। यही बात गाँवों के विश्वविद्यालयों में होगी। सामान्य तौर पर ऊँचे-से-ऊँचे शिक्षण की व्यवस्था हर जगह रहेगी, पर जहाँ जंगल अधिक हैं, वहीं 'जंगल-शास्त्र' या 'लकड़ी-शास्त्र' या 'ओषधि-विज्ञान' की फैकल्टी रहेगी—वह सब जगह नहीं हो सकेगी। यह भी समझ लेना चाहिए कि बहुत-सा उच्च ज्ञान भी पूरी तरह भौतिक साधनों पर अवलम्बित नहीं रहता। उदाहरण के लिए ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञान के लिए रोज दूरबीन से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी-कभी उससे देख लेना काफी होता है। तो दूरबीन हर गाँव में नहीं रखी जा सकती, फिर भी ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन गाँव-गाँव में हो सकता है। दूरबीन किसी एक केन्द्रीय स्थान पर रखी जा सकती है और आवश्यकता पड़ने पर वहाँ जाकर उसका उपयोग किया जा सकता है।

"खोज के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—दार्शनिक वृत्ति, हाथोंसे काम करने का अभ्यास और कुशलता तथा भौतिक साधन। गाँवों में दार्शनिक वृत्ति के निर्माण के मार्ग में कोई रुकावट है नहीं, यह तो

हमने देखा। काम करने की कुशलता के लिए भी वहाँ पर्याप्त अवकाश है ही, क्योंकि वहाँ हर काम लोग स्वयं हाथों से करते हैं। भौतिक साधन भी अधिकांशतः वहाँ उपलब्ध हैं, क्योंकि सारी सृष्टि वहाँ खुली पड़ी है। जो साधन सब जगह उपलब्ध नहीं हो सकते, उनकी चर्चा भी हमने ऊपर की है।

"इस प्रकार गाँव-गाँव में सम्पूर्ण, यानी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा और खोज का अवकाश है और हर गाँव में उसका प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी शुरुआत और तैयारी गाँव-गाँव में 'एक घंटे की पाठशाला' से होनी चाहिए। आज तो ज्ञान सीमित है। ज्ञान को व्यापक बनाना हो और सबके लिए उसके दरवाजे खोलने हों, तो इसी प्रकार यह सम्भव होगा।"

● ● ●

अध्याय १३ नयी तालीम में प्रौढ़-शिक्षा

सन् १९४५ में महात्मा गांधी के कथनानुसार नयी तालीम का क्षेत्र-प्रसार करके पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को उसमें शामिल कर दिया गया—यह बात पहले बतायी जा चुकी है। सन् १९४४ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने प्रौढ़-शिक्षा के विषय में आवश्यक सिफारिशें करने के लिए एक उपसमिति का निर्माण किया। उक्त उप-समिति की सिफारिशों के आधार पर प्रौढ़-शिक्षा की योजना और शिक्षाक्रम तैयार करने के लिए एक प्रौढ़-शिक्षा-समिति का गठन किया गया। इस समिति ने प्रौढ़-शिक्षा के लिए एक शिक्षाक्रम तैयार किया। तदुपरान्त महात्मा गांधी के निर्देशानुसार श्रीमती शान्ता नारूलकर ने सेवाग्राम में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य आरम्भ किया।

आजकल प्रौढ़-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रायः चर्चा होती है और उसकी ओर अनेक लोग आकर्षित हुए हैं। अनेक संस्थाएँ प्रौढ़-शिक्षा का कार्य-क्रम ग्रहण करके गाँवों और शहरों के बस्ती-अंचलों में प्रौढ़-शिक्षा के वर्ग चलाती हैं। प्रचलित प्रौढ़-शिक्षा और नयी तालीम की प्रौढ़-शिक्षा के बीच क्या अन्तर है, पहले यह समझ लेना आवश्यक है; तभी नयी तालीम की प्रौढ़-शिक्षा की विशिष्टता प्रकट होगी। प्रचलित प्रौढ़-शिक्षा में जिस धारणा को लेकर शिक्षा-दान आरम्भ किया जाता है, वह नयी तालीम की दृष्टि से दोषपूर्ण है। कारण उसमें धारणा यह होती है कि गाँवों या शहरों में जिन लोगों को अक्षर-ज्ञान नहीं है, अथवा जो लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते और जिन्हें कभी भी स्कूल जाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, वे अशिक्षित हैं। इस धारणा के वशीभूत होकर जो संस्थाएँ देश में प्रौढ़-शिक्षा का काम चलाती हैं, उनका मुख्य उद्देश्य होता है अक्षर-

ज्ञान कराना (लिखना-पढ़ना सिखाना) और इसीलिए अक्षर-ज्ञान की शिक्षा द्वारा प्रौढ़-शिक्षा का कार्य आरम्भ किया जाता है। किसान सत्पथ पर रहकर खेती-बारी द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते हैं। खेती-बारी के सम्बन्ध में उनका अनुभव से प्राप्त ज्ञान यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त संसार के सम्बन्ध में भी उन्हें साधारण ज्ञान है। माता-पिता, पत्नी, पुत्र-कन्या आदि के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए; जिस गाँव में वे रहते हैं, उसके साथ उनके कैसे सम्बन्ध होने चाहिए आदि बातें वे भलीभाँति जानते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे अपने हस्ताक्षर करना नहीं जानते। परन्तु ऐसे लोगों को अशिक्षित क्यों मानना चाहिए? महात्मा गांधी ऐसे लोगों को कभी भी अशिक्षित नहीं मानते थे। वे कहा करते थे कि भारत के वास्तविक शिक्षित (ज्ञानी और अनुभवी) लोग हैं ग्रामवासी, निरक्षर किसान और मजदूर। दूसरी ओर वास्तविक अशिक्षित हैं, ज्ञान और अनुभवहीन स्कूल-कॉलेज के शिक्षा-प्राप्त शहरी लोग। गांधीजी की यह उक्ति सम्भव है, अनेक लोगों को न रुचे। किन्तु यदि थोड़ा गम्भीर होकर विचार किया जाय, तो लगेगा कि इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। श्री ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम्‌जी ने एक दृष्टान्त देकर इसे स्पष्ट किया है: "उस दिन (सन् १९४६) हम मैसूर युनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह में गये थे। वहाँ करीब १२०० व्यक्तियों को पदवियाँ मिलीं, जिनमें से कई विज्ञान और कृषि के स्नातक थे। मान लीजिये कि यदि मैसूर-सरकार इन स्नातकों को जमीन देकर कृषि पर जीवन-निर्वाह करने को कहे, तो मौजूदा किसानों के मुकाबले में ये सब कहाँ होंगे? दोनों में से किसकी पैदावार अधिक होगी? इन प्रश्नों के उत्तर आपसे छिपे नहीं हैं। तब फिर आप ही सोचिये कि शिक्षित (ज्ञानी, अनुभवी और अपनी जरूरतों को पूरा करने में समर्थ) कौन हुआ?" इसलिए गाँव के जो श्रमनिष्ठ लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते, वे अशिक्षित नहीं हैं, इस धारणा के आधार पर प्रौढ़-शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। नयी तालीम की प्रौढ़-शिक्षा

का एक और मौलिक सिद्धान्त यह है कि अक्षर-ज्ञान अस्त्र-स्वरूप है। इसके द्वारा अस्त्रोपचार करके रोगी की रोग-यन्त्रणा का प्रतिकार किया जाता है। फिर उसके द्वारा जीवन-नाश भी किया जाता है। इसी प्रकार अक्षर-ज्ञान की सहायता से मनुष्य के सद्गुणों को जाग्रत और पुष्ट किया जाता है। परन्तु मनुष्य शैतान के रास्ते पर चलने के लिए भी उसका प्रयोग कर सकता है। शिक्षा में साक्षरता (पढ़ाई-लिखाई) का स्थान प्रमुख नहीं है। इसलिए साक्षरता वस्तुतः प्रौढ़-शिक्षा का न तो आदि है और न अन्त। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रौढ़-शिक्षा में लिखाई-पढ़ाई (साक्षरता) की पूर्णतः अवहेलना कर दी जाय। साक्षरता प्रौढ़-शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। किन्तु उसकी शिक्षा ठीक ढंग से अवसर के अनुसार और ठीक पद्धति से दी जानी चाहिए। प्रौढ़ शिक्षार्थियों को जीवन-विकास की आवश्यक शिक्षा देने के फलस्वरूप जब वे लिखने-पढ़ने की आवश्यकता अनुभव करने लगेंगे, तब उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाने का उपयुक्त अवसर आयेगा। वास्तविक ज्ञान की शिक्षा के अभाव में साक्षरता टिक भी नहीं सकती। कुछ लिखना-पढ़ना सीख जाने पर भी कुछ समय बाद वे उसे भूल जायेंगे। प्रचलित प्रौढ़-शिक्षा के ऐसे परिणाम अनेक स्थानों पर देखने को मिले हैं। यदि वास्तविक जीवन-शिक्षा के साथ साक्षरता का संयोग करा किया जाय, तो उसके सदुपयोग की आवश्यकता होगी और वह स्थायी बन सकेगी।

गाँव के अधिकांश लोग, जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते, अशिक्षित भले न हों, पर उनकी शिक्षा अपूर्ण अवश्य है। वे अपने जीवन में सुधार लाने का अवसर नहीं पाते। मानव-जीवन कैसा होना चाहिए, इसका कोई आदर्श उनके सामने नहीं है। प्रौढ़-शिक्षा का उद्देश्य है, वैसे प्रौढ़ों को अपने जीवन के परिपूर्ण विकास में सहायता पहुँचाना।

ईश्वर की योजना अधूरी नहीं है। इधर सन्तान का जन्म होता है और उधर माँ के स्तनों में दूध की व्यवस्था हो जाती है। विनोबाजी कहते हैं कि इसी कारण यह समझ लेना उचित है कि कर्म के साथ-साथ सहज

भाव से ज्ञान-प्राप्ति की व्यवस्था भी की हुई है। मनुष्य कर्म करता है और इसके अनन्तर सहज भाव से उसे ज्ञान-लाभ होता है। अतएव जो लोग प्रौढ़-शिक्षा का कार्य ग्रहण करेंगे, उनमें यह धारणा रहना आवश्यक है कि काम करने के साथ-साथ मनुष्य को सहज भाव से शिक्षा-लाभ होता है। गाँव के लोग दिन भर काम करते हैं। अपने दैनिक कार्यों के माध्यम से वे दिनभर शिक्षा प्राप्त करते हैं। प्रौढ़-शिक्षा का उद्देश्य यही होगा कि उनकी उस शिक्षा-प्राप्ति में हम लोग किस प्रकार सहायक हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, उनकी उस स्वाभाविक शिक्षा-प्रक्रिया में जितनी अपूर्णता रहती है, उसे पूरा करना प्रौढ़-शिक्षा का लक्ष्य है।

इसलिए जो लोग प्रौढ़-शिक्षा के शिक्षक होंगे, उन्हें प्रौढ़-शिक्षार्थियों की जीवन-यात्रा में भाग लेना होगा। तभी वे यह जान सकेंगे कि उनके ज्ञान में अपूर्णता कहाँ रह जाती है। विनोबाजी कहते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि प्रौढ़ लोग आठ घण्टे शारीरिक श्रम करते हैं, इसलिए प्रौढ़-शिक्षा के शिक्षकों को भी उनके साथ आठ घण्टे श्रम करना होगा और सारा समय उनके साथ बिताना पड़ेगा। तब यह आवश्यक है कि वे जो काम करें, वही काम शिक्षक के हाथ की कलम भी करे। शिक्षक इसी तरह उनके काम में हाथ बँटाकर उनके जीवन की अपूर्णता को समझ सकेंगे और उसे पूरा करने योग्य शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे।

प्रौढ़-शिक्षा का एक प्रधान कार्य प्रौढ़ शिक्षार्थियों में ज्ञान-लाभ की आकांक्षा जाग्रत करना है। गाँवों में जो जड़ता स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होती है, उसके कारण उनमें नये ज्ञान-लाभ की आकांक्षा पूरी तरह जाग्रत नहीं होती। अतएव उनकी दैनिक जीवन-यात्रा के क्षेत्र में जो सब आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप से दिखाई पड़ेंगी, उनके सम्बन्ध में शनैः-शनैः ज्ञान प्रदान करने की ओर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। तभी उनमें आग्रह और ज्ञान की आकांक्षा जाग्रत करना सहज हो सकेगा। नयी तालीम में सभी स्तरों पर काम के माध्यम से शिक्षा देने की नीति

काम में लायी जाती है। अतएव प्रौढ़-शिक्षा में भी यही किया जाता है। किन्तु इसमें तात्कालिक आवश्यकता के विषय को चुनकर उसके माध्यम से भी शिक्षा देनी होती है।

अक्षर-ज्ञान कराते समय, अर्थात् लिखना-पढ़ना सिखाते समय, इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि सरलतापूर्वक उन्हें कैसे सिखाया जा सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अक्षर-ज्ञान से प्रौढ़ों का शिक्षारम्भ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए आरम्भ में श्रवण के माध्यम से शिक्षा देनी होगी। पढ़कर सीखने के बजाय सुनकर सीखने का आग्रह प्रौढ़ों में अधिक होगा।

प्रौढ़-शिक्षा में चार बातें

अतएव प्रौढ़-शिक्षा में जिन चार बातों के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना होगा, वे संक्षेप में विनोबाजी की भाषा में ये हैं : "एक तो यह कि हमारी प्रौढ़-शिक्षा का उद्देश्य यह रहे कि यह शिक्षा पूरक शिक्षा हो। दूसरी बात यह कि शिक्षा प्रदान करनेवाले लोग प्रौढ़ों के दैनिक कार्यों में भाग लेते हुए अपना कार्य करें। तीसरी बात यह कि थोड़ी ही पढ़ाई पर वे ध्यान दें—उस पर ज्यादा जोर न दें। और, चौथी बात यह कि जो बात आज बतायें, वह आज की ही समस्या हो।"

नयी तालीम की नीति के अनुसार किसी उपयोगी हस्त-शिल्प के माध्यम से शिक्षा देने की नीति प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में भी ग्रहण करनी होगी। इसलिए गाँव के लोग जिस चीज की खेती अथवा जिस गृह-शिल्प का काम करके जीविका कमाते हैं, उसे ही शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण करना होगा। उस काम में उनकी कुशलता बढ़े, इसके लिए बुद्धि-पूर्वक या वैज्ञानिक ढंग से, अर्थात् काम की प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रिया के 'क्या और क्यों' समझकर और तत्सम्बन्धी समस्त विषयों का ज्ञान-अर्जन करते-करते उन्हें अग्रसर होना होगा। प्रत्येक प्रौढ़-शिक्षार्थी के घर जाने की जरूरत होगी और सुविधानुसार उन्हें एकत्र

करके शिक्षा देनी होगी। वास्तविक प्रौढ़-शिक्षा की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि गाँव के जिन एक या अधिक कामों (खेती अथवा गृह-शिल्प) से जीविका अर्जित करते हैं, उनके लिए गाँव में एक गवेषणा गृह बनाया जाय। वहाँ दोपहर में काम से छुट्टी पाने पर (. सुविधानुसार) या शाम को एक-डेढ़ घण्टे प्रौढ़-विद्यालय चलेगा। विद्यालय में शिक्षाक्रम कैसा होना चाहिए, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है।

पूर्व-बुनियादी शिक्षा में शिशु-पालन के सम्बन्ध में माता-पिता के कर्तव्यों के बारे में शिक्षा देने की व्यवस्था करनी पड़ती है—इस सम्बन्ध में 'पूर्व-बुनियादी शिक्षा' शीर्षक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। उसे प्रौढ़-शिक्षा के एक आवश्यक अंग के रूप में मानना उचित होगा।

ऊपर कहा गया है कि प्रौढ़-शिक्षा पूरक शिक्षा होगी। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि एक गाँव के सभी लोग कृषि द्वारा जीविका अर्जित करते हैं। उनकी प्रौढ़-शिक्षा में कौन-कौन से विषय होने चाहिए, यह समझ लेना आवश्यक है। सबसे पहले कृषि-कार्य-सम्बन्धी उनके ज्ञान में जो अभाव हैं, उन्हें पूरा करना होगा। दूसरी बात, व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जो-जो ज्ञान आवश्यक हैं, वे उन्हें कृषि-शिक्षा या अन्य परिरपूरक गृह-शिल्पों के माध्यम से सिखाने होंगे। तीसरी बात, यदि उनके जीविकोपार्जन के लिए किसी गृह-शिल्प की आवश्यकता हो, तो उसकी शिक्षा देनी होगी। चौथी बात, उन्हें अक्षर-ज्ञान कराना होगा। यहाँ एक बात याद रखने की है—वह यह कि प्रौढ़-शिक्षा भी स्वावलम्बन का लक्ष्य सामने रखकर चलानी होगी।

कृषि के क्षेत्र में पूरक रूप में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा की आवश्यकता होगी—कृषि के लिए आवश्यक पशु-पालन सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान, जलवायु, वर्षा, विभिन्न मिट्टियाँ और उनकी उत्पादन-शक्ति, जमीन की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के उपाय, सिंचाई एवं खाद (खाद-विज्ञान—कहाँ किस प्रकार की खाद की जरूरत पड़ती है), खेती-बारी की विभिन्न पद्धतियाँ, पौधों के रोग, कीड़ों के हमलों का निवारण एवं प्रतिकार,

सहकारी कृषि आदि। इन सब विषयों में वैज्ञानिक ज्ञान का जो अभाव है, उसे शिक्षा देकर पूरा करना होगा।

जीवन-यापन के लिए जिन-जिन ज्ञानों की आवश्यकता होती है, वे हैं :

१. व्यक्तिगत

(क) शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी साधारण ज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा के नियम और उनके पालन के तरीके, संतुलित भोजन और उसकी व्यवस्था करने के उपाय, मलेरिया, हैजा, चेचक, चर्मरोग आदि साधारण रोगों की रोकथाम के उपाय, बुरी आदतें और स्वास्थ्य पर उनका प्रभाव।

(ख) साक्षरता (लिखाई-पढ़ाई) : सातवें भाग तक पढ़ाई, मातृभाषा में शुद्ध-शुद्ध पत्र लिखना, काम-धंधों के सम्बन्ध मे पत्रादि का उत्तर देना, आवेदन-पत्र लिखना, समाचार-पत्र पढ़ना, भाषण करना और उसका विवरण लिखना, धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना और समझना, पुस्तकालय से अच्छी-अच्छी पुस्तकें लेकर पढ़ने का अभ्यास।

(ग) गणित : दैनिक आय-व्यय का हिसाब रखने के माध्यम से जोड़, घटाव, गुणा और भाग की शिक्षा, गिनती, क्षेत्रफल निकालना, रुपये-पैसे और वजन-सम्बन्धी ज्ञान (काम और व्यवहार के माध्यम से प्रत्यक्ष ज्ञान भी), एकड़, बीघा आदि का अनुपात, उत्पादित फसल का अनुपात देखकर एकड़-बीघा के अनुपात-ज्ञान को दृढ़ करना।

(घ) जीविकोपार्जन के परिपूरक उपाय के रूप में किसी गृह-शिल्प की शिक्षा : जैसे, सूत-कताई, बुनाई, लकड़ी के काम आदि। कारीगरी, यन्त्र-शास्त्र का ज्ञान और उसके माध्यम से सम्बद्ध विभिन्न विषयों का ज्ञान-लाभ।

२. पारिवारिक

(क) पारिवारिक आय-व्यय का बजट तथा पारिवारिक आय-व्यय का हिसाब रखना।

(ख) गृह-व्यवस्था : परिवार के लोगों के उपार्जन के वास्तविक उपाय, आय के अनुसार व्यय करने का अभ्यास और कौशल, आय के भीतर ही समुचित भोजन की व्यवस्था करने के उपाय, संतुलित भोजन की व्यवस्था आदि। पारिवारिक जीवन में सफाई की आवश्यकता, सफाई-विज्ञान, बागवानी, पशु-पालन, सहकारी गृह-शिल्प आदि के द्वारा पारिवारिक आय के अभाव को पूरा करने की व्यवस्था। परिवार को स्वावलम्बी बनाने के उपाय।

(ग) जिन बुरी आदतों के कारण परिवार का स्वास्थ्य नष्ट होता है, उनके सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान, भोजन, फसल आदि की सुरक्षा, घर से जल निकालने की व्यवस्था, घर के कूड़े-कचरे का सद्व्यवहार तथा शौचालय-निर्माण और उसका व्यवहार।

(घ) माता-पिता और अभिभावक के दायित्व तथा कर्तव्य। (देखिये 'पूर्व-बुनियादी शिक्षा' अध्याय)

३. सामाजिक

(क) गाँव का क्षेत्रफल, जन-संख्या, बीमारी, बेकारी, शिल्पियों, किसानों, मजदूरों आदि की संख्या, गाँव की जनसंख्या के अनुपात में गाँव की भूमि का उत्पादन, गाँव की विभिन्न फसलें, गाँव के स्वावलंबन के लिए अतिरिक्त फसल पैदा करने के उपाय, भूमि की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के उपाय, ग्रामोन्नति की दृष्टि से खेती-बारी की उन्नति करने के उपाय।

पारिवारिक अर्थशास्त्र के साथ ग्राम-अर्थशास्त्र का संबंध है। फिर कृषि और गृह-शिल्प के बीच परस्पर-सम्बन्ध हैं। यदि ये एक-दूसरे की सहायता करें, तो आर्थिक उन्नति तेजी से होती है।

विभिन्न पशुओं का पालन और पशु-पालन का आर्थिक पक्ष।

गाँव को किस प्रकार स्वावलंबी बनाया जाय, गाँव में उत्पादित कच्चे माल को किस प्रकार यथासम्भव पक्के माल में परिणत किया जाय,

ग्राम-परिवार के निर्माण के लिए आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक लाभ।

(ख) सामाजिक स्वास्थ्य : सामाजिक स्वास्थ्य व्यक्तियों और परिवारों पर निर्भर करता है। हैजा, चेचक, मलेरिया आदि के संक्रामक रूप में उपस्थित होने के कारण। प्राथमिक चिकित्सा (First Aid), गाँव के रास्तों, बाजार आदि की सफाई, उनकी जल-निकासी की व्यवस्था।

(ग) जिला और प्रदेश का साधारण ज्ञान : कृषि, जलवायु, उत्पादित फसल, अन्न तथा अन्य पैदावारों के बाजार-मूल्यों में उतार-चढ़ाव के कारण। समाचार-पत्र पढ़कर जिला और प्रदेश के समाचारों के संबंध में ज्ञान-लाभ करने की सामर्थ्य।

(घ) नागरिकता : ग्राम-पंचायत का प्राचीन इतिहास, समाज-निर्माण का इतिहास, उसके कार्य और सामाजिक जीवन में उसकी उपयोगिता।

मतदान (वोट देने) का अर्थ और उद्देश्य क्या है ? मतदाता की योग्यता। विभिन्न संस्थाओं में मतदाताओं के अधिकार। गणतंत्र का अर्थ क्या है ? लोकनीति क्या है ? साधारण गणतंत्र के साथ उसका अन्तर। प्रदेश की राज्य-व्यवस्था और शासन-पद्धति के सम्बन्ध में संक्षिप्त ज्ञान। देश के सम्बन्ध में संक्षिप्त ज्ञान। प्रत्येक सामुदायिक विषय में एकमत होकर निश्चिय करने और कार्य करने की उपयोगिता।

४. सांस्कृतिक

विभिन्न सामाजिक व्यवहारों, उत्सवों, पर्वों आदि के पालन का वास्तविक उद्देश्य क्या है ? जिस प्रकार साधारणतः उनका पालन किया जाता है, उसमें संशोधन की आवश्यकता और उनका वास्तविक सांस्कृतिक अर्थ। भारतीय संस्कृति का उद्भव किस प्रकार हुआ है ?

सामुदायिक प्रार्थना और सर्वधर्म-समभाव का अर्थ। सद्धर्म की

भावना किस प्रकार बढ़ायी जाय ? भजन, कीर्तन, सत्साहित्य-पाठ, स्थानीय भाषा में विभिन्न धर्म-ग्रन्थों का पाठ ।

ऊपर जिन सब विषयों का उल्लेख किया गया है, उनसे मोटे तौर पर यह स्पष्ट होता है कि प्रौढ़ों की पूरक शिक्षा किस प्रकार की हो सकती है । अवस्था-भेद के अनुसार यथावश्यक इनमें संशोधन या परिवर्द्धन भी किया जा सकता है । इससे यह प्रकट होता है कि प्रौढ़-शिक्षा का काम वस्तुतः परिपूर्ण ग्राम-संगठन का काम है । इसलिए जो लोग ग्राम-संगठन का काम करेंगे, उनमें से प्रत्येक में प्रौढ़-शिक्षा प्रदान करने की योग्यता होनी चाहिए ।

बुनियादी तालीम और उत्तर-बुनियादी तालीम का आदर्श तैयार करके देश के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है । परन्तु नयी तालीम की प्रौढ़-शिक्षा का कोई आदर्श अब तक देश के समक्ष उपस्थित नहीं किया गया है । ग्रामदानी गाँव प्रौढ़-शिक्षा का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए बहुत ही उपयोगी क्षेत्र हैं । आवश्यकता है केवल आदर्शनिष्ठ, अक्लान्त एवं निष्काम सेवकों की ! ● ● ●

अध्याय १४ शिक्षा-व्यवस्था और परीक्षा

छात्र ठीक ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सका है या नहीं, इसके लिए प्रमाण-पत्र की आवश्यकता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु समस्या यह है कि किस आधार पर यह प्रमाण-पत्र दिया जाय और कौन यह प्रमाण-पत्र देने का अधिकारी है। फिर यह भी एक प्रश्न है कि प्रमाण-पत्र देने के लिए छात्रों की किसी तरह की परीक्षा ली जाय या नहीं? प्रमाण-पत्र देनेवाले को प्रमाण-पत्र देने के लिए यह निश्चित धारणा होनी चाहिए कि छात्र ने आदर्श के अनुसार शिक्षा तथा योग्यता प्राप्त की है और यह धारणा किसी विशिष्ट प्रकार के अनुसन्धान पर ही आधारित हो सकती है—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह अनुसन्धान किस प्रकार का होना चाहिए, यही वास्तविक समस्या है। अभी जो परीक्षा-पद्धति चलती है, उसमें एक-दो वर्षों के अन्तर पर कुछ घंटों के अन्दर दिये गये लिखित अथवा मौखिक उत्तरों के आधार पर निर्णय किया जाता है। किन्तु छात्र एक-दो वर्षों में जो बातें सीखता है, उनकी परीक्षा केवल कुछ घंटों के अन्दर ले सकना सम्भव नहीं है। दूसरी बात, शिक्षा का वास्तविक अर्थ है—स्वावलम्बन, छात्र के व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों का विकास और जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान का अर्जन। अभी प्रचलित परीक्षा-पद्धति में स्वावलम्बन या गुण-विकास की परीक्षा ले सकना संभव नहीं है। इसमें स्वावलम्बन का स्थान तो नहीं ही है, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक गुणों का विकास भी इसका लक्ष्य नहीं है। तब जीवनोपयोगी हो अथवा न हो, ज्ञानार्जन ही इसका लक्ष्य है। परन्तु ज्ञानार्जन कितना हुआ है, इसकी सम्यक् धारणा प्राप्त कर सकना भी इस परीक्षा-पद्धति में सम्भव नहीं है। एक-दो वर्षों में अर्जित ज्ञान की परीक्षा कुछ प्रश्नों के लिखित

अथवा मौखिक उत्तरों से नहीं हो सकती। अतः प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था और परीक्षा-पद्धति व्यर्थ सिद्ध होती है। इस परीक्षा-पद्धति के कारण शिक्षा का मान संकुचित और अवनत हुआ है। थोड़े समय में पढ़ाकर छात्रों को किसी प्रकार परीक्षोपयोगी बना देना ही एकमात्र कर्तव्य बन गया है। फिर छात्र भी सोचते हैं कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने योग्य कुछ पढ़ना और रट लेना (अर्थात् Cramming) ही उनका कर्तव्य है। इसीलिए इस परीक्षा-प्रथा को सम्पूर्णतः अवांछनीय माना गया है।

किन्तु इसका परित्याग कर कोई नवीन उपयोगी पद्धति ग्रहण करने योग्य अभिक्रम और क्रांतिकारी मनोवृत्ति अब तक समाज में उत्पन्न नहीं हुई है। विनोबाजी ने इस परीक्षा-पद्धति की एक और गम्भीर त्रुटि पर दृष्टिपात किया है। प्रचलित परीक्षा-पद्धति में ३३ प्रतिशत अंक प्राप्त करने पर छात्र उत्तीर्ण मान लिया जाता है। विनोबाजी कहते हैं कि इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ शिक्षा दी गयी, उसका ६७ प्रतिशत भाग भूल जाने में कोई क्षति नहीं है। फिर तो इसका मतलब यह निकला कि जो शिक्षा छात्रों को दी जाती है, वह उनके जीवन के लिए अत्यावश्यक नहीं है। कारण यदि वह जीवनोपयोगी होती, तो उसका कोई भी अंश भुलाने से काम नहीं चल पाता। जहाँ जीवनोपयोगी शिक्षा दी जाती है, वहाँ शिक्षा का कोई अंश न सीखने अथवा सीखकर कोई अंश भूल जाने की गुंजाइश नहीं होती। वहाँ तो सौ में सौ अंक ही प्राप्त करने पड़ते हैं। फिर प्रचलित पद्धति में परीक्षा का संचालन बाहरी संस्था करती है। फलतः अनेक बार परीक्षा के प्रश्न आदि अनिश्चित और मनमाने होते हैं। चूँकि शिक्षा-संस्थाओं को आत्म-नियंत्रण और स्वावलम्बन का अधिकार नहीं होता, इसलिए उनमें अभिक्रम और मौलिकता अर्जित करने की मनोवृत्ति पैदा नहीं हो सकती। किन्तु अब प्रश्न यह है कि प्रचलित परीक्षा-पद्धति के स्थान पर कैसी व्यवस्था उपयोगी होगी। इस प्रश्न का समाधान अब आवश्यक हो गया है। कारण प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था में तो वर्तमान परीक्षा-व्यवस्था किसी प्रकार

चल रही है, परन्तु नयी तालीम के क्षेत्र में यह परीक्षा-पद्धति पूर्णतः व्यर्थ सिद्ध होगी। नयी तालीम स्वावलम्बन की अथवा स्वावलम्बन द्वारा शिक्षा है। वहाँ यह देखना सर्वाधिक आवश्यक माना जाता है कि छात्र के व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों का विकास हुआ अथवा नहीं। वर्तमान परीक्षा-पद्धति में उसकी ठीक तरह से जाँच नहीं हो सकती। इसलिए उत्तर-बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में यह प्रश्न अत्यन्त आवश्यक रूप से उपस्थित हुआ है।

प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था में परीक्षा का स्थान नहीं था। गुरु प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देते थे और छात्र जब तक पुराना पाठ सीख नहीं लेता था, तब तक नया पाठ नहीं दिया जाता था। छात्र गुरु के घर रहता था और श्रमसाध्य काम करते-करते अपने चारित्रिक तथा सामाजिक गुणों का विकास करता था। अध्ययन-काल की समाप्ति पर भी कोई परीक्षा नहीं होती थी। छात्र का स्नातक-पद प्राप्त करना पूर्णतः गुरु की सम्मति पर निर्भर करता था। इन सब बातों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यद्यपि प्राचीन काल में स्नातकत्व-प्राप्ति के लिए किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होती थी, तथापि जिस किसी भी समय स्नातक के पाण्डित्व की जाँच की जा सकती थी। इसलिए उसे जीवनभर अपनी विद्या कण्ठस्थ रखनी पड़ती थी। उन दिनों आज की भाँति परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त सारी बातें भूल जाने पर भी कोई व्यक्ति पण्डित के नाम से नहीं पुकारा जाता था। उक्त व्यवस्था वर्तमान अवस्था में हू-ब-हू सम्भवतः नहीं चलायी जा सकती।

समीक्षा-पद्धति

नयी तालीम, विशेषकर उत्तर-बुनियादी में, प्रचलित परीक्षा-पद्धति के स्थान पर 'समीक्षा-पद्धति' चालू की जा रही है। 'समीक्षा-पद्धति' क्या है, इस पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी यहाँ संक्षेप में उसका उल्लेख किया जा रहा है। एक या दो वर्षों पर परीक्षा लेने के बजाय

शिक्षक प्रति दिन, प्रति सप्ताह और प्रति मास छात्र के अध्ययन और क्रिया-कलापों का निरीक्षण करेंगे और छात्र के सम्बन्ध में अपनी राय कायम करेंगे। छात्र भी अपनी-अपनी समीक्षा करते रहेंगे। छात्रगण नियमित रूप से डायरी लिखेंगे—अपने अध्ययन और कार्यों की योजना लिपिबद्ध करेंगे। वे अपने अध्ययन और काम-काज की प्रगति-पुस्तिका रखेंगे। शिक्षक इन सबको देखते रहेंगे और छात्र के कल्याण तथा उन्नति की दृष्टि से अपनी राय छात्र को बताते रहेंगे। छात्र विद्यालय-परिवार, ग्राम-परिवार और अंचल-परिवार का एक सदस्य होता है। अतः व्यक्तिगत रूप से और विभिन्न मंडलियों के बीच छात्र का आचरण और कार्यादि कैसे होते हैं, इस पर दृष्टि रखनी होगी। शिक्षक और छात्र, दोनों ही इस पर ध्यान देंगे। विद्यालय के सहपाठी, गाँव के साथी और अंचल के परिचित तथा सहकर्मीगण उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, उनके बीच उसका क्या स्थान है और उनसे वह कितनी सहानुभूति तथा सहयोग प्राप्त करता है, इसे छात्र समझेगा, विचार करेगा और अपने में आवश्यकतानुसार परिवर्तन लायेगा। शिक्षक भी इन बातों पर ध्यान देंगे। इसी प्रकार छात्र और शिक्षक के सहयोग से 'समीक्षा-पद्धति' तैयार होगी। छात्र कितना स्वावलम्बी हुआ है, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उसकी कितनी उन्नति हुई है और उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों का कितना विकास हुआ है—इस पद्धति द्वारा विद्यालय से ही इन बातों के बारे में घोषणा की जायगी।

इस प्रकार छात्र प्रमाण-पत्र पाने के उपयुक्त हुआ है या नहीं, इसका निर्णय विद्यालय में ही किया जायगा। इसका आधार होगा, शिक्षक का निरीक्षण और छात्र की आत्म-समीक्षा। इस पद्धति को धैर्यपूर्वक विकसित करना होगा। तभी प्रमाण-पत्र देने के लिए अपेक्षाकृत उन्नत पद्धति की प्रतिष्ठा सम्भव हो सकेगी और बाहरी संस्था द्वारा संचालित प्रचलित परीक्षा-पद्धति के स्थान पर आन्तरिक, स्वतःसंचालित और सुव्यवस्थित समीक्षा-पद्धति विकसित हो सकेगी। मोटी बात यह कि कौन छात्र प्रमाण-

पत्र पाने के उपयुक्त हुआ है, इसका निर्णय करने का दायित्व सम्बद्ध विद्यालय का होगा, परन्तु विद्यालय यह निर्णय प्रचलित परीक्षा-पद्धति द्वारा नहीं करेगा—उपर्युक्त समीक्षा-पद्धति से करेगा और यह समीक्षा छात्र और शिक्षक, दोनों के सहयोग से चलेगी। छात्र की आत्मसमीक्षा-पद्धति महान् सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। इसलिए इसका प्रयोग और विकास निष्ठापूर्वक करना होगा। सम्यक् रूप से इसका विकास होने पर छात्र में इस प्रकार दायित्व की भावना जाग्रत होगी कि वह स्वयं ही अपने सम्बन्ध में अन्तिम अभिमत व्यक्त करने में समर्थ होगा—साथ ही उसकी घोषणा करने का साहस भी उसमें उत्पन्न होगा। जब तक वह स्थिति नहीं आती, तब तक विद्यालय को ही अन्तिम निर्णय का दायित्व ग्रहण करना पड़ेगा। प्राचीन काल में छात्र की स्नातकत्व योग्यता के सम्बन्ध में गुरु ही निश्चय करते थे। उस समय कोई सरकारी या गैर-सरकारी शिक्षा-संस्था नहीं थी। गुरु ही छात्र ग्रहण करते थे और व्यक्तिगत रूप से शिक्षा-कार्य चलाते थे। इसलिए उन दिनों अन्तिम निर्णय गुरु ही करते थे। किन्तु इस समय संस्थाएँ ही शिक्षा का काम चलाती हैं। अतः प्रमाण-पत्र देने का दायित्व संस्थाएँ ही ग्रहण कर सकती हैं। हाँ, संस्थाएँ यह निर्णय शिक्षकों के मत के अनुसार ही करेंगी। तब विद्यालय यह काम ठीक तरह से करते हैं या नहीं, इसके निरीक्षण और जाँच का भार आरम्भिक स्थिति में बाहरी लोगों पर सौंपा जा सकता है। इससे बराबर श्रेणी के विद्यालयों के शिक्षा-स्तर में स्वतः उन्नति होगी और उनमें एकरूपता आयेगी। किन्तु परिपूर्ण दायित्व अन्ततः विद्यालयों को ही सौंपना होगा।

तब प्रश्न उठ सकता है कि विद्यालय ठीक ढंग से अपना कर्तव्य-सम्पादन करेंगे या नहीं। हमें लगता है कि ऐसी आशंका का कोई विशेष कारण नहीं है। कारण जब विद्यालयों को प्रमाण-पत्र देने का सर्वोपरि अधिकार होगा, तब उनका दायित्व-बोध जागेगा और यह दायित्व-बोध स्वयं ही उन्हें शिक्षा-स्तर ऊँचा उठाने और ठीक ढंग से

समीक्षा-पद्धति के प्रयोग की प्रेरणा प्रदान करेगा। फिर जो छात्र प्रमाण-पत्र लेकर निकलेंगे, उनकी अयोग्यता यदि बाहर प्रकट होगी, तो व्यवसाय, सरकार और सेवा के क्षेत्र में उस विद्यालय की बदनामी होगी और अन्त में उस विद्यालय का टिकना कठिन हो जायगा।

इस प्रकार एक स्वयं-शोधन-प्रणाली क्रियाशील होगी। यदि वर्तमान परीक्षा-पद्धति को समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर आन्तरिक समीक्षा के आधार पर शिक्षालय द्वारा ही प्रमाण-पत्र दिये जाने की पद्धति आरम्भ कर दी जाय, तो देश में विभिन्न शिक्षा-प्रणालियाँ चल सकेंगी। किन्तु यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस स्थिति में सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाओं में काम पाने में असुविधा हो सकती है। प्रचलित परीक्षाओं की भाँति कोई परीक्षा न रहने की दशा में यह कैसे जाना जा सकेगा कि प्रार्थी में आवश्यक योग्यता है या नहीं? विनोबाजी ने यह असुविधा दूर करने के लिए उपाय बतलाया है। वे कहते हैं कि सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएँ कर्मचारी नियुक्त करते समय यह देखने के लिए कि प्रार्थियों में उनकी आवश्यकता के अनुसार योग्यता है या नहीं, परीक्षा की व्यवस्था करें, तो यह असुविधा दूर हो जायगी। किन्तु हर जगह इस प्रकार परीक्षा करना व्यय-साध्य हो सकता है। इसके लिए सम्बद्ध संस्थाएँ प्रार्थियों से पर्याप्त फीस ले सकती हैं। यदि ऐसी व्यवस्था हो, तो नयी तालीम की उत्कृष्टता प्रमाणित करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त होगा और विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों में अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए स्वस्थ प्रतियोगिता सम्भव हो सकेगी। इस क्षेत्र में तटस्थ रहकर सरकार सब प्रकार की शिक्षा के लिए निरपेक्ष भाव से सहायता प्रदान करेगी और किसी विशेष पद्धति के प्रति पक्षपात नहीं करेगी।

प्राचीन काल में शिक्षा के सम्बन्ध में सरकार का ऐसा ही मनोभाव था। आज उसकी ही पुनरावृत्ति की सर्वाधिक आवश्यकता है। तभी देश में शिक्षा का सम्यक् विकास सम्भव हो सकेगा। आजकल सभी देशों में राष्ट्रशक्ति ने सर्वव्यापी स्वरूप प्राप्त कर लिया है। भारत भी इसका

अपवाद नहीं है। इसलिए सभी देशों में शिक्षा पर न्यूनाधिक रूप से सरकारी नियंत्रण स्थापित हो गया है। छात्र-छात्राओं को जो कुछ सिखाया जा रहा है, वे वही सीख रहे हैं। जिस दल की सरकार होती है, उसी दल के आदर्शों के अनुसार शिक्षा देने की चेष्टा होती है। और उस परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर कोई व्यक्ति सरकारी या गैर-सरकारी काम पाने के योग्य नहीं माना जाता। फलतः सभी लोगों को विवश होकर वह शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। यही कारण है कि स्वतंत्र लोकमत की सृष्टि सम्भव नहीं हो पा रही है। शिक्षा-स्वातंत्र्य न रहने पर विचार-स्वातंत्र्य का विकास नहीं हो सकता—शिक्षा का सर्वांगीण और पूर्ण विकास भी सम्भव नहीं है। प्रचलित परीक्षा-पद्धति को समाप्त कर उसके स्थान पर कहीं कोई कर्मचारी नियुक्त करते समय प्रार्थी की आवश्यकतानुरूप योग्यता की जाँच के लिए उपर्युक्त ढंग से विशेष परीक्षा की व्यवस्था होने से शिक्षास्वातंत्र्य के अनुकूल वातावरण की सृष्टि होगी। अन्यथा शिक्षा का भविष्य अन्धकारमय है। ● ● ●

अध्याय १५ मूलोद्योग चुनने में विवेक

पहले बताया जा चुका है कि मूल हस्त-शिल्प ऐसा होना चाहिए कि उसके माध्यम से सब प्रकार की शिक्षा दी जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि वह व्यापक और विविध अंगयुक्त हो। विनोबाजी कहते हैं : "हिन्दुस्तान की आज की हालत को देखते हुए ८० प्रतिशत पाठशालाओं में ऐसा जो मूलोद्योग शुरू किया जा सकता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है। सात साल की उम्र के बच्चों को दृष्टि में रखकर मैं यह कह रहा हूँ।" अब प्रश्न यह है कि केवल सब प्रकार के शिक्षा-दान की सम्भावनाओं से पूर्ण होने के कारण ही क्या किसी शिल्प को मूल शिल्प के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ? अथवा इसके अतिरिक्त भी किसी वस्तु की आवश्यकता है ? यह प्रश्न एक बार विनोबाजी के समक्ष उपस्थित हुआ था। प्रश्न था कि मुर्गी-पालन (Poultry) और मत्स्य-उत्पादन (Fishery) को मूल उद्योगों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है या नहीं ? सब लोग जानते हैं कि काकासाहब कालेलकर अहिंसा के कितने बड़े पुजारी हैं। वे निष्ठावान् निरामिषभोजी हैं। फिर भी उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि मत्स्य-उत्पादन को मूल उद्योग के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु विनोबाजी का मत था कि मत्स्य-उत्पादन को मूल उद्योग के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं होगा। उन्होंने कहा कि मत्स्य-उत्पादन के सम्बन्ध में अन्य सब बातें अनुकूल रहने पर भी मछली पकड़ने के लिए जिस हिंसात्मक अपकौशल का सहारा लिया जाता है, उसे सिखाने के क्रम में छात्रों को मिथ्याचार सिखाना पड़ेगा। यह बात अहिंसा और सत्याचरण के प्रतिकूल है। अतः ऐसे काम को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने कहा : "मैं जब इस धंधे के बारे में सोचता हूँ, तो इस उद्योग द्वारा बच्चों को विद्या देने के लिए अपने-आपको तैयार नहीं पाता। कारण, तब मुझे

बच्चों को यह सिखाना होगा कि उसके लिए इस प्रकार एक हुक बनाओ। फिर यह भी बताना होगा कि उसके लिए इस प्रकार मांस लगाओ—आमिष इसलिए कि मछली उसे खाने के लिए आकृष्ट होकर आये। अर्थात् यह उसे ठगने की बात है। मछली को यह बताना है कि हम तुम्हें कुछ खिला रहे हैं। वह बेचारी खाने के लिए हुक पकड़ती है और हम फौरन उसे पकड़कर अपने कब्जे में ले लेते हैं। इसमें सब तरह से असत्य भी आया और हिंसा भी। तब मेरे लिए यह बहुत कठिन काम हो जायगा और बच्चों को इस तरह से तालीम देना मुझसे नहीं बनेगा। मैं किस प्रकार बच्चों को समझाऊँगा कि इस तरह फुसलाना और ठगना भी मानवीय सत्य में आता है। यानी फिर मानवीय सत्य और अन्य सत्य, इस प्रकार का एक भेद हमें करना पड़ेगा। हिंसा को खैर एक दफा में कबूल भी कर लूँ, पर असत्य को कबूल करना मेरे मन के लिए असह्य है।"

नयी तालीम की पद्धति समवाय-पद्धति है—इस सम्बन्ध में आगे विचार किया गया है। साधारणतः ऐसा समझा जाता है कि समवाय का अर्थ ज्ञान और कर्म का सम्मिलन है। किन्तु मत्स्य-उत्पादन के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे प्रकट होता है कि सिर्फ ज्ञान और कर्म का सम्मिलन कहने से समवाय-पद्धति का परिपूर्ण और ठीक वर्णन नहीं होता। इसलिए वे कहते हैं : "हमारे समवाय में साधन और साध्य, दोनों की शुद्धि का विवेक रहना चाहिए।" अतएव मूल उद्योग के निर्वाचन में केवल उसके माध्यम से शिक्षा-दान की सम्भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए। मूल उद्योग को शुद्ध उद्योग होना चाहिए। उसे ऐसा होना चाहिए कि हिंसा और असत्य का आश्रय न लेना पड़े।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मुर्गी-पालन (Poultry) को मूल उद्योग के रूप में ग्रहण करने में विनोबाजी को विशेष आपत्ति नहीं है।

● ● ●

अध्याय १६ नयी तालीम की सर्वोत्तम पद्धति—समवाय

विनोबाजी ने अपनी 'मूल उद्योग : कातना' नामक पुस्तिका की प्रस्तावना में प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों के साथ नयी तालीम-पद्धति (जिसे वे वर्धा-'पद्धति' कहते हैं) की तुलना करके दिखाया है कि नयी तालीम-पद्धति अन्य समस्त शिक्षा-पद्धतियों से भिन्न है और शिक्षा के सम्बन्ध में आज तक जितनी गवेषणाएँ और प्रयोग हुए हैं, उनकी यह अन्तिम परिणति है। उन्होंने इन चार प्रकार की प्रचलित शिक्षा-प्रणालियों के साथ उसकी तुलना की है :

(१) 'केवल'-पद्धति,

(२) 'परिशेष'-पद्धति,

(३) 'समुच्चय'-पद्धति और

(४) 'संयोजन'-पद्धति।

(१) 'केवल'-पद्धति : हमारे साधारण स्कूल-कॉलेजों में जो शिक्षा-प्रणाली चली आ रही है, उसे विनोबाजी ने 'केवल'-पद्धति नाम दिया है। इसका कारण यह है कि इसमें केवल बुद्धि-विकास पर ही ध्यान दिया जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व (Personality) के विकास के लिए आवश्यक अन्य वस्तुओं पर ध्यान नहीं दिया जाता। बाह्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा, ये सब मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न अंग-स्वरूप हैं। चूँकि इस पद्धति में इनमें से केवल एक अंग (बुद्धि) पर ध्यान दिया जाता है, इसलिए इसे 'केवल'-पद्धति नाम दिया गया है। वे इस पद्धति के सम्बन्ध में कहते हैं : "इस पद्धति के अनेक दोष छोड़ दिये जायँ, तो भी शिक्षण-शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे उस ज्ञान

को ठूँस-ठूँसकर भरना पड़ता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नहीं रहता, जीवन के साथ समरस नहीं हो पाता। इसके अलावा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढ़ती है।"

जिन तीन अन्य पद्धतियों के साथ नयी तालीम की तुलना की गयी है, उनमें किसी-न-किसी हस्त-शिल्प के साथ सम्पर्क रखा जाता है। किन्तु वे सम्पर्क नयी तालीम की तरह अंगांगी नहीं होते।

इन तीन पद्धतियों में से एक है, 'परिशेष'-पद्धति। 'परिशेष' का अर्थ है 'परिशिष्ट'—जैसे, पुस्तक का परिशिष्ट। विनोबाजी ने इसे परिशेष (परिशिष्ट) पद्धति नाम दिया है, क्योंकि इसमें किसी एक हस्त-शिल्प की शिक्षा तो दी जाती है, पर उस पर विशेष जोर नहीं दिया जाता—उसे पूँछ जैसा रखा जाता है। पुस्तक के मूल अंश की तुलना में परिशिष्ट का जो मूल्य होता है, वही मूल्य इस प्रणाली में हस्त-शिल्प का है। उसे नितान्त गौण माना जाता है। वे कहते हैं: "इसके अतिरिक्त उद्योग एक मनोरंजन, खेल या अलंकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने के लिए या प्रदर्शन-भर के लिए ही उसका प्रयोग किया जाता है।"

एक और पद्धति है, 'समुच्चय'-पद्धति। समुच्चय का अर्थ है, समाहार—अर्थात् अनेक वस्तुओं को एक स्थान पर एकत्र करना, स्तूप बनाना। स्तूप में वे सब विभिन्न वस्तुएँ अपने स्वतंत्र अस्तित्व में रहती हैं—उनकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता। वे मिलकर कोई एक वस्तु नहीं बन जातीं, न ही परस्पर-संयोग से उनका रूप-परिवर्तन होता है। इस पद्धति में साधारण शिक्षा और हस्त-शिल्प-शिक्षा के लिए बराबर समय तो दिया जाता है, पर एक की शिक्षा द्वारा दूसरी को सहायता नहीं पहुँचती। हस्त-शिल्प-शिक्षा एक भिन्न वस्तु बनी रहती है। इसी प्रकार पुस्तक की विद्या-शिक्षा भी एक भिन्न वस्तु बनी रहती है। इसीलिए इस पद्धति में शिल्प-शिक्षा की ओर शिक्षार्थियों का विशेष आग्रह या रुचि नहीं होती। नहीं सीखने से काम नहीं चलेगा, इसी विचार

से वे उसे सीखने को बाध्य होते हैं। पर यदि ऐसा हो कि वह हस्त-शिल्प किसी शिक्षार्थी की उपजीविका बन सके, तो शिक्षार्थी उसे उपजीविका के साधन के रूप में ही मानेगा। साहित्य के अलंकार-शास्त्र में 'समुच्चय' एक अलंकार है। उसमें आश्चर्य, हर्ष, विषाद आदि भावों को एक साथ जाग्रत और प्रकाशित किया जाता है। इस अर्थ में भी इस पद्धति को 'समुच्चय' कहा गया है, क्योंकि इसमें साधारण शिक्षा और उद्योग के बीच कोई सामंजस्य नहीं होता। इसके दृष्टान्त-स्वरूप विनोबाजी ने कहा है: "शिक्षा में चलेगा 'अभिज्ञान शाकुंतल' या अफ्रीका का भूगोल; और उद्योग में आवश्यकता होगी बढ़ईगिरी की, लकड़ी के भूगोल की। इस प्रकार दोनों विषय एक-दूसरे के पूरक नहीं हो पाते।"

तीसरी पद्धति है, 'संयोजन'-पद्धति। नयी तालीम के शिक्षा देने की एक प्रणाली है, 'कर्म द्वारा ज्ञान'। 'संयोजन'-पद्धति में नयी तालीम का केवल इतना अंश ग्रहण किया गया है, अर्थात् हस्त-शिल्प को शिक्षा के एक माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया है। इससे अधिक महत्त्व हस्त-शिल्प को नहीं दिया जाता। इसीलिए इसे 'संयोजन'-पद्धति नाम मिला है। संयोजन का अर्थ है---संयोग-साधन अथवा जोड़ना। इसमें कर्म के साथ शिक्षा को जोड़ दिया जाता है।

अब नयी तालीम में कौन-सी पद्धति ग्रहण की जाती है, इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह सर्वोत्तम पद्धति है। विनोबाजी ने नयी तालीम या वर्धा-पद्धति को 'समवाय-पद्धति' नाम दिया है। वे कहते हैं: "समवाय-पद्धति में कोई एक जीवनव्यापी और विविध अंगयुक्त मूल उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अंग होता है।" विनोबाजी ने इसे 'समवाय-पद्धति' नाम क्यों दिया है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है। समवाय-पद्धति क्या है? न्यायशास्त्र में समवाय का एक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध है। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सम-

वाय-पद्धति क्या है। 'शिक्षा का स्वरूप—निवृत्त शिक्षण' शीर्षक अध्याय में उसका उल्लेख किया गया है। वह उदाहरण इस प्रकार है : घड़ा और मिट्टी दोनों एक वस्तु हैं अथवा दो पृथक् वस्तुएँ ? यदि कहा जाय कि दोनों दो वस्तु हैं, तो उत्तर में यह कहा सकता है कि घड़ा और मिट्टी, दोनों को अलग-अलग नहीं फेंका जाता। अतः दोनों दो पृथक् वस्तु नहीं हो सकते। और, यदि यह कहा जाय कि दोनों एक ही वस्तु हैं, तो भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि घड़े से जो काम होता है, वह मिट्टी से सम्भव नहीं है। मिट्टी में पानी भरकर नहीं लाया जा सकता। घड़े के अन्य उपयोग भी मिट्टी से पूरे नहीं हो सकते। तो वे एक भी नहीं हैं, अलग भी नहीं हैं। फिर एक भी हैं, अलग भी हैं। अर्थात् उनके एकत्व और पार्थक्य का सही-सही निश्चय नहीं हो पाता। इसे 'समवाय' कहते हैं। उनमें एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसे साधारणतः बोधगम्य भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतः 'अनिर्वचनीय सम्बन्ध' कहा जाता है। नयी तालीम में हस्त-शिल्प और विद्या अथवा ज्ञान के बीच ऐसा ही सम्बन्ध रहता है। हस्त-शिल्प भी शिक्षा का एक अविच्छेद्य अंग है। ये दोनों एक भी लग सकते हैं और अलग भी। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। नयी तालीम में ज्ञान और कर्म को भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं माना जाता है। वे एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं। नयी तालीम में ज्ञान-शिक्षा चल रही है अथवा हस्त-शिल्प का काम चल रहा है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी समय ऐसा लग सकता है कि ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है, पर यदि कोई कहे कि यह तो उद्योग का काम चल रहा है, तो इसे भी गलत नहीं कहा जा सकता। ऊपर समवाय-पद्धति का जो उदाहरण दिया गया है, वह ठीक ऐसा ही है। वे एक भी हैं और दो भी। इसीलिए इसे 'समवाय' कहा जाता है।

विनोबाजी कहते हैं : "ज्ञान और कर्म में फर्क नहीं किया जायगा। ज्ञान की प्रक्रिया चलती है, तो कर्म की भी प्रक्रिया चलेगी और कर्म की प्रक्रिया चलती है, तो ज्ञान की भी प्रक्रिया चलेगी। कर्म और ज्ञान एक-

दूसरे से इतने ओतप्रोत होंगे कि किसी भी तरह का जोड़ बैठाने का काम नहीं किया जायगा। बाहर से ज्ञान लेने की बात नहीं रहेगी। उद्योग के जरिये ही ज्ञान का विकास किया जायगा और ज्ञान के जरिये ही उद्योग का। यही हमारी पद्धति है। ज्ञान और कर्म की सिलाई करके जो पद्धति बनायी जायगी, वह हमारी नहीं होगी।" नयी तालीम में केवल ज्ञान और कर्म का समवाय नहीं होता। उसके समवाय का क्षेत्र और भी विस्तृत है। उसमें ज्ञान, कर्म और आनन्द का समवाय होता है। उसमें हस्त-शिल्प का काम होते समय जिस प्रकार यह प्रकट नहीं होता कि काम चल रहा है अथवा ज्ञान की प्रक्रिया, उसी प्रकार यह भी अनुभव होता है कि आनन्द-दान की प्रक्रिया चल रही है। इसीलिए विनोबाजी ने नयी तालीम की पद्धति को 'सच्चिदानन्द' नाम दिया है। इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। ● ● ●

अध्याय १७ विषय-शिक्षा देने का कौशल

नयी तालीम का उत्कर्ष यही है कि उसमें जब जिस विषय के सम्बन्ध में उपयोगी प्रसंग आता है, तब उस विषय की शिक्षा देनी होती है। अन्यथा बिना प्रसंग के शिक्षा देने से वह साधारण शिक्षा की भाँति बाह्य आधारहीन हो जाती है। वह काल्पनिक ज्ञान-मात्र के रूप में प्रकट होती है। अतएव विषय-शिक्षा का प्रसंग उठाने या उपयोगी प्रसंग खोज निकालने अथवा ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर उसे समझने और ग्रहण करने की सामर्थ्य तथा योग्यता नयी तालीम के शिक्षक का प्रधान गुण है। किस प्रकार विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है और किस प्रकार उसके लिए उपयोगी प्रसंग उठाकर शिक्षणीय विषय उपस्थित किया जाता है, यह विनोबाजी ने एक उदाहरण द्वारा भलीभाँति समझाया है।

बरसात के दिन बच्चों के स्कूल आने पर उनसे सबसे पहले यह पूछना आवश्यक है कि वे शौच जाकर, दाँत माँजकर और हाथ-मुँह धोकर आये हैं या नहीं। उस दिन उनसे ये बातें इसलिए पूछनी होंगी कि बरसात के दिन भींगने के डर से अथवा जड़तावश बच्चे हाथ-मुँह धोना और शौचादि के लिए जाना पसन्द नहीं करते। इस ओर शिक्षक का ध्यान रहना आवश्यक है। जिस क्षेत्र में वर्षा कम और धूप अधिक होती है, वहाँ वर्षा होने पर बच्चों को छुट्टी देना उचित है। बच्चे वर्षा में दौड़-धूप करेंगे, खेलेंगे-कूदेंगे। शिक्षक भी उनके साथ दौड़-धूप करेंगे और खेलेंगे। वे बच्चों को समझा देंगे कि वर्षा ईश्वर की कृपा का फल है। फिर इस समय इंग्लैण्ड की आबोहवा के सम्बन्ध में ज्ञान देने का प्रसंग आ उपस्थित हुआ है, यह बात शिक्षक को समझनी चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए। वे इस समय उन्हें सिखायेंगे कि

हमारे यहाँ वर्षा होने पर छुट्टी होती है, किन्तु इंग्लैण्ड में जिस दिन धूप होती है, उस दिन छुट्टी दी जाती है। बच्चे उस दिन धूप-सेवन के लिए बाहर निकलते हैं। कारण, वहाँ आकाश अधिकतर मेघाच्छन्न रहता है। इसलिए धूप होने पर बाहर निकलने और आनन्द मनाने के लिए वहाँ बच्चों को छुट्टी दी जाती है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड की आबोहवा के सम्बन्ध में ज्ञान दिया जायगा।

खिड़की-दरवाजों के सम्बन्ध में ज्ञान किस प्रकार दिया जाय और इस सम्बन्ध में किस प्रकार लैपलैंड के आदिवासियों की जीवन-पद्धति से बच्चों को परिचित कराया जाय, इस सम्बन्ध में विनोबाजी ने इन शब्दों में प्रकाश डाला है: "बच्चों को खिड़की-दरवाजों के बारे में जानकारी करानी है, तो मैं उनसे पूछूँगा—'खिड़कियों का क्या उपयोग है?' बच्चे कहेंगे—'उनसे उजाला और हवा भीतर आयेगी।' फिर मैं पूछूँगा—'छप्पर में खिड़कियाँ लगा देने से भी तो हवा और रोशनी मिलेगी ही। क्या उनसे काम नहीं चलेगा?' वे कहेंगे—'नहीं, बाहरी सृष्टि भी दिखाई पड़नी चाहिए।' फिर मैं पूछूँगा—'मान लो, वैसी खिड़कियाँ भी बना दीं। पर उनसे बाहर-भीतर आना-जाना नहीं हो सकेगा। क्या यह व्यवस्था न होने से काम नहीं चल सकता?' वे कहेंगे—'नहीं, बाहर-भीतर आने-जाने की व्यवस्था भी चाहिए। इसके लिए दरवाजा चाहिए।' इस प्रकार खिड़कियों और दरवाजों का उपयोग जब उनकी समझ में आ जायगा, तब मैं उनसे पूछूँगा—'बताओ, अपने शरीर में ऐसे खिड़की-दरवाजे कौन-कौन-से हैं?' आँख, कान, मुँह, नाक आदि को संस्कृत में 'द्वार' कहा गया है। गीता में कहा है—**'सर्वद्वाराणि संयम्य'** यानी सभी दरवाजों का नियमन कर—सभी खिड़की-दरवाजों पर पहरा रखना चाहिए। **'नवद्वारे पुरे देही'**—नौ दरवाजों के नगर में यह आत्मा निवास करती है। मनुष्य को आँखों से खिड़की रखने की कल्पना सूझी होगी। पर मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं। गाय की आँखें बड़ी होती हैं। इसीलिए मनुष्य गाय की आँखों की तरह खिड़कियाँ बनाने लगा।

संस्कृत में खिड़कियों का नाम है, 'गवाक्ष'। गवाक्ष का मतलब है, गाय की आँख। उसी प्रकार की खिड़की अंकित करने के लिए मैं लड़कों से कहूँगा। ऐसी आँखें बनायी जायँ, तो वह चित्रकला हो जायगी। उसके बाद मैं बताऊँगा कि लोगों ने उसमें किस-किस प्रकार से हेर-फेर किया। यह हो गया इतिहास। अब इस प्रकार की खिड़कियाँ क्या आज कहीं मिलेंगी? यह बताने के लिए मैं उन्हें लैपलैंड की ओर ले जाऊँगा और उसी प्रसंग में वहाँ के निवासियों के जीवन की तथा अन्य जानकारी कराऊँगा। सारांश यह कि इस तरह प्रासंगिक रूप से दूर देश के लोगों के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।" ● ● ●

अध्याय १८ एक घण्टे की पाठशाला

सन् १९५१ के आम चुनाव के उपरान्त कुछ समय तक जब श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मद्रास-राज्य के मुख्य मंत्री थे, तब उन्होंने वहाँ के ग्रामीण इलाकों में एक घंटे की पाठशालाएँ चलाने की बात सोची थी और उन्हें चलाने की चेष्टा भी की थी। किन्तु इस सिलसिले में उन्हें भारी बाधाओं और विरोधी आन्दोलनों का सामना करना पड़ा था तथा अन्त में उन्हें यह योजना छोड़ देनी पड़ी थी। गाँवों के लाखों गरीब किसान और मजदूर-परिवारों के बच्चों को अविलम्ब शिक्षा का अवसर सुलभ करने और उनके वास्तविक कल्याण के लिए ही राजाजी ने उक्त योजना बनायी थी, इसमें सन्देह नहीं। हर गाँव में साधारण पाठशाला खोलने पर भी गरीबों के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे अपने बच्चों को दिनभर पाठशाला में छोड़ दें। कारण, गरीब घर के बालक-बालिकाएँ घर के काम-काज में अपने माता-पिता की सहायता करती हैं। ऐसा न करने से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में एक घंटे की पाठशालाओं की व्यवस्था होने से निश्चय ही गरीब परिवारों के बच्चों को विद्यार्जन का सुयोग प्राप्त होता। किन्तु एक गलतफहमी के कारण इस कल्याणकारी योजना को कार्यान्वित कर सकना सम्भव न हो सका। मद्रास के अधिकांश ब्राह्मण शिक्षित हैं। वे मुख्यतः नगरों में निवास करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के निवासी प्रधानतः अब्राह्मण हैं। मद्रास में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा है। एक घंटे की पाठशाला की योजना देखकर ग्रामीण लोगों को यह आशंका हुई कि एक घंटे की पाठशाला की योजना द्वारा नगरवासियों की उन्नत शिक्षा-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए ग्रामीण अब्राह्मणों को चिरकाल के लिए अशिक्षित रखने की व्यवस्था की जा रही है। उन्हें

गलतफहमी थी कि एक घंटे की पाठशाला में कोई काम नहीं होगा। वह मजाक के तौर पर रहेगी। यह धारणा गलत थी, यह बात एक घंटे की पाठशाला की उपयोगिता पर विचार करने से प्रकट होगी। विनोबाजी ने लगभग उसी समय (सन् १९५४-५५) एक घंटे की पाठशाला की बात करनी आरम्भ की। उन्होंने अपने विभिन्न भाषणों और प्रश्नोत्तर-मूलक विचार-विमर्शों के क्रम में यह बात भलीभाँति स्पष्ट कर दी कि एक घंटे की पाठशाला के बारे में उनके विचार क्या थे। उनके उन मन्तव्यों से यह बात स्पष्ट हो गयी कि एक घंटे की पाठशाला के सम्बन्ध में जो आशंकाएँ की गयी थीं, वे निराधार थीं। एक घंटे की पाठशाला नयी तालीम के क्षेत्र में एक महान् कल्याणकारी कल्पना है। इस सम्बन्ध में विनोबाजी के विचार संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं :

(१) बच्चे दिनभर अपने माता-पिता के कामों मे हाथ बँटा सकेंगे। केवल एक घंटे के लिए उन्हें काम रोकना पड़ेगा। शिक्षक भी प्रायः पूरा दिन अपने काम करने के लिए मुक्त रहेंगे। शिक्षकों को किसी प्रकार का वेतन नहीं मिलेगा। वर्ष के अन्त में प्रत्येक किसान से उन्हें दो-चार सेर अनाज मिलेगा।

(२) प्रश्न यह है कि एक घंटे की शिक्षा द्वारा क्या बच्चों को पूरी शिक्षा मिल सकेगी ? विनोबाजी कहते हैं कि एक घंटे में निश्चय ही पर्याप्त शिक्षा दी जा सकेगी। एक घंटे की कक्षा की जो बात कही जाती है, वह केवल बौद्धिक शिक्षा के लिए है। माँ-बाप के काम में सहायता करते समय अथवा शिक्षक के साथ काम करते समय बच्चे मूल शिल्प का अभ्यास कर सकेंगे। शिक्षक उसी ग्राम में अपनी जीविका के लिए काम करेगा और बचे हुए समय में ग्रामवासियों के साथ उसका सजीव सम्पर्क रहेगा। इससे बच्चे थोड़ा-बहुत सीख सकेंगे। यह बात यदि छोड़ भी दी जाय, तो भलीभाँति शिक्षा देने के लिए एक घंटे का समय कम नहीं है। इस विद्यालय में छुट्टी का कोई प्रश्न नहीं होगा। साधारण विद्यालय दिनभर में पाँच घंटे चलता है और सालभर में छह महीने छुट्टी रहती है। यों

वहाँ एक दिन में ढाई घंटे पढ़ाई होती है। इसके अलावा बीच-बीच में छुट्टी होने से बहुत-सी सीखी बातें भूल जाती हैं। फिर नयी तालीम के शिक्षक साधारण पाठशाला के शिक्षक से अधिक योग्य होते हैं। इन सब बातों को देखते हुए एक घंटे का समय कम नहीं है। फिर हम लोगों को दिनभर में तीन बार खाने में डेढ़ घंटे से अधिक समय नहीं लगता, पर पचाने में २२॥ घंटे लग जाते हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात है। विनोबाजी कहते हैं : "घंटेभर में अच्छी तरह पढ़ाया जाय, तो इतने समय में बच्चों को इतना ज्ञान दिया जा सकता है, जिसे पचाने के लिए यानी जिसका मनन और अभ्यास करने के लिए उन्हें काफी समय चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि शिक्षा का मतलब जानकारी देना नहीं है, जैसा आजकल अक्सर माना जाता है। शिक्षा का तो मतलब है, बच्चों में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पैदा करना। यह हो जाने पर यानी ज्ञान-पिपासा जाग्रत हो जाने पर बाकी का काम सहज है और वह शिक्षार्थी स्वयं कर लेगा। अतः एक घंटे का समय इस काम के लिए काफी समझना चाहिए।"

● ● ●

अध्याय १९ नयी तालीम और मूल्य-परिवर्तन

नयी तालीम केवल एक नवीन शिक्षा-पद्धति नहीं है, वह एक जीवन-दर्शन है। नयी तालीम के द्वारा समाज में नये मूल्यों की स्थापना करनी होगी और उसके द्वारा नवीन समाज का निर्माण करना होगा। नवीन मूल्यों की स्थापना का अर्थ क्या है? उसका अर्थ यह है कि आज समाज में जो वस्तु बहुत मूल्यवान् है, उसका कल कोई मूल्य नहीं रहेगा। फिर आज जो वस्तु हमारे समाज के लिए तुच्छ है, वह कल बहुत मूल्यवान् हो जायगी। उदाहरणस्वरूप आज शारीरिक श्रम को समाज में तुच्छ माना जाता है। नवीन मूल्यों की स्थापना हो जाने पर शारीरिक श्रम को सर्वाधिक मर्यादापूर्ण स्थान प्राप्त होगा। इसका नाम है, क्रांति। क्रांति का वास्तविक काम होता है, सामाजिक मूल्यों का परिवर्तन। नयी तालीम इस मूल्य-परिवर्तन के काम में किस प्रकार सहायक हो सकती है? नवीन मूल्य-स्थापना की बात ध्यान में रखकर तदनुकूल वातावरण और क्षेत्र तैयार करना होगा तथा आयोजन और व्यवस्था करनी होगी। तदनुसार ही शिक्षा-दान की प्रक्रिया भी चलानी होगी। इसलिए शिक्षकों में नवीन विचार-बोध और तदनुसार जीवन होना आवश्यक है। शिक्षक शिक्षा के माध्यम से अपने छात्र-छात्राओं के जीवन और बुद्धिमें नवजीवन का यह विचार प्रविष्ट करायेंगे। तभी नयी तालीम की सार्थकता सिद्ध होगी।

नवीन मूल्य-स्थापना का स्वरूप क्या होगा, यह जानना आवश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा नयी तालीम का दिग्दर्शन प्राप्त होगा। समाज-निर्माण के मूल में जो गलत विचार रहा है, उसीके कारण जिसका आदर होना चाहिए, उसका अनादर हो रहा है। विचार-क्रांति से यह विपरीत भावना दूर हो जायगी।

वर्तमान सामाजिक स्थिति में ऐसा माना जाता है कि जिसकी योग्यता अधिक हो, उसे अधिक वेतन मिलना चाहिए। इसी प्रकार जिसकी योग्यता कम हो, उसे कम वेतन देना अनुचित नहीं है। किन्तु यह समझना आवश्यक है कि योग्यता की कमी-बेशी के आधार पर वेतन का पारिश्रमिक कम-बेशी करने की बात गलत है। वेतन का सीधा संबंध आवश्यकता से होना चाहिए। जिसकी योग्यता कम है, उसकी भूख यदि कम होती—वस्त्र, निवासस्थान आदि की आवश्यकता भी कम होती—तो उसे कम वेतन देना अनुचित न होता। जिसे ३०) दिये जाते हैं, उसकी भूख यदि एक पाव चावल या एक पाव आटे की रोटियों की होती और जिसे २ हजार रुपये दिये जाते हैं, उसकी भूख आधा मन चावल के भात या आधा मन आटे की रोटियों की होती, तो इस विषमता पर किसीको आपत्ति न होती। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई भी पिता अपनी सन्तान से नहीं कहता कि तुम छोटे हो, इसलिए तुम्हें कम दूध मिलेगा और बड़े को अधिक दूध मिलेगा। फिर जो लड़का बीमार है और जिसकी बुद्धि कम है, उसे और कम दूध मिलेगा। माता-पिता सबसे छोटे बच्चे को सबसे अधिक दूध देते हैं। बीमार बच्चे को भी वे अच्छा और अधिक भोजन देते हैं। समाज को माता-पिता के समान ही होना चाहिए। अतः योग्यता का खयाल न करके सबको आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु काम न करने पर किसी भी समर्थ व्यक्ति को भोजन का अधिकार नहीं रहेगा, यह सिद्धान्त समाज में मान्य और कार्यान्वित होना चाहिए। सच्चे सहकार और योग्यता के अनुसार काम करने पर हर व्यक्ति समाज की सामर्थ्य के अनुसार अपनी आवश्यकता-पूर्ति का अधिकारी है। तब यह है कि परिवार में जितने भी लोग समर्थ होंगे, वे अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार काम करेंगे। परिवार का एक व्यक्ति काम करे, उपार्जन करे और शेष व्यक्ति बैठे-बैठे खायें—यह प्रथा दूर करनी होगी।

आज बौद्धिक श्रम के काम को अधिक योग्यता का और शारीरिक

श्रम के काम को कम योग्यता का काम माना जाता है। इसलिए एक बैरिस्टर यदि एक घण्टा काम करके पारिश्रमिक रूप में ५००) पाता है, अथवा एक डॉक्टर अपने आधे घण्टे के परिश्रम के लिए ५०) लेता है, अथवा एक अध्यापक महीने में २० दिन दैनिक २ घंटे अध्यापन-कार्य करके महीने में ५००) पाता है, तो इसे अनुचित नहीं माना जाता। बल्कि इससे उसकी मर्यादा बढ़ती है। दूसरी ओर, एक खेतिहर मजदूर यदि धूप-वर्षा में खेत में १० घंटे कड़ी मेहनत करके नित्य दो रुपये पारिश्रमिक की माँग करता है, तो इसे अनुचित माना जाता है। फिर जो लोग बुद्धि का काम करते हैं, वे शारीरिक श्रम नहीं करते। दूसरी ओर, जो लोग शारीरिक श्रम के काम करते हैं, उन्हें बुद्धिगत काम की शिक्षा देना अनुपयोगी माना जाता है। इस प्रकार समाज को हाथ और सिर (Hands और Head), इन दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। बौद्धिक श्रम के क्षेत्र में भी कम-बेशी योग्यता का भेद चल रहा है। प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक को यदि ५०) मासिक वेतन दिया जाता है, तो कॉलेज के अध्यापक को ५००) मासिक। कारण, ऐसा माना जाता है कि कॉलेज के अध्यापक का दायित्व अधिक होता है। किन्तु वास्तव में पाठशाला के शिक्षक का ही दायित्व सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण होता है। कारण, पाठशाल के शिक्षक को छोटे छात्र-छात्राओं का जीवन-निर्माण करना होता है और साथ-साथ पढ़ाना-लिखाना भी पड़ता है। पूँजीवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही हममें ऐसे वैषम्यमूलक आचार-विचार उत्पन्न हुए हैं। किन्तु हमारे देश में जो चातुर्वर्ण-व्यवस्था थी, उनमें ऐसे अन्याय-पूर्ण विचार नहीं थे। उसमें भावना यही थी कि चाहे चमार हो या मेहतर या ब्राह्मण, जो सचाई के साथ सेवा-भावना से अपना कर्तव्य-सम्पादन करेगा, वह मोक्ष प्राप्त करेगा। इस संबंध में विनोबाजी कहते हैं : "ब्राह्मण, जो सबसे अधिक विद्वान् होता था, सबसे अधिक त्यागी भी होता था।" वह कहता था : "मुझे खाने के लिए थोड़ा-सा चाहिए, क्योंकि मुझे ज्ञान से जो आनन्द मिलता है, वह बेचारे वैश्य को नहीं

मिलता। इसलिए मुझे कम-से-कम दो।" इसका अर्थ यह है कि जो जितना अधिक विद्वान्, वह उतना ही अधिक त्यागी था। पर आज तो इसका उलटा है। आज तो विद्वान् कहता है: 'मैं एम० ए० पास हूँ। अमेरिका में भी मुझे डिग्री मिली है। इसलिए मुझे अधिक तनख्वाह मिलनी चाहिए।' यह बात हमारी समझ में नहीं आती। समाज ने उसे तालीम दी, उसके लिए बहुत खर्च किया, तो उसे कहना चाहिए: 'आपने मेरी तालीम के लिए बहुत खर्च किया। उतना खर्च आपने दूसरों की तालीम के लिए नहीं किया। मैं आपसे बहुत पा चुका। इसलिए अब मुझे कम दीजिये और यह जो दूसरा मनुष्य है, इसके घर में बाल-बच्चे ज्यादा हैं, घर का खर्च ज्यादा है और इसकी तालीम पर भी ज्यादा खर्च नहीं किया गया है, इसे आप ज्यादा तनख्वाह दीजिये।' इस प्रकार कहता, तो कुछ शोभा देता; पर वह कहता है कि मेरी तालीम पर बहुत खर्च किया गया, इसलिए और खर्च कीजिये। जरा सोचने की बात है। समाज ने आप पर बहुत खर्च किया, इसलिए हरदम खर्च करता रहे—यह क्या न्याय है? होना तो यह चाहिए कि पहले बहुत खर्च किया है, इसलिए अब कम करो। ब्राह्मण यही करते थे और लँगोटी लगाते थे। इसीलिए उनकी उस समय प्रतिष्ठा भी थी। पर आज तो ऐसा है कि जिसकी अधिक प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, उसे अधिक पैसे देते हैं। राष्ट्रपति और प्रधान मत्री का पद समान है, पर राष्ट्रपति को प्रधान मंत्री से अधिक वेतन मिलता है। उन्हें अधिक वेतन क्यों मिलना चाहिए? पुराने जमाने में कुछ मूल्य बने हैं और हमें उन्हें तोड़ना है। इसीलिए नयी तालीम बनी है।"

योग्यता के अनुसार आर्थिक मूल्य-निर्धारण उचित क्यों नहीं है, यहाँ यह बात थोड़ी और स्पष्टता के साथ समझ लेनी आवश्यक है। खेत में यदि कोई छोटा बच्चा काम करेगा, तो काम कम होगा और कोई जवान काम करेगा, तो अधिक होगा। वृद्ध से भी कम ही काम होगा। इस प्रकार उम्र की कमी-बेशी के अनुसार काम कम-अधिक हो सकता है,

किंतु उसका मूल्य कम-अधिक होना उचित नहीं है। जो काम सेवा-परायणता और सचाई के साथ सम्पन्न होता है, उसका मूल्य बराबर होता है। उसके मूल्य में कमी-बेशी नहीं हो सकती। विनोबाजी ने कुछ उदाहरण देकर इस बात को समझाया है। मान लीजिये, कोई व्यक्ति एक छोटे शिव-लिंग की स्थापना करके भक्ति के साथ पूजा-पाठ करता है। एक अन्य व्यक्ति बड़े शिव-लिंग की स्थापना करता है। अब क्या छोटे शिव-लिंग का मूल्य कम और बड़े शिव-लिंग का मूल्य अधिक होगा? किसी व्यक्ति के दो फोटो लिये गये। उनमें से एक छोटा है, दूसरा बड़ा। अब ऐसा तो नहीं होगा कि छोटे फोटो में वह व्यक्ति न हो और बड़े फोटो में हो। छोटे फोटों में भी वह व्यक्ति उतना ही होगा, जितना बड़े फोटो में। गीता बड़े अक्षरों में भी छापी गयी है, छोटे अक्षरों में भी। बड़े अक्षरों में छपी गीता की महत्ता अधिक हो और छोटे अक्षरों में छपी गीता की कम—ऐसा नहीं है। दोनों की ही महत्ता समान है। जिन सब कामों से समाज की सेवा या उपकार होता है, उनमें छोटे-बड़े का भेद नहीं होता। जिस व्यक्ति ने काम किया है, उसने अपने कार्य-सम्पादन में कितना मन लगाया है और कितनी सेवा-भावना से प्रेरित होकर उसे पूरा किया है, यह देखकर ही उस काम की महत्ता निश्चित की जानी चाहिए। किन्तु उस काम के लिए उसे कितना पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए, यह बात उसकी आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित की जानी चाहिए। जो लोग निष्काम सेवा-भावना से काम करते हैं, उनके लिए कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता। इस बात के साक्षात् उदाहरण श्रीकृष्ण हैं। वे अर्जुन के सारथी के रूप में घोड़े को दाना-पानी देकर सेवा किया करते थे, पर जब अर्जुन के समक्ष धर्म-संकट उपस्थित हुआ, तो उन्होंने गीता के उपदेश भी दिये। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं: "अर्जुन ने भगवान् से कहा कि मुझे लड़ाई लड़नी है—अगर तू सारथी बनेगा, तो अच्छा होगा। इस पर भगवान् ने यह नहीं कहा कि मेरी योग्यता तुझसे अधिक है—मैं तेरे घोड़े की सेवा कैसे करूँ? उन्होंने

उसके घोड़े की सेवा की। उन्होंने कहा कि मैं काम कर सकता हूँ, तो कौन-सा छोटा काम है और कौन-सा बड़ा काम, यह नहीं देखता। फिर थोड़ी देर में क्या हुआ ? जब अर्जुन ने देखा कि जिनसे लड़ना है, वे सब सगे-सम्बन्धी हैं, तो उसे मोह हुआ। भगवान् ने सोचा कि इसे उपदेश कौन देगा ? क्या फौजी कॉलेज का प्रोफेसर आकर उपदेश देगा ? तो, अर्जुन को उपदेश देने का काम भी उन्होंने स्वयं किया—गीता का उपदेश दिया। घोड़े की सेवा भी की। कंस से लड़ाई की। गाय का गोबर भी उठाया।"

नयी तालीम के शिक्षक और छात्र जिस प्रकार से जीवन-यापन करेंगे, उससे नयी तालीम की वास्तविक परीक्षा होगी। इसलिए विनोबा-जी कहते हैं कि जहाँ नयी तालीम चले, वहाँ के शिक्षकों का वेतन एकत्र कर उनके परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुसार समान रूप से बाँट देना चाहिए। सर्वत्र यही नीति काम में लायी जानी चाहिए।

समाज में जिस साम्य की स्थापना करनी होगी, वह किस प्रकार का होगा, यह भी समझ लेने की आवश्यकता है। यह साम्य प्रायः 'समता' के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। व्यावहारिक क्षेत्र में गणित की तरह समानता की आशा नहीं की जाती। कारण, समाज में कुछ पार्थक्य तो रहेगा ही। इसलिए अँगुलियों की भाँति समानता हमारा लक्ष्य है। पाँचों अँगुलियाँ पूरी तरह बराबर नहीं होतीं। फिर वे बहुत छोटी-बड़ी भी नहीं होतीं। उनके बीच बहुत थोड़ा अन्तर होता है। जो अँगुलियाँ बड़ी हैं, उन्हें काटकर यदि सबको समान करने की कोशिश की जाय, तो कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। उन बराबर अँगुलियों से एक लोटा पानी भी नहीं उठाया जा सकेगा। प्रत्येक अँगुली की अपनी विशेषता है—अपना विशेष गुण है। पर ऐसा होना भी उचित नहीं है कि एक अँगुली दो इंच की हो और दूसरी दो फुट की। विनोबाजी कहते हैं : "तो, ये जो अँगुलियाँ भगवान् ने दी हैं, उनसे सबक लेना चाहिए कि समाज करीब-करीब समान होना चाहिए।"

आज समाज में उपभोग की वस्तुओं की तुलना में पैसे को अधिक महत्त्व दिया जाता है। पूँजीवादी दृष्टिकोण का यह एक और दुष्परिणाम है। उत्पादन मुख्यतः अपने व्यवहार के लिए होना चाहिए, बिक्री के लिए नहीं। किन्तु आज समाज में एक अस्वाभाविक स्थिति दिखाई पड़ती है। उत्पादन मुख्यतः बिक्री के लिए किया जाता है, व्यवहार के लिए नहीं। इसलिए आवश्यकता की अधिकांश वस्तुओं की खरीद करनी पड़ती है। इसीके फलस्वरूप पैसे को अधिक मर्यादा और महत्त्व दिया जाता है। लोग भ्रमवश पैसे को ही सम्पत्ति माने बैठे हैं, जब कि वास्तविक सम्पत्ति है—चावल, गेहूँ, मक्खन, दूध, घी इत्यादि मनुष्य की उपभोग की वस्तुएँ। किन्तु मनुष्य पैसे की माया पर मुग्ध है। गाँव में जाकर किसी व्यक्ति के पाँच रुपये का नोट दिखाते ही ग्रामीण लोग अपने जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्तुओं का परित्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार पैसे का मूल्य हम लोगों ने ही बढ़ाया है। विनोबाजी कहते हैं: "अगर उस नोट को जलाओ, तो थोड़ा-सा पानी भी गर्म नहीं होगा।...नासिक में एक ही छापाखाना है और वहाँ एक आदमी बैठे-बैठे नोट छापता है। लोग कहते हैं कि श्रीमानों के हाथ में सम्पत्ति है। श्रीमानों के हाथ में सम्पत्ति नहीं, माया है। उस माया में हम आ गये हैं। अगर हम गरीबों को उठाना चाहते हैं, तो वह माया हटानी चाहिए।"

समाज में उपर्युक्त ढंग से मूल्य-परिवर्तन करने के लिए भूदान-यज्ञ चल रहा है। इसीलिए कहा जाता है कि भूदान-यज्ञ को नयी तालीम की अन्यतम कार्य-सूची के रूप में ग्रहण करना आवश्यक है। ● ● ●

अध्याय २० नयी तालीम यानी नवसमाज-रचना का कार्यक्रम

नयी तालीम में कर्म और ज्ञान का समवाय-साधन किया जाता है। उसमें स्वावलम्बन की भी शिक्षा दी जाती है। किन्तु केवल इन दोनों का होना ही पर्याप्त नहीं है। इनके साथ साम्ययोग का भी संयोग होना चाहिए। तभी उसे नयी तालीम कहा जायगा। यह बात पहले बतायी जा चुकी है। यह साम्य केवल आर्थिक साम्य नहीं है। समाज में जो कुछ भेद और विषमताएँ हैं, उन्हें नयी तालीम के द्वारा दूर करना होगा। समाज में एकरसता न आने से नयी तालीम विकसित नहीं हो सकेगी। समाज में विषमता रहने पर भी शिक्षा का कोई एक विशिष्ट अंग चल सकता है। उदाहरणस्वरूप व्याकरण-शिक्षा देने के लिए यदि कोई विद्यालय हो, तो समाज में विषमता रहने के बावजूद वह विद्यालय सफलतापूर्वक चल सकता है। किन्तु जहाँ लोक-शिक्षा का प्रश्न है, वहाँ समाज की सभी विषमताओं को दूर करना नयी तालीम का पहला काम होगा। नयी तालीम किसी एक या एकाधिक शिक्षा-पद्धतियों का समन्वित रूप भी नहीं है। किसी वस्तु के संस्कार-साधन द्वारा भी उसका जन्म नहीं हुआ है। वह एक स्वतन्त्र वस्तु है। वह एक परिपूर्ण जीवन-विचार है। वह नवीन समाज अर्थात् अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहती है। इसलिए (१) ग्रामोद्योग, (२) भूमि के समतामूलक वितरण (स्वामित्व-विसर्जन), (३) जाति-भेद, पंथ-भेद आदि के निराकरण और (४) प्रत्यक्ष जीवन के माध्यम से शिक्षा-दान—यह चतुर्विध कार्यक्रम इसमें निहित है। इस चतुर्विध कार्यक्रम के सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं: "यह चतुर्विध कार्यक्रम मिला-जुला कार्यक्रम है। ये चार विभाग कल्पना के लिए, समझने-समझाने के लिए तो अलग किये जा

सकते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष कार्य में इस कार्यक्रम को अलग नहीं किया जा सकता।"

नयी तालीम अहिंसक समाज का निर्माण करेगी। अहिंसक समाज में शोषण नहीं होगा। उसमें लोग अपनी-अपनी विवेक-बुद्धि से परिचालित होंगे। अतः शासन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। नयी तालीम का काम इस प्रकार चलना चाहिए कि शासन-मुक्त समाज के निर्माण की दिशा में प्रगति हो।

नयी तालीम का काम होगा, देश के समक्ष नये समाज का आदर्श उपस्थित करना। ऐसा कैसे किया जा सकता है? यह किस प्रकार हो सकता है, इसे विनोबाजी ने इन शब्दों में समझाया है: "नयी तालीम का जो स्कूल चलेगा, उसमें भूदान, सम्पत्तिदान आदि विचार, सर्वोदय-विचार, साम्ययोग का विचार और अन्य सारे विचार, आर्थिक और सामाजिक चिन्तन, मनन, अध्ययन और अध्यापन के विषय होने चाहिए। वह जो छोटा-सा समाज होगा, बच्चों का और शिक्षकों का, उसको भी हमें उसी प्रकार का बनाना होगा, जैसा कि हमें ग्राम-समाज बनाना है। स्कूल का समाज हमारे भावी ग्राम-समाज का आदर्श होगा। दस-पाँच उत्तम शिक्षक हैं। उनके परिवार के और कोई दस-बीस लोग हैं। ५०-६०-८० विद्यार्थी हैं। उनको हमने काम करने के लिए जमीन दे दी है; जितनी पुस्तकें चाहिए, उतनी दे दी हैं; साधन-सामग्री सब दे दी है और उन पर यह भार लादा जाता है कि तुम लोग विद्या भी दिया करो और अपने सब लोगों की आजीविका भी चलाया करो। अगर वे कहें कि हमको जीवन चलाना है, हम शिक्षण नहीं दे सकेंगे, तो फिर वे नयी तालीम का 'अ-आ' भी नहीं जान सकते।"

किन्तु अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार उत्पादक शरीर-श्रम करके स्वावलम्बी सामूहिक जीवन-निर्वाह का नमूना प्रदर्शित करने की योग्यता से सम्पन्न शिक्षक आज तक प्राप्त हुए हैं क्या? यदि अब तक प्राप्त नहीं हुए हैं, अथवा अब भी प्राप्त नहीं होते, तो ऊपर जो चित्र अंकित किया

गया है, वह तो केवल कल्पना की वस्तु ही सिद्ध होगा। विनोबाजी ने इस समस्या के सम्बन्ध में सजग रहते हुए ही यह चित्र अंकित किया है। अब तक नयी तालीम के जो सब शिक्षक तैयार हुए हैं या अभी हो रहे हैं, वे मध्यम श्रेणी के परिवारों से ही सम्बन्ध रखते हैं। वे आर्थिक-दृष्टि-सम्पन्न होने के बावजूद व्यावहारिक क्षेत्र में विशेष शरीर-श्रम करने के योग्य नहीं होते। इसलिए जिन श्रेणियों के लोग शरीर-श्रम के अभ्यस्त होते हैं, उन्हींमें से शिक्षकों का चुनाव करना होगा। श्रमजीवी-श्रेणी के जो विद्यार्थी नयी तालीम के विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, उन्हीं-में से शिक्षक तैयार करने की चेष्टा करनी होगी। तभी उनके द्वारा नये समाज का आदर्श प्रदर्शित करा सकना संभव होगा। इसीलिए विनोबा-जी ने कहा है : "आखिर हमको यह कहना है कि उन काम करनेवाले लोगों में से ही शिक्षक पैदा करें। उन पर विद्या और संस्कार की लेप चढ़ानी होगी। जब उनमें से भी हम शिक्षक तैयार करेंगे, तभी वह आदर्श शिक्षक-योजना होगी। तब तक हम जो पुरानी तालीम पाये हुए और नयी तालीम चाहनेवाले लोग हैं, वे जो तालीम देते रहेंगे, वह नयी तालीम का एक कच्चा रूप रहेगा। इसलिए जब हमसे पूछा जाता है कि नयी तालीम का आदर्श कहीं प्रस्तुत किया है, तो हम उनसे कहते हैं कि नयी तालीम का आदर्श दिखाने लायक हम लोग नहीं हैं। हममें ईश्वर की कृपा से इतनी लियाकत आ गयी है कि हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। परन्तु उसकी रचना करने लायक योग्यता हममें नहीं आयी है। हमारे जो विद्यार्थी तैयार होंगे, उनमें हमसे भी ज्यादा योग्यता आयेगी।"

● ● ●

अध्याय २१ शिक्षा का स्वरूप—निवृत्त शिक्षण

रूसो फ्रांस का सुप्रसिद्ध प्रभावशाली एवं प्रतिभावान् साहित्यकार था। रूसो और वाल्तेयर को फ्रांसीसी विप्लव का जन्मदाता कहा जाता है, क्योंकि उनके साहित्य के माध्यम से जिस तेजस्वी, सजीव और क्रांतिकारी विचार का प्रचार हुआ, उसके प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप फ्रांसीसी विप्लव का जन्म हुआ। रूसो के 'सोशल काण्ट्रेक्ट' नामक प्रख्यात ग्रन्थ में अतीव भाव-प्रवण और ओजस्वी भाषा में आधुनिक गणतन्त्रात्मक नीति का प्रचार किया गया है और फ्रांसीसी जनता का अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण भाषा में इस बात के लिए आह्वान किया गया है कि वह अपनी सार्वभौम सत्ता प्राप्त करे। अनेक लोगों की ऐसी मान्यता है कि फ्रांसीसी विप्लव के आयोजन पर इस ग्रन्थ का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा था। इसके अतिरिक्त वे उस युग (१८ वीं शताब्दी के मध्यकाल) के सर्वाधिक प्रभावशाली शिक्षा-विशारद थे। उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी आधुनिक विचारधारा का जनक माना जाता है। उनके शिक्षा-विषयक साहित्य के प्रभाव ने शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया था। रूसो का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'एमेली' शिक्षा-शास्त्र से संबद्ध है। एक सभा में इस ग्रन्थ की आलोचना के प्रसंग में विनोबाजी ने इस बात की व्याख्या की थी कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए। यह सन् १९२३ की बात है—नयी तालीम की कल्पना के जन्म से १४ वर्ष पहले की। विनोबाजी ने जीवनभर अध्यापन-कार्य किया है, यह सही है; किन्तु इतने वर्ष पूर्व भी शिक्षा-सम्बन्धी उनके विचार कितने गम्भीर और क्रांतिकारी थे, यह सोचने पर आश्चर्य होता है।

रूसो ने शिक्षा को तीन भागों में विभाजित किया है : (१) स्वाभाविक शिक्षण, (२) व्यवहार-शिक्षण और (३) व्यक्ति-शिक्षण।

(१) मनुष्य में अन्तर्निहित शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति का विकास प्राकृतिक शिक्षण में शामिल है। शरीर के अंग-प्रत्यंग का परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित विकास, इन्द्रियों को सतेज और कार्यकुशल बनाना, मानसिक वृत्तियों की सर्वांगीण उन्नति तथा स्मृति, मेधा, प्रज्ञा, धृति, तर्क आदि बौद्धिक शक्तियों को तेजस्वी तथा प्रखर बनाना 'स्वाभाविक-शिक्षण' में शामिल है।

(२) बाह्य परिस्थिति और व्यावहारिक अभिज्ञता से मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे रूसो ने 'व्यवहार-शिक्षण' नाम दिया है। और,

(३) मनुष्य में अन्तर्निहित शक्ति के विकास अर्थात् स्वाभाविक शिक्षण से प्राप्त आत्मविकास का किस प्रकार बाह्य जगत् में प्रयोग किया जाय, इस संबंध में अन्य लोगों से वाचनिक, साम्प्रदायिक या विद्यालय के माध्यय से जो शिक्षा प्राप्त होती है, उसे 'व्यक्ति-शिक्षण' कहा गया है।

विनोबाजी कहते हैं कि शिक्षण को इस प्रकार तीन भागों में विभाजित करना ही होगा, ऐसा कोई बँधा-बँधाया नियम नहीं हो सकता, क्योंकि किस विषय के कितने विभाग करने होंगे, यह विभिन्न दृष्टिकोणों पर निर्भर करता है। रूसो ने जिस दृष्टि से शिक्षा को देखा है, उसके अनुसार उसने उसे तीन भागों में विभक्त किया है। किन्तु एक अन्य दृष्टि से देखने पर उसे दो भागों में विभक्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। वह दृष्टि यह है कि रूसो के विचार में शिक्षा के जो तीन विभाग हैं, उनमें से व्यवहार-शिक्षण और व्यक्ति-शिक्षण तो बाहर से आते हैं तथा स्वभाव-शिक्षण भीतर से आता है। अतएव शिक्षा को 'अन्तः-शिक्षण' और 'बहिःशिक्षण', इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। किंतु यदि और गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो प्रकट होगा कि शिक्षा-दान का माध्यम बाहरी होने पर भी जो चीज हमारे अन्दर नहीं है, वह बाहर से प्राप्त नहीं की जा सकती। यहाँ जो कुछ बाह्य है, वह निमित्तमात्र है। अतः जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहते हैं, वह अन्य लोगों से अथवा विद्यालय से प्राप्त होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। उसे

अन्तःशिक्षण में ही गिनना ठीक होगा। विनोबाजी कहते हैं : "वास्तव में वही शिक्षण इस अनन्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ से मानव को लगातार प्राप्त होता रहता है। उसमें कभी बाधा नहीं पड़ती। शेक्सपियर के अनुसार बहते हुए झरने में प्रासादिक ग्रन्थ संगृहीत हैं—पत्थरों में दर्शन दिये हुए हैं और जितने भी पदार्थ हैं, सबमें शिक्षण के सारे तत्त्व भरे पड़े हैं। वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, नदियाँ, पर्वत, आकाश, तारे—सभी अपने-अपने ढंग से मनुष्य को शिक्षा दे रहे हैं। × × ×पर यह ग्रंथ-गंगा कितनी ही गहरी हो, मनुष्य अपने लोटे से ही उसका पानी भरेगा। इसलिए इस विश्व से बाह्यतः हमें वही और उतना ही शिक्षण प्राप्त होगा, जिसके और जितने के बीज हमारे 'भीतर' निहित होंगे। यही हरएक का अनुभव है। हम-आप इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रन्थ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं और इतने पदार्थ देखते हैं, उनमें से कितने हमारे ध्यान में टिकते हैं?

"सारांश यह कि हम इस बाहरी दुनिया से जो कुछ सीखते हैं, वह सब भूल जाते हैं और उसकी जगह उसके संस्कार-मात्र रह जाते हैं। किंबहुना, शिक्षण का अर्थ जानकारी नष्ट होने पर बचे हुए संस्कार ही हैं। ऐसा होने का कारण ऊपर बताया ही जा चुका है कि जो हमारे 'भीतर' नहीं है, उसका बाहर से मिलना असम्भव है।"

शिक्षा या ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ऐसी ही बात कह गये हैं। उन्होंने अपने 'कर्मयोग' में कर्म के विश्लेषण-क्रम में विद्या या ज्ञान के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या की है और यह सिद्ध किया है कि ज्ञान मनुष्य के भीतर ही रहता है—वह कहीं बाहर से नहीं आता। उन्होंने कहा है :

"यह ज्ञान मनुष्य के भीतर ही रहता है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता—सभी मनुष्य के भीतर हैं। हम जो बोलते हैं, मनुष्य उसे जानता है। शुद्ध मनोविज्ञान की भाषा में कहना हो, तो यही कहना होगा कि वह 'आविष्कार' (Discover) करता है। मनुष्य जो 'शिक्षा' प्राप्त

करता है, वह वास्तव में आविष्कार करता है। 'Discover' (डिसकवर) शब्द का अर्थ है—अनन्त ज्ञान की खान-स्वरूप अपनी आत्मा से आवरण हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया था। क्या वे किसी कोने में बैठकर उसके लिए प्रतीक्षा कर रहे थे? नहीं, यह उनके मन में ही था। अवसर आया, तो उसे उन्होंने देखा। संसार ने जितने भी प्रकार का ज्ञान अर्जित किया है, सब अपने मन से। ससार के अनन्त पुस्तकालय आपके मन में हैं। बहिर्जगत् आपको केवल अपने मन का अध्ययन करने के लिए अभिप्रेरित करता है—वह उपयुक्त अवस्था-स्वरूप है। किन्तु सर्वदा आपका अपना मन ही आपके अध्ययन का विषय है। सेब का गिरना न्यूटन के लिए उत्तेजक कारण बना और वे अपने मन का अध्ययन करने लगे। वे अपने मन के भीतर पहले से अवस्थित भावों की परम्परागत शृंखला को एक अन्य प्रकार से सजाने लगे और उन्होंने एक नयी शृंखला का आविष्कार किया। उसे ही हम गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कहते हैं। वह सेब या पृथ्वी के बीच में स्थित कोई पदार्थ नहीं था। इसलिए व्यावहारिक या पारमार्थिक समस्त ज्ञान ही मनुष्य के मन में होता है। अनेक स्थलों पर वह आविष्कृत या अनावृत नहीं रहता, बल्कि आवृत रहता है। जब यह आवरण क्रमशः हटा लिया जाता है, तब हम कहते हैं : 'हमने शिक्षा प्राप्त की है।' आविष्कार की यह प्रक्रिया जितनी अधिक चलती है, ज्ञान की उतनी ही उन्नति होती है। जिस व्यक्ति का यह आवरण क्रमशः उठता जाता है, वह अधिक ज्ञानी कहलाता है; जिस व्यक्ति का आवरण अधिक होता है, वह अज्ञानी कहलाता है और जिस व्यक्ति का आवरण पूर्णतः हट जाता है, वह सर्वज्ञ कहलाता है। प्राचीन काल में अनेक व्यक्ति सर्वज्ञ थे। मेरा विश्वास है, इस काल में भी अनेक सर्वज्ञ पुरुष होंगे और भविष्य में भी असंख्य सर्वज्ञ पुरुष जन्म लेंगे। जिस प्रकार चकमक पत्थर में अग्नि छिपी होती है, वैसे ही मन में ज्ञान छिपा होता है, उद्दीपक कारण उसे आलोकित कर देता है। हमारे समस्त भावों और कार्यों के सम्बन्ध में यही बात है।

यदि हम गंभीरता से अपने अन्तःकरण का अध्ययन करें, तो पता चलेगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दुःख, वरदान-अभिशाप, निन्दा-स्तुति आदि सारी चीजें हमारे मन पर बहिर्जगत् के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप हमारे भीतर से ही उत्पन्न होती हैं। उनसे ही हमारे चरित्र का निर्माण होता है। इन समस्त घातों को उनके समष्टिरूप में 'कर्म' कहते हैं।"

इसलिए विनोबाजी कहते हैं कि बाह्य शिक्षण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह कोई तात्त्विक पदार्थ नहीं है। वह अभावात्मक क्रिया-मात्र है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं होगा। इसके बाद भी कुछ कमी रह जाती है। कारण, बाह्य शिक्षण सर्वथा अभावात्मक अथवा मिथ्या नहीं होता, क्योंकि जिसे 'बाह्य शिक्षण' कहा गया है, उसके लिए बाहर का कुछ निमित्त, अवलम्बन अथवा आधार तो चाहिए ही। बाह्य अवलम्बन के बिना केवल भीतर-भीतर शिक्षा-संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि बाह्य शिक्षा का अस्तित्व है अथवा वह भावात्मक है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व नहीं है अथवा वह पूरी तरह अभावात्मक है। इसलिए विनोबाजी कहते हैं कि इस प्रकार यह बात एक 'डाइलेमा' (परस्पर-विरोधी दो विषयों की उपस्थिति) बनकर उपस्थित होती है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि शिक्षा के इस बाह्य आधार के साथ अन्दर की वास्तविक शिक्षा का क्या सम्बन्ध है। अन्यथा शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह भलीभाँति प्रकट नहीं होगा।

इस प्रकार का 'डाइलेमा' (गतिरोध) अथवा 'वाद' कोई नवीन वस्तु नहीं है। अन्यान्य शास्त्रों में भी इस प्रकार के 'वाद' हैं। वेदान्त और न्यायशास्त्र के ऐसे 'वादों' की बात सम्बद्ध शास्त्रज्ञों के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी ज्ञात है। जैसे, वेदान्त में 'सुख के साथ बाह्य पदार्थों का क्या सम्बन्ध है ?' और न्यायशास्त्र में 'मिट्टी के साथ मिट्टी-निर्मित घड़े का क्या सम्बन्ध है ?'—ये प्रश्न उठाये गये हैं। इन प्रश्नों के कारण जिस 'वाद' का जन्म हुआ है, उससे अनेक लोग परिचित हैं। वह 'वाद' इस

प्रकार है—सुख के सम्बन्ध में यदि कहा जाय कि बाह्य पदार्थों में सुख विद्यमान है, तो यह ठीक न होगा। कारण, बाह्य पदार्थ अन्य अवसरों पर भले सुखदायक हों; पर मन की स्थिति विकृत रहने पर उनसे कोई सुख नहीं मिलता। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है, सुख एक मानसिक भावना-मात्र है, तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा। न्यायशास्त्र का मिट्टी के घड़े का दृष्टांत भी इसी प्रकार का है। मिट्टी और घड़े के संबंध में भी ऐसा ही 'वाद' उठता है। यदि कहा जाय कि मिट्टी और घड़ा दोनों ही एक वस्तु हैं, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि फिर खाली मिट्टी में भी पानी भरा जा सकता है। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि मिट्टी और घड़ा, दोनों दो पृथक् वस्तुएँ हैं, तो इसके प्रतिवाद में यह कहा जा सकता है कि मिट्टी और घड़े को अलग-अलग रखा जाय और जिसकी मिट्टी है, उसे वह दे दी जाय और जिसका घड़ा है, उसे घड़ा दे दिया जाय, ताकि वह उसमें पानी भर सके, भला ऐसा सम्भव है? ऐसी स्थिति में यदि स्पष्टतः कहना पड़े कि कौन-सा पक्ष सही है, तो कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं होगा—उनके परस्पर-संबंधों को व्यक्त करना बहुत ही कठिन है। इसलिए अज्ञता से बचने के लिए शास्त्रकारों ने इन दोनों के सम्पर्क को भव्य भाषा में 'अनिर्वचनीय सम्पर्क' नाम दिया है। शिक्षाशास्त्र के उपर्युक्त 'वाद' के संबंध में भी 'अनिर्वचनीय सम्पर्क' की उक्ति चरितार्थ हो सकती है। उनके सम्पर्क के संबंध में ऐसा कहे जाने पर भी भावात्मकता-संबंधी सूक्ष्म विचार से, तारतम्य (तुलना) की दृष्टि से मिट्टी को तात्त्विक या भावात्मक और घड़े को अभावात्मक (अस्तित्वहीन) अथवा मिथ्या कहा गया है। इसी प्रकार तारतम्य की दृष्टि से अन्तःशिक्षा को 'भावात्मक' और बाह्य शिक्षा को 'अभावात्मक' कहा गया है। यहाँ स्मरणीय है कि तारतम्य के विचार से बाह्य शिक्षा को मिथ्या बतलाया गया है। किंतु वस्तुतः वह पूर्णतः अभावात्मक (अस्तित्वशून्य) या मिथ्या नहीं है। अन्यथा शिक्षा के संबंध में बाहर कुछ भी करने को न रह जाता।

शिक्षा के लिए कोई पाठ्यक्रम तैयार करने का भी प्रश्न न रहता और शिक्षा-संबंधी समस्त आंदोलन मूर्खतापूर्ण सिद्ध हो जाता। तारतम्य अर्थात् तुलना की दृष्टि से उसे अभावात्मक या मिथ्या कहा तो गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कोई कार्य नहीं है। वास्तव में वह कार्य तो है ही। विनोबाजी कहते हैं : "पर वह अभावात्मक कार्य है। हमारे 'अभावात्मक' कहने का यही तात्पर्य है।" यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि उसे किस प्रकार 'अभावात्मक कार्य' कहा जा सकता है। शिक्षा किसी स्वतंत्र तत्त्व की सृष्टि नहीं करती। शिक्षा का लक्ष्य अन्तर्निहित है। किन्तु अनेक कारणों से वह स्वतः प्रकाशित नहीं होता। शिक्षा का वास्तविक कार्य उन्हीं प्रतिबंधात्मक कारणों को दूर करना है। जो वस्तु भीतर है, उसके प्रकाश और विकास की बाधाओं को यह दूर करती है, इसलिए उसकी उपयोगिता स्वीकार करनी ही होगी। अतएव उसका भाव या अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। उसका थोड़ा-बहुत अस्तित्व है।

इतना विश्लेषण करने के उपरान्त इस विषय को समझने का क्या प्रयोजन है? आज इसे समझने का प्रयोजन इसलिए है कि हमारी जो शिक्षा-पद्धति निर्मित हुई है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। उसे जैसा होना चाहिए, वह उसके विपरीत बन गयी है। इस बात को समझने के लिए एक मात्र इस प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता है। शिक्षा के इस तत्त्व को भलीभाँति न समझने के कारण ही शिक्षा की अस्वाभाविक पद्धति के निर्माण में सहूलियत हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं। अतएव इसे समझने और प्राप्त करने से शिक्षा की वर्तमान अस्वाभाविक पद्धति में संशोधन करने की प्रेरणा मिलेगी। साथ ही यह प्रकट होगा कि यह संशोधन किस प्रकार किये जाने की आवश्यकता है। अभी शिक्षा-पद्धति कितनी अस्वाभाविक है, इसकी चर्चा करते हुए विनोबाजी कहते हैं : "बच्चे को स्मरण-शक्ति तीव्र दीख पड़ते ही उसे अधिक-से-अधिक कंठ करने को उत्तेजित किया जाता है। पिता को ऐसा

लगता है कि इस बच्चे के मस्तिष्क में कितना ठूँसें और कितना नहीं। शालेय शिक्षा-पद्धति में भी यही ढंग अपनाया जाता है। इसके विपरीत यदि छात्र मंदबुद्धि हो, तो उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की जाती है। 'बुद्धिमान्' कहे जानेवाले छात्र कॉलेज पहुँचने तक किसी प्रकार ठीक चलते हैं, पर आगे वे प्रायः पिछड़ जाते हैं। कॉलेज में यदि वे न भी पिछड़ें, तो आगे व्यवहार में निकम्मे साबित होकर रहते हैं। इसका एकमात्र कारण उनकी कोमल बुद्धि पर फालतू बोझ डाला जाना है। घोड़ा चपल है ठीक चलता है, तो उससे छेड़छाड़ करने की जरूरत नहीं। पर ऐसा न करके घोड़ा चपल है, इसलिए लगाइये उसे चाबुक—इससे क्या होगा? घोड़ा भड़ककर गड्ढे में जा गिरेगा और मालिक को भी गिरा देगा। यह मूर्खतापूर्ण जंगली पद्धति कम-से-कम राष्ट्रीय पाठशालाओं में तो बन्द होनी ही चाहिए।"

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि शिक्षा में जो वस्तु भीतर नहीं है, उसे बाहर से प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। जो भीतर सुप्त है, उसे जाग्रत करना शिक्षा का एकमात्र कार्य है। शिक्षा किसी स्वतंत्र वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकती। अब प्रश्न उठता है—भीतर सुप्त क्या रहता है? उसका आधार क्या है? एक ही तत्त्व क्या सबमें रहता है? यदि सब लोगों में एक ही तत्त्व सुप्तावस्था में रहता है, तो सबको समान भाव से शिक्षित कर सकना क्यों सम्भव नहीं होता? इन सब बातों को भलीभाँति समझने पर ही हम शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

प्रत्येक मनुष्य की आत्मा होती है। आत्मा एक है। एक ही आत्मा सबमें है। आत्मा अनन्त गुणों और शक्ति से भरी है। आत्मा अनन्त विकासशील है। मनुष्य के विकास का अर्थ है, आत्मा के सुप्त गुणों को जाग्रत और विकसित करना। शिक्षा-तत्त्व के मूल में यही मौलिक भावना है। यही शिक्षा का मुख्य आधार है। शिक्षा का उद्देश्य है, आत्मा के अनन्त गुणों का विकास करना और उसकी अनन्त शक्ति को

जाग्रत करना। इसीलिए विनोबाजी कहते हैं : "सभी शास्त्र, सभी कलाएँ, सभी सद्‌गुण बीज-रूप से मानव में स्वयंसिद्ध ही हैं। हमें वह बीज नहीं दीखता, इसलिए बीज है ही नहीं—ऐसा नहीं है।"

विनोबाजी ने अपने 'गीता-प्रवचन' में गीता के आठवें अध्याय की जो व्याख्या की है, उससे प्रकट होता है कि मनुष्य का जीवन अनेक संस्कारों से भरा है। जीवन का अर्थ संस्कार-संचय है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं—भले और बुरे। शिक्षा का लक्ष्य जीवन में अच्छे संस्कारों का निर्माण करने के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करना और अच्छे संस्कारों का संचय करा देना है। हम लोग सारा जीवन आहार-विहार, काम-काज, आचार-व्यवहार आदि के माध्यम से अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के संस्कारों का संचय करते हैं। इस दृष्टि से हम आजीवन शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं। यदि अच्छे संस्कारों के संचय को शिक्षा कहा जाता है, तो बुरे संस्कारों के संचय को क्या कुशिक्षा कहा जा सकता है? नहीं, ऐसा नहीं है। वह शिक्षा है ही नहीं। वह शिक्षा-विरुद्ध है। शिक्षा और जीवन-यात्रा के द्वारा अपने जीवन में नाना प्रकार के संस्कारों का संचय करने के उपरान्त जब हम लोग इस लोक का त्याग करके जाते हैं, तब आत्मा के कुछ गुण और शक्ति विकसित तथा जाग्रत अवस्था में, कुछ विकासोन्मुख अवस्था में, कुछ विकासानुकूल अवस्था में और शेष अविकसित अवस्था में आत्मा में निहित रहती है। दूसरे जन्म की शिक्षा से पूर्वजन्म के विकसित गुण सहज ही जाग्रत और विकसित हो जाते हैं। विकासोन्मुख गुण और जागरणोन्मुख शक्तियाँ भी अल्प प्रयास से ही विकसित और जाग्रत होती हैं। इसके अलावा जिन गुणों के विकास या शक्तियों के जागरण के लिए चेष्टा की जाती है, उनके विकास और जागरण के लिए पर्याप्त प्रयत्न करने से सम्भव है, वे जाग्रत और विकसित हों। शिक्षा के मौलिक तत्त्व-विचार में ये सब कल्पनाएँ आती हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा के लिए एकरूप चेष्टा करने पर भी विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के परिणाम प्रकट हो सकते हैं। अतएव यह सही है

कि सबमें एक ही आत्मा विद्यमान है और सबकी आत्मा का समान रूप से विकास किया जा सकता है; परन्तु एक ही जीवन में सबका समान विकास हो, यह आवश्यक नहीं है। सुयोग और प्रयत्न की विभिन्नता तथा पूर्वजन्म में अर्जित संस्कारों के अन्तर के कारण ऐसा होता है। शिक्षा के क्षेत्र में ये सब कल्पनाएँ स्वीकृत विषय (Postulate) स्वरूप मान लेनी पड़ती हैं।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मनुष्य स्वभाव से दुर्बल और नीतिहीन होता है। शिक्षा के द्वारा उसे शक्तिमान् और नीतिवान् बनाया जाता है। अर्थात् मूलतः मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा के द्वारा उसे मनुष्य बनाया जाता है। सब में एक ही आत्मा का अस्तित्व है और उसका समान रूप से विकास सम्भव है—ऐसा मान लेने से इस कल्पना की भ्रान्तता स्पष्ट हो जाती है। मनुष्य में पूर्णता तत्त्व-बीज के रूप में स्वतः-सिद्ध है। सत्याग्रह के क्षेत्र में भी मनुष्य की आत्मा के अस्तित्व, एकता और पूर्णता में विश्वास ही सत्याग्रह का एकमात्र आधार है। अन्यथा अहिंसा का कोई स्थान नहीं रह जाता। आत्मा का अस्तित्व मान लेने से इस विश्वास और श्रद्धा का जन्म होता है कि मनुष्य का हृदय-परिवर्तन सम्भव है। ऐसा विश्वास और श्रद्धा न रहने से अहिंसा और सत्याग्रह का कोई स्थान नहीं रह जाता। ● ● ●

अध्याय २२ शिक्षा-पद्धति—सहज शिक्षण

पिछले अध्याय में शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया गया है। साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति कितनी अस्वाभाविक है। अब यह विचार करना आवश्यक है कि शिक्षा किस प्रकार देनी-लेनी चाहिए।

शिक्षा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह शिक्षार्थी को दण्ड-स्वरूप प्रतीत हो। शिक्षा देने की पद्धति या व्यवस्था ऐसी भी हो सकती है कि शिक्षा ग्रहण करना कर्तव्य है, अथवा कर्तव्य-बोध से शिक्षा ग्रहण की जा रही है—ऐसी भावना शिक्षा-काल में शिक्षार्थी के मन में उत्पन्न हो। फिर शिक्षा-ग्रहण आनन्ददायक भी लग सकता है। जो शिक्षा-पद्धति अब तक चली आ रही है, वह अनेक क्षेत्रों में शिक्षार्थियों के लिए दण्ड-स्वरूप सिद्ध हुई है। ऐसा लगता है कि शिक्षालय जेल है और शिक्षक उसके कर्ता-धर्ता। अर्थात् शिक्षालय लड़के-लड़कियों को बाँध रखने के स्थान हैं। जहाँ ऐसी बात नहीं है, वहाँ शिक्षा-ग्रहण को कर्तव्य मानने की भावना शिक्षार्थियों के मन में पायी जाती है और इसका कुफल यह होता है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

जिस शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप शिक्षा दण्ड या कर्तव्य-जैसी लगे, उसे विनोबाजी शिक्षा-पद्धति मानने को ही तैयार नहीं हैं। वे उसे 'शिक्षा का अभाव' कहते हैं। वे कहते हैं कि शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि शिक्षा दी जा रही है, ऐसा अनुभव ही न हो। खेल से व्यायाम होता है। किन्तु जब बच्चे खेलते हैं, तब उनके मन में केवल आनन्द-प्राप्ति की भावना होती है। फिर भी खेल के माध्यम से उनका व्यायाम तो हो ही जाता है। इसीलिए विनोबाजी कहते हैं : "खेल का अर्थ 'आनंद'

या 'मनोरंजन' रहता है। व्यायामरूप कर्तव्य नहीं बन पाता। यही बात सभी प्रकार की शिक्षा पर लागू करनी चाहिए। 'शिक्षा एक कर्तव्य है'—ऐसी कृत्रिम भावना की अपेक्षा 'शिक्षा का अर्थ आनन्द है'—यह स्वाभाविक और उत्साह-भरी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। पर हमारे बच्चों में क्या आज ऐसी भावना दिखाई पड़ती है? 'शिक्षण आनन्द है'—यह तो दूर, 'शिक्षा कर्तव्य है'—यह भावना भी आज प्रायः दिखाई नहीं पड़ती। आज के छात्र-वर्ग में गुलामगिरी की एकमात्र यह भावना प्रचलित है कि शिक्षण याने 'सजा'।"

शिक्षा सहज भाव से ही मिलनी चाहिए। सहज भाव से जो काम होता है, वह अज्ञात भाव से होता है। हमारे शरीर-संचालन की क्रियाएँ, अर्थात् श्वास-प्रश्वास, पाचन आदि क्रियाएँ सहज भाव से होती हैं। इसीलिए साँस चल रही है, अथवा पाचन-क्रिया चालू है—इन बातों का हमें भान नहीं रहता। बीमारी की स्थिति में ये क्रियाएँ सहज अथवा स्वाभाविक रूप से नहीं होतीं। उस समय इस बात का भान होता है कि साँस ठीक चल रही है अथवा नहीं या पाचन-क्रिया ठीक है अथवा नहीं।

सहज भाव से शिक्षा-ग्रहण का सुन्दर उदाहरण है, शिशु या बालक की मातृभाषा की शिक्षा। शिशु या बालक नहीं जानता कि व्याकरण किसे कहते हैं। फिर भी मातृभाषा में बातचीत करते-करते और मातृभाषा में लिखना-पढ़ना सीखते-सीखते सहज भाव से या अज्ञात भाव से उसकी व्याकरण-शिक्षा का काम हो जाता है। कारण बालक यह कभी नहीं कहता कि 'माँ आया'। इसीलिए विनोबाजी कहते है: "भले हो उसे 'व्याकरण' शब्द का पता न हो और व्याकरण की परिभाषा से भी वह अवगत न हो, पर व्याकरण का मुख्य कार्य सम्पन्न हो चुका है।" इसलिए शिक्षा का साधन क्या है और शिक्षा का लक्ष्य क्या है, अर्थात् साधन और साध्य के पार्थक्य की ओर दृष्टि रखकर शिक्षा के क्षेत्र में अग्रसर होना उचित है, ताकि साधन को साध्य का महत्त्व न मिल जाय और साध्य को गौण स्थान न प्राप्त हो जाय। यहाँ हम तर्कशास्त्र का

उदाहरण लें। तर्कशास्त्र पढ़ने का उद्देश्य है, किसी विषय पर व्यवस्थित रूप से विचार करने और सही निष्कर्ष निकालने की योग्यता प्राप्त करना। तर्कशास्त्र में पंचावयव वाक्य या 'सिलाजिज्म' (Syllogism) की रचना सीखने से व्यवस्थित ढंग से तर्क करने और सही अनुमान लगाने की कुशलता प्राप्त होती है। किन्तु 'सिलाजिज्म' न जानने पर भी मनुष्य में तर्कशक्ति रहती है। बच्चों में भी तो मूलतः तर्कशक्ति रहती ही है। जब प्रकाश कम होने लगता है, तब बच्चे भी यह अनुमान लगा लेते हैं कि लालटेन में तेल समाप्त हो रहा है। इसीलिए शिक्षा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि शिक्षार्थियों को अपनी अन्तर्निहित तर्कशक्ति का व्यवहार करने का सुयोग बार-बार प्राप्त हो। 'सिलाजिज्म' सीखने की प्रतीक्षा करना ठीक नहीं है। 'सिलाजिज्म' सीखना अवश्य होगा, पर वह बहुत अल्पावस्था में सम्भव नहीं है। 'सिलाजिज्म' सीखने से तर्कशक्ति परिमार्जित और प्रखर होगी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसके लिए अन्तर्निहित तर्कशक्ति के बार-बार अनुशीलन द्वारा यथासम्भव उसके विकास की चेष्टा से दूर रहना ठीक नहीं है। व्याकरण की परिभाषा और नियमावली सीखने से पहले बच्चे शुद्ध वाक्य बोलना और लिखना सीखेंगे। यही शिक्षा की पद्धति होनी चाहिए। अर्थात् शिक्षा के क्षेत्र में साध्य-साधन-विवेक को भलीभाँति प्राप्त करके अग्रसर होना चाहिए। साधन को साध्य के स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि छात्रों को सहज शिक्षण मिलना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक भी सहज शिक्षा देने के योग्य हों। विनोबाजी का कहना है कि जो वास्तव में शिक्षक हैं, वे शिक्षा नहीं देते। उनसे अपने-आप शिक्षा प्राप्त होती रहती है। जो लोग सहज शिक्षक बनना चाहते हैं, उनके मन में ऐसी धारणा कभी नहीं आयेगी कि शिक्षा का कार्य बच्चों को सुयोग्य नागरिक बनाना है। शिक्षक कुछ निर्माण कर रहे हैं, ऐसी मनोवृत्ति सहज शिक्षा का मूलोच्छेद करनेवाली है।

इसलिए विनोबाजी कहते हैं : "ऐसा (सहज शिक्षक) बनने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक के मन में गुरुत्व की यह अस्पष्ट भावना न रहे कि 'मैं छात्रों को शिक्षा दे रहा हूँ।' गुरु के स्वयं अनन्य और सहज शिक्षक हुए बिना छात्रों को भी सहज शिक्षण नहीं मिल सकता।"

किसी विशेष पद्धति का अनुसरण करके शिक्षा देना भी सहज शिक्षण के लिए घातक है। इसलिए विनोबाजी ने इस सम्बन्ध में कड़ी टीका की है। वे कहते हैं :

"जब आपसे यह कहा जाता है कि हम फ्रोबेल, पेस्टॉलाजी या मांटेसरी की पद्धति से शिक्षा दे रहे हैं, तब आप खुशी से यह समझ लें कि यह केवल वाणी का श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी भी पद्धति की अर्थशून्य नकल है, यह प्रेत है, इसमें प्राण नहीं है। शिक्षण बीजगणित का कोई फार्मूला (सूत्र) नहीं है कि उसे लगाते ही उत्तर तैयार। आज दी जानेवाली शिक्षा न तो शिक्षा है और न उसे देने की वर्तमान पद्धति वास्तविक पद्धति है। जो अन्दर है, वह सहज भाव से प्रकट हो—वही शिक्षण है।" इसलिए वे कहते हैं कि सहज शिक्षा त्रुटियों के बावजूद चल सकती है। किन्तु विशिष्ट पद्धति का दास बनकर बँधे-बँधाये नियम से जो शिक्षा दी जाती है, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। उसे किसी भी प्रकार सहज नहीं किया जा सकता।

प्रचलित शब्दों में जिसे शास्त्र (जैसे, शिक्षा-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र आदि) कहा जाता है, उसे विनोबाजी कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। उनके विचार में प्रचलित शास्त्र का अर्थ है, 'व्यवस्थित अज्ञान'। वे कहते हैं कि गीता की भाषा में वास्तविक शास्त्र को इस प्रकार का दावा करने योग्य होना चाहिए—**"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्याः कृतकृत्यश्च भारत"** अर्थात् "अर्जुन! इसे जानकर बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाओगे।" जो शास्त्र ऐसा दावा नहीं कर सकता, वह मनुष्य को धोखा देने का एक 'सुव्यवस्थित यंत्र' छोड़कर और कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रचलित शास्त्रों के पास ऐसा दावा करने के लिए कुछ

भी नहीं है। कारण, क्या नाट्यशास्त्र का अध्ययन करके शेक्सपियर इतने बड़े नाट्यकार हुए थे? अथवा क्या किसी अलंकार-शास्त्र का अध्ययन करके लोग प्रतिभावान् कवि या काव्य-रसिक हुए हैं? वे कहते हैं: 'शास्त्र' और 'पद्धति' का शब्द-सृष्टि से अधिक कुछ भी अर्थ या महत्त्व नहीं, यह केवल भ्रम है। **'यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि'**—भर्तृहरि का यह बड़ा ही मार्मिक वचन है कि श्रेष्ठ पुरुषों की स्वैर कथाएँ ही शास्त्र हैं। शिक्षा-शास्त्र के प्रसंग में वही सच्चे अर्थ में लागू होता है।"

विनोबाजी कहते हैं कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वे कहते हैं: "जो बिना किसी पद्धति के पद्धतियुक्त या व्यवस्थित बनता है, जिसे कोई भी गुरु नहीं दे सकता, फिर भी जो दिया जाता है, शिक्षण का यह अनिर्वचनीय स्वरूप है। इसलिए दिव्यदृष्टि-सम्पन्न महात्माओं ने यही उद्‌गार व्यक्त किये कि शिक्षा कैसे दी जाय, यह हम नहीं जानते—**'न विजानीमः'** (केनोपनिषद्)।

शिक्षा-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक—ये सब अर्थशून्य शब्द हैं। इनमें सिवा आत्मवंचना के और कुछ नहीं है। जीने की क्रियाओं में ही शिक्षा मिलनी चाहिए। जब जीने की क्रिया से भिन्न 'शिक्षण' नाम की कोई स्वतंत्र क्रिया बन जाती है, तब किसी विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रविष्ट होने पर सम्भाव्य दुष्परिणाम की भाँति शिक्षा का भी मन पर विषैला और रोगयुक्त प्रभाव पड़ता है। कर्म की कसरत किये बगैर ज्ञान की भूख नहीं लगती और ऐसी स्थिति में जो विजातीय रूप से भीतर घुस पड़ता है, पाचनेन्द्रिय में उसे पचाने की ताकत नहीं रहती। यदि केवल पुस्तकें मस्तिष्क में ठूँसने से मानव ज्ञानी बनता, तो लाइब्रेरी की आलमारियाँ ज्ञानी बन जातीं। जबर्दस्ती ठूँसे हुए ज्ञान से तो अपचन होकर 'बौद्धिक पेचिश' ही शुरू होती है और मानव की 'नैतिक मृत्यु' हो जाती है।"

●●●

अध्याय २३ शिक्षा-पद्धति--पूर्णात् पूर्णम्

बाँकुड़ा जिले में भूदान-पदयात्रा कर रहा था। उस समय खातड़ा थाने में काँसाई-योजना का काम चल रहा था। उसके पास से ही हम लोग जा रहे थे। इससे पहले दिन हमारा सहयात्री वहाँ जाकर जलाधार-निर्माण का काम अच्छी तरह देख आया था। चलते-चलते वह साथियों से उसी संबंध में बातें करने लगा। जलाधार-निर्माण का काम उसने अच्छी तरह देख लिया था। अब वह क्रमशः योजना के दूसरे अंशों को देखने की इच्छा रखता था। मैंने उससे पूछा कि नदी-योजना क्या चीज है, यह तुमने मोटे तौर पर समझ लिया है कि नहीं? उसने कहा कि अन्यान्य अंशों को देख लेने के बाद मैं योजना को समझ जाऊँगा। अन्यान्य साथियों ने भी बाद में समय और अवसर मिलने पर योजना के विभिन्न अंशों को क्रमशः देखने की इच्छा व्यक्त की। मैंने कहा : "संपूर्ण योजना क्या है, इसे पहले मोटे तौर पर समझ लेने के उपरांत उसके विभिन्न अंशों को देखने-समझने से सही-सही ज्ञान प्राप्त होगा।" मैंने उन्हें संक्षेप में समझा दिया : "काँसाई नदी में बर्फ गलने से पानी नहीं आता। वर्षा के समय बरसात का काफी पानी आ जाने के कारण नदी में बाढ़ आ जाती है और इसके दोनों किनारों पर बसे हुए गाँव जल-प्लावित हो जाते हैं। बहुत-सी भूमि पर आबाद फसलें नष्ट हो जाती हैं, जिसके फल-स्वरूप लोगों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस योजना के कार्य-रूप में परिणत हो जाने पर बाढ़ के दुष्परिणामों से बचा जा सकेगा। तब उसके पानी में सैकड़ों गाँवों और उनके लाखों निवासियों को क्षति नहीं पहुँचेगी, बल्कि उसका उपयोग खेती-बारी में होगा और इलाके के लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ेगी। उसकी जलधारा की शक्ति से

सस्ती बिजली पैदा होगी, जिससे कल-कारखाने चलेंगे। नदी के ऊपरी भाग में उद्गम-दिशा में, वह देखो, विशाल जलाधार बनाया जा रहा है। इस जलाधार के द्वारा उद्गम-स्थल से आनेवाला अधिकांश पानी रोक लिया जायगा। शेष कुछ पानी को नदी में पतली धारा के रूप में बहने दिया जायगा। उससे किसीको किसी तरह का नुकसान पहुँचने की संभावना नहीं रहेगी। जलाधार के सामने के बाँध में दो बड़े-बड़े 'सुइस गेटों' का निर्माण किया जायगा, जिससे आवश्यकता के अनुसार पानी छोड़ा जायगा। जलाधार के उस मुख से तीन मुख्य नहरें निकालकर तीन ओर ले जायी जा रही हैं। एक नहर इस जिले के विष्णुपुर नामक महकमे की ओर जा रही है और बाकी दोनों मेदिनीपुर जिले की ओर जायँगी। मुख्य नहरों से अनेक शाखा नहरों का निर्माण किया जायगा और मुख्य नहरों तथा छोटी नहरों में विभिन्न स्थानों पर 'सुइस गेट' बनाये जायँगे, ताकि आवश्यकता के अनुसार ही पानी निकाला जा सके। इन सब छोटी नहरों द्वारा लाखों-लाख एकड़ भूमि में खेती के लिए प्रयोजन के अनुसार पानी दिया जायगा। दामोदर-योजना में रोके गये जल से उत्पन्न शक्ति को काम में लगाकर सस्ती बिजली पैदा की जा रही है। देश के विभिन्न स्थानों में जो नदी-योजनाएँ पूरी की जा रही हैं या की गयी हैं, उन सबका मोटे तौर पर यही रूप है। अब योजना के विभिन्न अंशों का निर्माण-कार्य देखने और उन सबके निर्माण के बाद विभिन्न अंशों का कार्य देखने पर काँसाई तथा अन्यान्य नयी-योजनाओं के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त होगा।" सभी विषयों में इसी पद्धति और क्रम से शिक्षा देनी-लेनी चाहिए। विनोबाजी ने इसे 'पूर्णात् पूर्णम्'—पद्धति नाम दिया है। शिक्षा-दान 'पूर्ण' से 'अंश' की ओर होना चाहिए—'अंश' से 'पूर्ण' की ओर नहीं।

विनोबाजी कहते हैं कि शिक्षा-दान और शिक्षा-ग्रहण का कार्य इसी प्रकार आगे बढ़ना चाहिए। अर्थात् स्पष्ट होने पर भी सम्पूर्ण विषय के सम्बन्ध में पहले एक स्थूल परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके बाद

विभिन्न अंशों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिचय प्राप्त करना चाहिए। इससे ज्ञान अस्पष्ट से स्पष्ट और उससे भी आगे अतिस्पष्ट की ओर अग्रसर होगा। इस प्रकार बढ़ने से सभी स्तरों पर समग्र का ही ज्ञान प्राप्त होगा। किन्तु आरम्भ में समग्र का साधारण परिचय प्राप्त न कर विभिन्न अंशों का ज्ञान-लाभ करते-करते अग्रसर होने से अन्त में समग्र का ज्ञान प्राप्त तो होगा, पर यह प्रक्रिया कष्टसाध्य ही सिद्ध होगी। फिर इस प्रकार प्राप्त ज्ञान सुस्पष्ट और गम्भीर भी नहीं होगा। विनोबाजी ने कई उदाहरण देकर ज्ञान-प्राप्ति की इस धारा की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण शरीर के साथ ही जन्म लेता है। ऐसा नहीं होता कि जन्म के समय मनुष्य के केवल दो-तीन ही उँगलियाँ हों। ऐसा भी नहीं होता कि पहले एक आँख और एक कान हो और अन्य अंग-प्रत्यंग क्रमशः जन्म लें तथा उम्र पूरी होने पर मनुष्य में सारे अंग दिखाई पड़ें। जन्म के समय भी मनुष्य के पूर्ण अवयव होते हैं और मृत्यु के समय भी। आयु के साथ मनुष्य के अंग-प्रत्यंग केवल बढ़ते और परिपुष्ट होते हैं। बीज से जब एक पौधा जन्म लेता है, तब उसमें जड़, तोर, तना, पत्ते सब रहते हैं। वह छोटा अवश्य होता है, पर रहता है पूरा पौधा ही। पूरी तरह वृद्धि-प्राप्त न होने पर भी उसमें सभी अंग होते हैं। प्राकृतिक विकास की गति भी ऐसी ही है। अर्थात् वह अंश से समग्र या अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाती है। शिक्षा भी तो अन्तःकरण का विकास है। उसका विकास भी प्राकृतिक विकास के क्रम का अनुसरण करता है। अतः उसे पूर्ण से आरम्भ करना उचित है। यही सहज और स्वाभाविक विकास-क्रम है।

शिक्षा की इस वांछित विकास-धारा को विनोबाजी ने श्रुति की भाषा में 'पूर्णात् पूर्णम्' नाम दिया है। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते', अर्थात् पूर्ण से पूर्ण की सृष्टि होती है। प्राकृतिक विकास की गति पर दृष्टिपात करने पर श्रुति का यह वचन अर्थशून्य प्रतीत नहीं होगा, बल्कि ऐसा लगेगा कि समुचित विकास का यह सर्वथा उचित वर्णन है। उन्होंने ठीक ही

समझाया है कि आरम्भ में यह छोटा पूर्ण रहता है और अन्त में बड़ा पूर्ण बन जाता है। आरम्भ में यह छोटा वृत्त रहता है और अन्त में बड़ा वृत्त। ऐसा नहीं है कि आरम्भ में अर्द्ध-वृत्त हो और बाद में पूर्ण वृत्त बन जाय। स्वराज्य के क्षेत्र में भी यह छोटे पूर्ण और बड़े पूर्ण की बात आती है। ग्राम-स्वराज्य छोटा पूर्ण होता है और सम्पूर्ण देश का स्वराज्य बड़ा पूर्ण। इस प्रसंग में विनोबाजी ने एक सुन्दर उपमा दी है, जो शिक्षा-पद्धति के क्षेत्र में भी लागू होती है। वह उपमा है : पिता बड़े-बड़े लड्डू लाये। पिता और पुत्र खाने बैठे। माँ परोसने लगीं। माँ ने पिता की थाली में एक समूचा लड्डू दिया और पुत्र की थाली में एक लड्डू को तोड़कर उसका टुकड़ा दिया, क्योंकि वह पूरा लड्डू खा नहीं सकता। किन्तु पुत्र ऐसा क्यों मानने लगा? पिता की थाली में पूरा लड्डू और उसकी थाली में टुकड़ा? उसने पूरा लड्डू पाने के लिए जिद शुरू की। माँ थीं बुद्धिमती और प्रत्युत्पन्नमति। उन्होंने पुत्र की थाली से लड्डू का टुकड़ उठा लिया और दूसरे कमरे में जाकर उसे चुपके से गोल रूप दे दिया—वह टुकड़ा पूरा लड्डू बन गया। अब उन्होंने वह लड्डू पुत्र की थाली में रख दिया। पुत्र प्रसन्न हो गया। पिता की थाली में भी पूरा लड्डू और उसकी थाली में भी। यह अवश्य था कि एक लड्डू बड़ा और दूसरा छोटा। ग्राम-स्वराज्य छोटा पूरा लड्डू है और देश का स्वराज्य बड़ा पूरा लड्डू। इसी प्रकार शिक्षा के आरम्भ में छोटी पूर्ण शिक्षा होती है और शिक्षा की समाप्ति में बड़ी पूर्ण शिक्षा।

'अस्पष्ट' से 'स्पष्ट' का क्या अर्थ है, यह समझने के लिए विनोबाजी ने एक दृष्टान्त दिया है। वह दृष्टान्त इस प्रकार है : "सुबह पाँच बजे सामने का पेड़ मुझे धुँधला दीख रहा है। दीखता तो है पूरा, पर है अस्पष्ट। साढ़े पाँच बजे थोड़ा स्पष्ट दीखने लगता है। उस समय भी पहले-जैसा ही वह पूरा दीखता है, पर थोड़ा स्पष्ट है। सूर्योदय के बाद भी पूरा पेड़ दीखता है, पर अत्यन्त स्पष्ट। यह नहीं होता कि पाँच बजे चौथाई पेड़ दिखाई पड़े, साढ़े पाँच बजे आधा और सूर्योदय के बाद

पूरा। तीनों दफा वह दिखाई तो पड़ा पूरा ही, पर पहली बार में अस्पष्ट सम्पूर्ण, दूसरी बार में स्पष्ट सपूर्ण और तीसरी बार में अतिस्पष्ट सम्पूर्ण। अस्पष्ट, स्पष्ट और अतिस्पष्ट—यह विकास सूर्य-प्रकाश ने किया।"

'अपूर्ण से पूर्ण' और 'पूर्ण से पूर्ण'—इन दोनों में क्या अन्तर है, विनोबाजी ने एक उत्तम दृष्टान्त देकर इसे समझाया है। वे कहते हैं: "मान लीजिये, हम लोग समुद्र के किनारे खड़े हैं। हमें इस समय समुद्र में जहाज वगैरह कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। थोड़ी देर में एक जहाज दिखाई पड़ने लगता है, यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोड़ी देर बाद पूरा जहाज दीखने लगता है। अब वह सम्पूर्ण तो दीखता है, पर दूर होने के कारण अस्पष्ट है। इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आता है, वैसे-वैसे अधिक स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर सम्पूर्ण जहाज के दीखने तक को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेंगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।"

विनोबाजी ने भूगोल के शिक्षण का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट किया है कि छात्रों का ज्ञान किस प्रकार 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर और 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जाया जाता है। वे कहते हैं: "एक शिक्षक छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा है। उसने पहले बच्चों को पूरे हिन्दुस्तान का नकशा दिखलाया। फिर विभिन्न प्रान्त दिखाये। फिर सभी प्रान्तों की नदियाँ दिखलायीं। इसके बाद उसमें सभी प्रान्तों के ऐतिहासिक, धार्मिक और व्यावसायिक महत्त्व के स्थान दिखलाये। इसी प्रकार वह उन्हें सूक्ष्म-सूक्ष्म जानकारी कराता गया। इस प्रकार वह छात्रों को—ज्ञान को 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

"एक दूसरा शिक्षक भी छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा है। पर पहले उसने छात्रों को एक जिले की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करा दी, फिर दूसरे जिले की। इसी तरह करते-करते उन्हें एक प्रान्त की जानकारी करा दी। अब इन छात्रों को एक प्रान्त की सूक्ष्मतम जानकारी हासिल हो गयी, पर अन्य प्रान्तों के बारे में वे शून्य रहे। आगे चलकर

शिक्षक ने इसी क्रम से अन्य प्रान्तों की भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करायी। अन्त में छात्रों को पूरे हिन्दुस्तान की जानकारी हो गयी। हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ाने के ही बारे में कहें, तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षक छात्रों के ज्ञान को 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है। इस पद्धति का अनुसरण करने से व्यावहारिक क्षेत्र में किस प्रकार की असुविधा उत्पन्न हो सकती है, यह एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा। शिक्षक भारतवर्ष का भूगोल पढ़ा रहे हैं। वे अपूर्ण से पूर्ण की ओर अग्रसर होने की पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। अनेक प्रदेशों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्य वे छात्रों को पढ़ा रहे हैं, किन्तु असम के विषय में उन्होंने अब तक उन्हें नहीं पढ़ाया है। ऐसे समय असम में भीषण बाढ़ आयी। बाढ़-पीड़ित नर-नारियों की दुर्दशा को देखते हुए देशव्यापी सहायता-कार्य शुरू किया गया। किन्तु भूगोल के उन छात्रों को यही पता नहीं होगा कि असम कहाँ है। आज-कल अकसर छात्रों अथवा परीक्षाओं में उत्तीर्ण युवकों की इस प्रकार की अज्ञानता के दृष्टान्त समाचारपत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। यह अपूर्ण से पूर्ण की ओर बढ़नेवाली शिक्षा-धारा का परिणाम है, इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं।

शिल्प-कला के क्षेत्र में भी पूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति श्रेष्ठ मानी जाती है। विनोबाजी कहते हैं: "मॉडलिंग (मिट्टी की मूर्तियाँ आदि बनाने की कला) सम्बन्धी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पष्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपना अनुभव देते हुए लिखा है कि आरम्भ में मिट्टी का चाहे जैसा आकार बनायें, पर अन्त में अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाय, तो ठीक—इस भावना से कभी काम न करें; बल्कि इस ढंग से निर्माण-कार्य करें कि आदि से लेकर अन्त तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो यह समझ जाय कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का संचार होता है।"

अतएव पूर्ण से पूर्ण की ओर, अस्पष्ट पूर्ण की ओर से अतिस्पष्ट पूर्ण की ओर—शिक्षा-विकास का यही आदर्श क्रम होना चाहिए। ● ● ●

अध्याय २४ कौटुम्बिक पाठशाला

प्रचलित शिक्षा-पद्धति में प्रत्यक्ष जीवन के साथ शिक्षा का संबंध नहीं रहता। इसके दो कुपरिणाम होते हैं: (१) विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य हो जाता है तथा (२) जीवन दो परस्पर-सम्पर्कहीन भागों में विभक्त हो जाता है: (क) प्रत्यक्ष जीवन के सम्बन्ध में संपूर्णतः अलिप्त रहकर केवल शिक्षा ग्रहण करने का समय और (ख) शिक्षा से सम्बन्ध तोड़कर जीवन का दायित्व ग्रहण करने का समय।

व्यावहारिक जीवन के साथ शिक्षा का कोई सम्बन्ध न रहने के फल-स्वरूप विद्यालय केवल विचार-शिक्षा का क्षेत्र रह जाता है। दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन-यापन करने और जीवन-क्रिया सम्पन्न करने का एक-मात्र क्षेत्र रह जाता है, परिवार। यदि प्रत्यक्ष जीवन-क्रिया के माध्यम से विचार-शिक्षा दी जाय और जीवन में विचार के प्रयोग का सुयोग रहे, तो विचार सजीव और तेजस्वी हों, अन्यथा विचार निर्जीव हो जाते हैं। दूसरी ओर, परिवार में जीवन-यापन की जो क्रियाएँ चलती हैं, उनके साथ शिक्षा का कोई संपर्क न रहने से जीवन-क्रिया के पीछे विचारों का अभाव हो जाता है और जीवन क्रमशः विचार-शून्य हो जाता है। जीवन और विचारों के बीच सामंजस्य नहीं रह जाता। नयी तालीम में जिस पाठ्यक्रम का अनुसरण किया जाता है, उससे इसका कुछ प्रतिकार तो हो जाता है, किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ-साथ आवश्यक जीवन-क्रम की व्यवस्था रहनी चाहिए। इस संबंध में विनोबाजी कहते हैं: "इसका उपाय यह है कि एक ओर से घर में मदरसे (विद्यालय) का प्रवेश हो और दूसरी ओर से मदरसे में घर का प्रवेश हो। समाज-

शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब-निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।" 'शालीन कुटुम्ब' अर्थात् शिक्षा देनेवाला परिवार या शिक्षालय-सदृश परिवार कैसा होना चाहिए, इसका किंचित् आभास 'पूर्व-बुनियादी शिक्षा' शीर्षक अध्याय में दिया गया है। घर का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि उसके द्वारा सहज भाव से बच्चों का सर्वांगीण विकास हो सके। इसके लिए माता-पिता का आचरण ऐसा होना चाहिए कि उनका अनुसरण करने से बच्चों को सदाचरण का अभ्यास हो। माता-पिता और घर के अन्य बड़े लोगों को विचारशील होना चाहिए। वे जीवन-यापन की प्रत्येक क्रिया का 'क्या और क्यों' छोटे बच्चों को समझायेंगे। इस मामले में वे सदा आग्रहशील रहेंगे। वे बच्चों के मन में इन बातों को जानने और समझने का कौतूहल तथा जिज्ञासा पैदा करेंगे और उनके सैकड़ों प्रश्नों का उचित उत्तर देंगे। इस तरह चलने से घर भी विद्यालय में परिणत हो जायगा।

विद्यालय का निर्माण छात्रावास या गुरु-गृह के आधार पर होना चाहिए। अर्थात् आवासीय विद्यालय की ही आवश्यकता है। यही विनोबाजी की भाषा में 'कौटुम्बिक पाठशाला' है। इस प्रकार का आवासीय विद्यालय हो अथवा निरावासीय विद्यालय, दोनों के ही पाठ्यक्रम नयी तालीम की व्यवस्था के अनुरूप होंगे, यहाँ यह उल्लेख करना व्यर्थ है; किंतु इस प्रकार के आवासीय विद्यालय का जीवन-क्रम कैसा होना चाहिए, यह जानने की आवश्यकता है। विनोबाजी ने इस क्षेत्र में दिग्दर्शन किया है। उनके मत में उसका रूप ऐसा होना चाहिए :

(१) सबेरे सोकर उठने के बाद और रात को सोने के पहले ईश-प्रार्थना होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर-निष्ठा संसार की सार-वस्तु है।

(२) आहार सात्त्विक होना चाहिए—यानी गरम मसाला, मिर्च, अधिक तेल या अन्यान्य निषिद्ध पदार्थों का परित्याग किया जाय। कारण, आहार-शुद्धि के साथ चित्त-शुद्धि का निकट सम्बन्ध है। आहार कैसा होना चाहिए—इस बारे में विचार करते समय विनोबाजी के

विचारों का उल्लेख करना आवश्यक है। आहार-संबंधी विनोबाजी के ही विचार सही हैं। वे कहते हैं कि भोजन कैसा होना चाहिए, इसकी अपेक्षा भोजन के परिमाण पर बल दिया जाना चाहिए। जिस भोजन को सात्त्विक माना जाता है, यदि उसे आवश्यकता से अधिक ग्रहण किया जाय, तो वह असात्त्विक भोजन से भी अधिक अनिष्टकारी साबित होगा। भोजन के परिमाण पर संयम रखना ही आहार के संबंध में सबसे बड़ी बात है। अतएव छात्रों को अपरिमित आहार के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहने का अभ्यास होना चाहिए।

(३) भोजन स्वयं ही तैयार करना चाहिए। यह स्वावलम्बी जीवन का एक अंग है। बाहर के किसी रसोइया से खाना बनवाना ठीक नहीं है। जो लोग देश-सेवा का काम करते हैं और जो ब्रह्मचारी हैं, उनके लिए तो भोजन स्वयं पकाना आवश्यक है।

(४) पाखाना साफ करने का काम अपने हाथ में ले लेना चाहिए। कारण, समाज के लिए यह आवश्यक है कि जिस काम को आज नीच माना जाता है, उसे घृणा की दृष्टि से न देखा जाय और उसे स्वयं करने का अभ्यास किया जाय। अस्पृश्यता-निवारण में यह बात शामिल है। पाखाना साफ करने का काम केवल मेहतर का है, यह भावना दूर होनी ही चाहिए।

(५) तथाकथित अछूतों के साथ एक पंगत में बैठकर भोजन करने की व्यवस्था रहनी चाहिए। इस क्षेत्र में केवल आहार-शुद्धि का ध्यान रखना ही पर्याप्त है।

(६) स्नान आदि प्रातःकाल ही कर लेने का अभ्यास होना चाहिए। यदि प्रातःस्नान सह्य न हो, तो दूसरी बात है। स्नान ठंडे पानी से ही करना चाहिए।

(७) रात को सोने से पहले प्रातःकाल की ही भाँति हाथ, पैर, मुँह आदि धोना चाहिए। इससे नींद अच्छी आती है और ब्रह्मचर्य-पालन में सहायता मिलती है।

(८) गृह-शिल्प के कार्यों में नित्य तीन घंटा समय देना चाहिए। शारीरिक श्रम न करने से अध्ययन तेजस्वी नहीं होता।

(९) गृह-शिल्प के माध्यम से तीन घंटा शारीरिक श्रम और गृह-कार्य तथा स्वकर्म करने के उपरान्त व्यायाम की विशेष आवश्यकता नहीं भी हो सकती है। फिर भी आवश्यकता महसूस होने पर खुली हवा में खेलना, घूमना और विशेष व्यायाम करना अच्छा ही है।

(१०) गृह-शिल्प के लिए तीन घंटा समय देने के अलावा सूत कातने के लिए अलग से नित्य आधा घंटा समय देना चाहिए। सूत-कताई को ईश-प्रार्थना की भाँति आवश्यक नित्यकर्म माना जाना चाहिए। तकली पर सूत कातने का भी अभ्यास होना चाहिए। तकली पर सूत कातने का अभ्यास रहने से प्रवास के समय भी नित्यकर्म जारी रखने में सुविधा होती है।

(११) वस्त्र खादी का ही होना चाहिए। व्यवहार में आनेवाली दूसरी चीजें भी यथासम्भव स्वदेशी ही होनी चाहिए।

(१२) रोगी-सेवा के अलावा अन्य किसी भी कारण से रात में जागना नहीं चाहिए। सोने के लिए ढाई प्रहर या ७॥ घंटा समय आवश्यक है।

(१३) अधिक रात को भोजन नहीं करना चाहिए। सन्ध्या से पहले ही भोजन समाप्त कर लेना चाहिए। स्वास्थ्य, कार्य-व्यवस्था और अहिंसा—इन तीनों ही दृष्टियों से यह नियम आवश्यक है। ● ● ●

अध्याय २५ शिक्षक कैसे हों ?

आज अपने देश में शिक्षा का जो प्रहसन चल रहा है, उसे देखते हुए शिक्षा के उचित स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना जितना आवश्यक है, उतना ही इस सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है कि शिक्षक कैसे हों। लगता है, सन्त विनोबा भावे ने इस सम्बन्ध में सर्वाधिक गम्भीर और सूक्ष्म रूप से विचार किया है। शिक्षक की योग्यता के सम्बन्ध में उनके सुचिन्तित विचार इस प्रकार हैं : "शिक्षकों में अपने विद्यार्थियों के लिए अनन्य निष्ठा होनी चाहिए। विद्यार्थियों को महसूस होना चाहिए कि हमारी उन्नति और विकास के अतिरिक्त इस शिक्षक को जिन्दगी में और किसी चीज में दिलचस्पी नहीं है। अगर ऐसी वृत्ति और निष्ठा हो, तो अपने पास जो अच्छी-से-अच्छी चीज है, उसे वह विद्यार्थी के पास पहुँचायेगा और उसे आनन्द आयेगा—जैसे, माँ को बच्चे को स्तन-पान कराते समय आनन्द आता है। शिक्षक का यह मुख्य गुण है कि उसमें ज्ञान और वात्सल्य हो। अगर ऐसा हो, तो शिक्षक आज की हालत में भी कुछ कर सकते हैं। उनकी निष्ठा विभाजित नहीं होनी चाहिए। इसलिए मैं मानता हूँ कि वानप्रस्थी ही शिक्षक हो सकता है। हमारे यहाँ वानप्रस्थाश्रम एक स्वतंत्र आश्रम था। ब्रह्मचर्याश्रम विद्या का आश्रम था। गृहस्थाश्रम नागरिक का आश्रम था। वानप्रस्थाश्रम शिक्षक का आश्रम था। संन्यासाश्रम आत्म-ज्ञान और विश्वोद्धार का आश्रम था। अतः वानप्रस्थी ही शिक्षक की हैसियत रख सकते थे।" शिक्षक वानप्रस्थी क्यों होने चाहिए, यह समझ लेना आवश्यक है। शिक्षा-दान के काम में अनन्य निष्ठा के लिए चारों आश्रमों में से वानप्रस्थाश्रम सर्वाधिक उपयोगी है। कारण, ब्रह्मचर्याश्रम में तो स्वयं ही विद्यार्जन करना होता

है। गृहस्थाश्रम में गृहस्थ तथा नागरिक के दायित्वों का पालन करना पड़ता है। इसलिए अनन्य निष्ठा सम्भव नहीं है। संन्यासाश्रम में आत्म-ज्ञान और सबके मोक्ष का प्रसंग उपस्थित होता है। यह आश्रम समग्र विश्व के लिए स्वयं को अर्पित करने का आह्वान करता है। अतएव संन्यासाश्रमी केवल विद्यार्थियों का हितचिन्तन नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल वानप्रस्थाश्रम में ही विद्यार्थियों के लिए अनन्य निष्ठा आ सकती है। विनोबाजी कहते हैं कि इस सम्बन्ध में कई वर्षों तक विचार करने के बाद वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। यह तो हुआ एक पक्ष। एक दूसरा पक्ष भी है, जिसके कारण शिक्षकों का वानप्रस्थी होना आवश्यक हो जाता है। वह पक्ष यह है कि शिक्षकों को अनुभवी होना चाहिए। जो ज्ञान जीवन की प्रत्यक्ष अभिज्ञता से प्राप्त या पुष्ट नहीं है, वह अस्पष्ट और धूमिल है। वह दूसरों को अर्पित किये जाने के योग्य नहीं है। विशेष रूप से नयी तालीम के लिए ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है, जिन्होंने जीवन की अभिज्ञता द्वारा ज्ञान प्राप्त किया हो, अथवा जिनका ज्ञान जीवन की अभिज्ञता द्वारा समृद्ध हुआ हो। कारण, नयी तालीम का चरम लक्ष्य है, नये समाज की रचना करना—सामाजिक क्रान्ति पैदा करना। पर एक बार नवीन समाज की रचना कर देने से ही काम हो जायगा, ऐसा नहीं है। कारण, विनोबाजी कहते हैं : "जो नया समाज हम बना चुके, वह तो पुराना हो गया। इसलिए पुनः नया समाज बनाने का काम शेष रह ही जाता है। नयी तालीम का मतलब है, नित्य नये समाज की रचना करनेवाली तालीम। ऐसी तालीम ऐसे अनुभवियों के ही हाथों में होनी चाहिए, जो अनुभव-सम्प्रदान-समर्थ हैं।" राजाजी (श्री चक्रवर्ती राज-गोपालाचारी) ने भी ऐसा ही कहा है। एक बार जब नयी तालीम के सम्बन्ध में विचार हो रहा था, तब राजाजी ने कहा था : "नयी तालीम ऐसी विशेष तालीम है कि उसके लिए अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी।" उसी समय उनसे पूछा गया था कि मद्रास में नयी तालीम क्यों नहीं आरम्भ की जायगी। उत्तर में राजाजी ने कहा था कि राज-

काज से अवकाश लेने के बाद वे नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे। राज-काज से अवकाश लेने पर वे नयी तालीम के शिक्षक तो नहीं बने, पर शिक्षक की योग्यता के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है, वह पूरी तरह सही है। इसलिए विनोबाजी ने कई बार कहा है कि राजनीति पढ़ाने के लिए पंडित नेहरू को आना चाहिए। व्यवसाय-वाणिज्य पढ़ाने के लिए बिरलाजी को आना चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य विषयों की प्रत्यक्ष जानकारी रखनेवालों को ही विभिन्न विषयों का शिक्षक बनना चाहिए। विनोबाजी चाहते हैं कि आयु अधिक हो जाने पर वे लोग अवकाश ले करके वानप्रस्थाश्रम में आयें और शिक्षा के काम में लगें। वे कहते हैं : "कोई नेपोलियन रहा, तो अपनी वीर-गाथाएँ लोगों को सुनायेगा—अपने अनुभव उनके सामने रखेगा। जिस पुरुष ने युद्ध का अनुभव प्राप्त नहीं किया, वह बच्चों को क्या पराक्रमी बनायेगा? कोई एकाध महाजन, जो सत्यनिष्ठा के साथ करोड़ों का व्यापार कर चुका हो, यदि शिक्षक बनेगा, तो बच्चों को व्यापार का अनुभवपूर्ण ज्ञान देगा। जिसने व्यापार ही नहीं किया, सिर्फ व्यापारी कॉलेज से पास होकर आया, वह बच्चों को व्यापार की क्या तालीम देगा? भिन्न-भिन्न पराक्रम के क्षेत्र में जो लोग काम करके अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, वही बच्चों को तालीम देने के अधिकारी होते हैं।" किन्तु यह तो हो नहीं रहा है, बल्कि इससे उलटा हो रहा है। जिनकी राजनीति से कोई अभिज्ञता नहीं है, वैसे २०-२२ वर्ष के युवक राजनीति पढ़ा रहे हैं और जिन्होंने कभी वाणिज्य-व्यवसाय नहीं किया—जो अभी-अभी कॉलेज से निकले हैं—वे वाणिज्य-कॉलेजों में अध्यापनकार्य कर रहे हैं। ऐसे शिक्षकों से कैसा ज्ञान प्राप्त हो सकता है? फिर शिक्षकों को अपनी घर-गृहस्थी भी देखनी पड़ती है। इसलिए उनमें अनन्य निष्ठा आ सकना सम्भव नहीं है। विनोबाजी कहते हैं : "वे पुस्तक का ही ज्ञान दे सकते हैं, अनुभव का ज्ञान नहीं दे सकते। इन दो दृष्टियों से देखने पर लगता है कि शिक्षक का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही है।"

● ● ●

अध्याय २६ शिक्षा का लक्ष्य क्या हो ?

मनुष्य और पशु के बीच के मौलिक अन्तर के प्रति सजग रहकर और उस ओर ध्यान रखकर विकास की व्यवस्था करने से ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास का वास्तविक दिग्दर्शन करना सम्भव हो सकता है। वास्तविक जीवन के क्षेत्र में मनुष्य पशु से कितना आगे बढ़ सका है, यही तथ्य मनुष्य के विकास की वास्तविक कसौटी होगा। मनुष्य के आत्मा है। पशु के भी आत्मा है। सब किसी में आत्मा विद्यमान है। अन्तर यही है कि पशु की आत्मा का विकास नहीं होता, जब कि मनुष्य की आत्मा अनन्त विकासशील है। मनुष्य की आत्मा का जिस हद तक विकास होता है, उस हद तक वह आत्मीयता अनुभव करता है और तदनुसार आचरण करता है। किसी मनुष्य की आत्मा का यदि गाँव तक विकास हुआ हो, तो वह अपने गाँव के सभी मनुष्यों को अपना मानेगा और उनके साथ अपने परिवार के सदस्यों की भाँति व्यवहार करेगा। किन्तु आत्मा का विकास न होने के कारण पशु केवल अपने शरीर को ही अपना मानता है। वह अन्य किसीको अपना नहीं मान सकता। किस मनुष्य का कितना विकास हुआ है, यह देखने के लिए पशु के साथ उसकी भावना और आचरण की तुलना की जानी चाहिए। तभी भलीभाँति समझा जा सकता है कि किस मनुष्य का किस हद तक विकास हुआ है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार देखना होगा कि मनुष्य पशु को छोड़कर कितना अग्रसर होने की शिक्षा पा रहा है। पशुओं के साथ मनुष्यों के जो तीन पार्थक्य हैं, उन पर दृष्टि रखकर और उनके साथ तुलना करके विनोबाजी ने मनुष्य की शिक्षा का उचित आदर्श प्रस्तुत

किया है। उनके विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्श शिक्षा कैसी होनी चाहिए।

भगवान् ने मनुष्य को तीन दान दिये हैं : (१) वाणी, (२) कर्मेन्द्रियाँ और (३) संवेदनशील हृदय। मनुष्य की इन तीन शक्तियों और गुणों को कितना विकसित करके अग्रगति प्रदान की गयी है, इसकी पशु के साथ तुलना करने से ही यह प्रकट होगा कि शिक्षा की ठीक व्यवस्था हुई है या नहीं।

मनुष्य को वाणी का वरदान प्राप्त है। पशु, पक्षी आदि को भी वाणी प्राप्त हुई है। किन्तु वह विकसित या विकासशील नहीं है। मनुष्य वाणी द्वारा अपनी भावना और विचारों को व्यक्त कर सकता है। किन्तु पशु-पक्षी ऐसा नहीं कर सकते। विनोबाजी कहते हैं : "उसके (वाणी के) सदुपयोग का शिक्षण स्कूल में होना चाहिए।" वाणी की सहायता से मनुष्य नाना प्रकार की भाषाएँ—मातृभाषा, हिन्दी, अंग्रेजी आदि—सीखता है। विनोबाजी का मत है कि विभिन्न भाषाओं की शिक्षा से वाणी की शिक्षा होती हो, ऐसा नहीं है। भाषा की शिक्षा एक चीज है, वाणी की शिक्षा दूसरी चीज। विनोबाजी कहते हैं : "वाणी का शिक्षण मिला, ऐसा हम तभी कह सकते हैं, जब वाणी पर काबू मिले। वाणी से सबके साथ सम्बन्ध जुड़ा है। वाणी से व्यर्थ शब्द नहीं निकलते। वाणी से सत्य वचन ही निकलते हैं। हरि-नाम वाणी से लेना चाहिए। हमारी वाणी से दूसरों के हृदय में ठंडक पहुँचे, ऐसा होना चाहिए। वाणी से मित मौन रखना चाहिए—व्यर्थ शब्द न बोला जाय। यह सब शिक्षण मिले, तब कह सकते हैं कि वाणी का शिक्षण मिला।"

भगवान् ने मनुष्य को हाथ-पैर दिये हैं—बन्दर आदि पशुओं को भी दिये हैं। किन्तु बन्दर अपने हाथ-पैर से सेवा नहीं कर सकता—केवल भोजन के काम में उनका उपयोग कर सकता है। बन्दर न तो बीज बो सकता है—न फसल उपजा सकता है। किन्तु मनुष्य अपने दो हाथों से सृष्टि की सेवा कर सकता है। यही मनुष्य की विशेषता है। यदि शिक्षा-

व्यवस्था में इस प्रकार सेवा-कर्म सीखने की व्यवस्था न हो, तो वह त्रुटि-पूर्ण है। आज की शिक्षा-व्यवस्था में सेवा-कर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। विनोबाजी कहते हैं : "इसलिए विद्यार्थी कारगर बनने के लिए बहुत कुछ करते हैं, परन्तु आखिर में बेकार ही साबित होते हैं।"

भगवान् का तीसरा दान है, संवेदनशील हृदय। विनोबाजी कहते हैं : "किसीका दुःख देखते हैं, तो हृदय में करुणा होती है। प्राणियों में भी सहानुभूति होती है। घोड़ों और कुत्तों में तो हम देखते हैं, पर वे केवल अपने पोषण करनेवाले को ही प्यार करते हैं। यह भी पशुओं का एक बड़ा गुण है। परन्तु एक प्राणी अन्य प्राणियों के लिए दया-क्षमा नहीं दिखाता। शेर जब हिरण को खाता है, तब हिरण दुःखी होता है और शेर सुखी। अर्थात् हिरण के दुःख में शेर का सुख है। वह उसकी ओर सहानुभूति से नहीं देखता। पर मनुष्य के साथ ऐसी बात नहीं है। मनुष्य को करुणामय हृदय मिला है। यह एक बड़ी देन है। उसके साथ भगवान् ने उसे सार-असार पहचाननेवाली बुद्धि भी दी है। यानी मनुष्य को उसने विवेकमय करुणायुक्त अन्तःकरण दिया है। आज की तालीम में ऐसे हृदय-विकास की कोई योजना नहीं दीखती। तालीम में ऐसा कोई भी अवसर नहीं आता कि जिससे विद्यार्थियों में करुणा का विकास हो। धर्माधर्म-निर्णय विवेक-बुद्धि से होता है, पर ऐसा विवेक बढ़ने की भी तालीम नहीं मिलती। लड़के बढ़ते हैं, उम्र में बड़े होते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर उनमें विवेक आ जाता है। पर उनकी बुद्धि की सुव्यवस्थित योजना आज के विद्याभ्यास में नहीं है। ये तीन प्रकार के शिक्षण जिस तालीम में हैं, वह आदर्श तालीम है।" ● ● ●

अध्याय २७ प्रचलित शिक्षा के तीन दोष

अंग्रेजों के शासन-काल में हमारे देश की शिक्षा में जो दोष आये हैं, वे इतने भयानक हैं कि विनोबाजी उन्हें आयुर्वेद के त्रिदोष की भाँति प्राणघातक मानते हैं। इसीलिए आयुर्वेद का अनुकरण कर उन्होंने वर्तमान शिक्षा के दोषों को 'त्रिदोष' नाम दिया है। वे कहते हैं : "तालीम के ये त्रिदोष वैसे ही भयानक हैं, जैसे आयुर्वेद के अनुसार कफ, वात और पित्त का प्रकोप रोगी को समाप्त कर देता है। ऐसी तालीम तो न देना ही बेहतर है। खराब भोजन करने से तो भोजन न करना ही अच्छा होता है। कुछ-न-कुछ खाना चाहिए, इसलिए जहर तो नहीं खाया जा सकता।" विनोबाजी ने शिक्षा के त्रिदोष के सम्बन्ध में कहा है :

"अंग्रेजी राज्य के कारण इस देश में एक बड़ी दुर्घटना यह हुई कि कुछ लोगों को अंग्रेजी तालीम, जिसे ऊँची तालीम भी कहा जाता है, मिली और दूसरों को नहीं। इससे विद्वानों और अविद्वानों के दो वर्ग हो गये। जिन्हें विद्या मिली, वह भी स्वदेशी नहीं थी, विदेशी थी। इससे भेद और संघर्ष बढ़ते ही गये।

"दूसरी दुर्घटना यह हुई कि जिन्हें तालीम दी गयी, उनका जीवन-मान ऊँचा बनाया गया, जो इस देश की सभ्यता के विरुद्ध था। यहाँ विद्या और ज्ञान के साथ त्याग जोड़ा गया और माना गया कि जिन्हें विद्या प्राप्त नहीं है, वे अगर आनन्द-भोग करते हैं, तो उसमें हर्ज नहीं, क्योंकि वे अज्ञान में हैं। पर ज्ञानी ऐसा भोग करें, तो यह ठीक नहीं है। पर आज का विद्वान् तो विद्यानन्द नहीं, दूसरे ही आनन्द के भोग में तृप्त होता है। विद्या के साथ ऊँचा जीवन-मान—यानी भोग और पैसा—जोड़ा गया। यह विद्या का अपमान है। इसलिए विद्या की नहीं, पैसे की वासना बढ़ी।

"तीसरी दुर्घटना यह हुई कि विद्या के साथ कर्मयोग नहीं जोड़ा गया। इससे बिना काम किये विद्वान् आनन्द का भोग चाहता है। और शरीर-श्रम को नीचा मानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन करने की तो अक्ल है नहीं, सिर्फ भोग करने की अक्ल है।"

● ● ●

अध्याय २८ आजकल के शिक्षक बुद्धिजीवी नहीं

शिक्षण-कार्य में रुचि रखनेवाले एक शिक्षित युवक के साथ एक अन्य व्यक्ति के काल्पनिक वार्तालाप का वर्णन करके विनोबाजी ने आजकल के शिक्षकों की मनोवृत्ति को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वे सज्जन केवल पढ़ाने का काम जानते हैं। पढ़ाने के अलावा संसार की अन्य सब बातों से वे अनभिज्ञ हैं। जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य कोई काम वे नहीं जानते। फिर शिक्षा देने की अभिरुचि भी उनमें नहीं है, न ही वे शिक्षा-दान कर सकते हैं। वे कोई काम नहीं जानते, इसके लिए वे बिलकुल ही लज्जा अनुभव नहीं करते। उलटे वे उसमें कुछ गर्व अनुभव करते हैं। अतः विनोबाजी कहते हैं कि आजकल के शिक्षक का मतलब है : "(१) किसी भी तरह की जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य, (२) काम की कोई चीज सीखने में स्वभावतः असमर्थ और क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ, (३) केवल शिक्षण का घमंड रखनेवाला, (४) पुस्तकों में गड़ा हुआ और (५) आलसी जीव।"

जो लोग केवल विद्यालय में पढ़ाकर जीवन-यापन करते हैं, उन्हें साधारण तौर पर 'बुद्धिजीवी' कहा जाता है। किंतु विनोबाजी कहते हैं : "वे लोग 'बुद्धिजीवी' कहे जाने के योग्य नहीं हैं। वे बुद्धिजीवी नहीं हैं। गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर आदि ही बुद्धिजीवी थे। अर्थात् जिन लोगों ने बौद्धिक जीवन में ज्योति जाग्रत की, वही 'बुद्धिजीवी' कहलाने के योग्य हैं।" उनका मत है कि ये लोग मृतजीवी हैं। वे कहते हैं : "जो इन्द्रियों का गुलाम है, जो देहासक्ति से बोझिल है, वह बुद्धिजीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गयी है, वह व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी

बुद्धि का जीवन ही मरण है और उस पर जीनेवाला है, 'मृतजीवी'। केवल शिक्षण पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ में 'मृतजीवी' हैं। इन 'केवल शिक्षण पर जीनेवालों' को मनु ने 'मृतकाध्यापक' या 'वेतनभोगी शिक्षक' का नाम देकर श्राद्ध-कर्म में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत पूर्वजों की स्मृति को जिन्दा करना रहता है। जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग ?"

● ● ●

अध्याय २९ नयी तालीम में पूर्ण गुण-विकास की दृष्टि

नयी तालीम में किसी उपयोगी काम के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, इसलिए उसे कर्म-प्रधान और उसकी तुलना में पुरानी शिक्षा को ज्ञान-प्रधान कहा जाता है। इसके अतिरिक्त नयी तालीम को हस्तशिल्प-प्रधान और उसकी तुलना में पुरानी शिक्षा को पुस्तक-प्रधान कहा जाता है। विनोबाजी कहते हैं कि नयी तालीम का यह विश्लेषण अपूर्ण है। नयी तालीम का उद्देश्य मनुष्य का पूर्ण विकास, अर्थात् मनुष्य का पूर्ण गुण-विकास है। नयी तालीम में केवल कर्म-कुशलता ही प्राप्त नहीं होती, ज्ञान-लाभ भी होता है। उससे कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति, दोनों ही प्राप्त होती है। किन्तु इतना कहने से भी नयी तालीम की परिपूर्ण व्याख्या नहीं होती, क्योंकि मनुष्य के बहुत-से गुणों में कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति दो गुण-मात्र हैं। वास्तविक शिक्षा या नयी तालीम का लक्ष्य सभी गुणों का विकास करना है। नयी तालीम में इन दोनों गुणों के अलावा अन्यान्य अन्तर्निहित गुणों के विकास की आवश्यकता है, इस बात को विनोबाजी ने कई उदाहरण देकर समझाया है। वे कहते हैं: "कहा जाता है कि हम लोग बच्चों को सूत कातना सिखाते हैं और उसके द्वारा ज्ञान देते हैं। पर हम लोगों का काम इतना ही नहीं है। हमें तो इसके द्वारा यह देखना होता है कि इससे उनका आंतरिक विकास हुआ या नहीं? उनका आलस्य गया या नहीं? उनमें उद्योग-शीलता आयी या नहीं? वे सब प्रकार से निर्भय बने या नहीं? वे सत्यवादी, संयमी और सेवा-भावी बने या नहीं? ये सब बातें हमें देखनी होती हैं।" विनोबाजी आगे कहते हैं कि शिक्षा के माध्यम से गुण-विकास करना ही शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है, इस बारे में आरम्भ से सजग रहना

होगा। अन्यथा पुरानी शिक्षा-पद्धति के दोष नयी तालीम में आ जायेंगे। जैसे, इतनी गुंडी सूत कातना होगा, यह कहकर उतनी गुंडी सूत किसी तरह कतवा लेने से ही उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, ऐसा नहीं है। यह देखना होगा कि उसके द्वारा छात्रों में आत्मशक्ति जाग रही है अथवा नहीं। शिक्षा के द्वारा 'विनय' का गुण विद्यार्थियों में विकसित होना चाहिए। विनोबाजी कहते हैं : "संस्कृत में शिक्षा को 'विनय' कहते हैं क्योंकि विनय गुणों का प्रवेश-द्वार है। उसके द्वारा अन्य गुणों का विकास होता है।" जो विनीत और नम्र होगा, वह जहाँ कहीं जो गुण देखेगा, ज्ञान-शिक्षा का सुयोग पायेगा, कहीं भी जो अच्छाई देखेगा, उसे ग्रहण करेगा। विनोबाजी कहते हैं : "यह गुणग्राहकता विनय का मुख्य लक्षण है।"

सबसे बड़ी बात, विद्यार्थियों में आत्म-ज्ञान जाग्रत होना चाहिए। विनोबाजी कहते हैं कि अपने सत्य-स्वरूप का ज्ञान होना वास्तविक शिक्षा है। अर्थात् शरीर से आत्मा भिन्न है—यह ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। मैं शरीर नहीं हूँ, मै शरीर से पृथक् हूँ, मैं सत्य-स्वरूप हूँ—यह ज्ञान होना चाहिए। मेरा शरीर अशुद्ध हो सकता है, किन्तु इससे मैं अशुद्ध नहीं हो जाता—इस ज्ञान का अभ्यास बच्चों में प्रविष्ट करा सकने से ही उनमें आत्म-ज्ञान की जाग्रति का क्षेत्र तैयार होगा। ऐसा किस तरह किया जा सकता है, यह विनोबाजी ने समझाया है। वे कहते हैं : "अगर कोई बच्चा अस्वच्छ दिखाई देगा, तो मैं उससे कहूँगा—'तू तो स्वच्छ है, पर तेरे शरीर पर कुछ गन्दगी लग गयी है। उसे तू साफ कर डाल'।"

इस प्रकार मनुष्य में अन्तर्निहित समस्त गुणों का विकास करना ही नयी तालीम का लक्ष्य है। ● ● ●

अध्याय ३० ज्ञान-प्राप्ति के साधन और लक्षण

विद्यार्थी स्वयं ही ज्ञानार्जन करेंगे। उन पर कोई ज्ञान लादेगा नहीं। शिक्षक का प्रधान कार्य होगा, विद्यार्थियों में ज्ञान-पिपासा उत्पन्न करना। ज्ञान-पिपासा उत्पन्न होने पर विद्यार्थी स्वयं ही ज्ञान-प्राप्ति के लिए सचेष्ट होंगे। ज्ञान-दान का यही वास्तविक साधन है। इस प्रकार ज्ञानार्जन करने से ही वास्तविक ज्ञान-लाभ हो सकेगा। ऐसे ज्ञानार्जन से ही विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास सम्भव हो सकेगा। ज्ञान-लाभ के लक्षण विद्यार्थियों के चेहरे के भावों से प्रकट होंगे। गुरु-निरपेक्ष रूप से शिष्य अपना कर्तव्य-सम्पादन करते-करते ज्ञान-लाभ करें, इसके दृष्टान्त उपनिषद् में उपलब्ध हैं। विद्यार्थी विद्या-लाभ के लिए गुरु-गृह गया। गुरु ने उसे गाय चराने का काम दिया। शिष्य गाय चराते-चराते ज्ञान-लाभ करने लगा। कभी गाड़ी से और कभी बैल से उसे ज्ञान प्राप्त होने लगा। गायें जंगल में चरानी पड़ती थीं। अतएव वहाँ कभी पक्षियों से और कभी वृक्षों से ज्ञान प्राप्त होने लगा। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के फल-स्वरूप उसके चेहरे पर तेज प्रकाशित होने लगा। गुरु ने उसके चेहरे को देखकर समझ लिया कि शिष्य को ज्ञान-लाभ हुआ है। उपनिषद् के इस वर्णन का अर्थ यह है कि कार्य करते समय कार्य-सम्पादन करने की आवश्यकता हो ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य होती है और तब स्वयं ही ज्ञानार्जन किया जा सकता है। काम करते समय सृष्टि के साथ भी घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित होता है और उससे विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। नयी तालीम में भी इसी प्रकार शिक्षा-लाभ होता है। विद्यार्थी स्वयं खेती-बारी करके अन्न और सब्जियाँ उपजाते हैं। वे सूत कातने से लेकर कपड़ा बुनने तक का काम करके अपना कपड़ा तैयार करते हैं। वे अपने

हाथ से गेहूँ, ज्वार आदि पीसकर आटा तैयार करते हैं। इसी प्रकार वे धान कूटकर चावल तैयार करते हैं। वे स्वयं भोजन पकाते हैं और घर के सब काम करते हैं। वे रोगियों की सेवा करते हैं। कहीं-कहीं स्वयं घानी चलाकर वे तेल भी तैयार कर लेते हैं। फिर कुछ स्थानों पर वे अपने हाथ से मिट्टी के बर्तन भी तैयार कर लेते हैं। वे आय-व्यय का हिसाब स्वयं लिखते हैं। ये सब काम करते हुए वे विविध ज्ञान-लाभ करते हैं। ऊपर से देखने से यह जान पड़ेगा कि वे केवल काम कर रहे हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वे अन्दर से ज्ञान-लाभ कर रहे हैं। हो सकता है कि नयी तालीम के सभी केन्द्रों में इतना सब न हुआ हो और न हो रहा हो। किन्तु सेवाग्राम आदि दो-चार केन्द्रों में उदाहरणस्वरूप ऐसा किया गया है या किया जा रहा है—इसमें सन्देह नहीं। जो हो, इस शिक्षा में कर्म और ज्ञान एकरूप हो जाते हैं। कर्म के माध्यम से ज्ञान-लाभ होता है और ज्ञान की सहायता से कर्म सम्पन्न होता है। ज्ञान और कर्म के मिलन के फल-स्वरूप चित्त का विकास होता है। इसीलिए विनोबाजी ने कहा है : "हमें विद्यार्थियों में ज्ञान नहीं भरना है—हमें उनमें ज्ञान की पिपासा उत्पन्न करनी है, ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पैदा करनी है।" बुद्धि तेजस्वी होने से ही ज्ञान-लाभ करने की शक्ति पैदा होती है। पर बुद्धि को तेजस्वी करने का साधन क्या है? विनोबाजी कहते हैं : "खुली हवा में कुछ-न-कुछ शरीर-श्रम करते रहने को ही मैं बुद्धि ताजी रहने का मुख्य कारण मानता हूँ। इससे तपी-तपायी भूमि जैसे बारिश के लिए तैयार रहती है, वैसे ही बुद्धि भी ज्ञान-ग्रहण के लिए सदा तैयार रहती है।" इस प्रकार ज्ञानार्जन होने से वह मनुष्य के व्यक्तित्व में आमसात् हो जाता है। भूखे मनुष्य के भोजन करने पर वह ठीक तरह से पचकर रस-रक्त में परिणत हो जाता है और उसके शरीर में मिल जाता है। उसका फल उसके सम्पूर्ण शरीर और चेहरे पर प्रकाशित होता है। उसने किस प्रकार का और कितनी मात्रा में भोजन किया है, विचारणीय प्रश्न यह नहीं है। देखने की बात यह है कि उस भोजन का परिणाम क्या

हुआ। इसी प्रकार ज्ञान-लाभ के क्षेत्र में कौन ज्ञान कितना सीखा—यह विचारणीय बात नहीं है। देखने की बात यह है कि जो ज्ञान अन्दर प्रविष्ट हुआ है, उसके द्वारा विद्यार्थी के व्यक्तित्व में कोई उन्नति हुई है या नहीं। यह बात विद्यार्थी के शरीर और चेहरे के भावों में प्रकट होगी। इसलिए विनोबाजी परीक्षा-पद्धति को बिलकुल ही पसन्द नहीं करते। परीक्षा के लिए जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह बहुत ही क्षीण प्रकार का होता है। भोजन ठीक तरह से न पचने से जो स्थिति होती है, वही स्थिति इस क्षेत्र में भी होती है। तभी तो विनोबाजी कहते हैं : "अपने अनुभव से मैं परीक्षा को कोई मूल्य नहीं देता। पेट साफ करने के लिए जैसे जुलाब लेना पड़ता है, परीक्षाएँ भी ठीक ऐसी ही होती हैं। परीक्षा दे दी कि सारा ज्ञान साफ! इसलिए शिक्षण-शास्त्र द्वारा खड़े किये गये इस ढोंग में पड़ने की कोई जरूरत नहीं।"

वास्तविक ज्ञान-लाभ का एक प्रधान साधन यह है कि उपयुक्त ज्ञान ग्रहण किया जाय और जो ज्ञान आवश्यक नहीं है, उससे विरत रहा जाय। यदि कुछ अनुपयुक्त ज्ञान प्राप्त भी कर लें, तो उसे भूल जाना होगा। अन्यथा संसार में असीम ज्ञान का भंडार पड़ा है। यदि एक व्यक्ति सारे ज्ञान को ग्रहण करना चाहे, तो वह पागल हो जायगा। इसलिए अनेक विषय जानने की आवश्यकता नहीं है। यों वास्तविक ज्ञान-लाभ के लिए ज्ञान और अज्ञान, दोनों की ही जरूरत है। यही कारण है कि ईशोपनिषद् में अज्ञान और अविद्या की महिमा गायी गयी है। केवल ज्ञानार्जन में लीन रहने से फल अन्धकारमय प्रकट होता है। दूसरी ओर, बिलकुल ही ज्ञान-लाभ न करना, अर्थात् केवल अज्ञान और अविद्या भी अन्धकारमय है। वास्तविक ज्ञान-लाभ के लिए ज्ञान और अज्ञान, दोनों को ग्रहण करना आवश्यक है। विद्या और अविद्या, अर्थात् ज्ञान और अज्ञान, दोनों के संयोग से अमृतत्व प्राप्त होता है। ज्ञान-प्राप्ति के सम्बन्ध में विनोबाजी ने एक और बात कही है : "विद्यार्थी रटी हुई बातें ज्यों-की-त्यों सुना दे, तो मुझे यह पसन्द नहीं पड़ता। उसे

मैं ग्रामोफोन कहता हूँ। वह तो यंत्र हो गया। मैं उसे चेतन कहनेवाला नहीं। वह यदि चैतन्य होता, तो कुछ छोड़ देता, कुछ जोड़ देता।"

"विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

विद्या और अविद्या, इन दोनों के संयोग से जो लोग आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अविद्या द्वारा मृत्यु से मुक्ति पाकर विद्या द्वारा अमृत-लाभ करते हैं। ● ● ●

अध्याय ३१ नयी तालीम पद्धति नहीं, विचार है !

कुछ स्थानों में, विशेषकर सेवाग्राम में, नयी तालीम का जो परीक्षणात्मक काम हुआ है, उससे प्राप्त फल नयी तालीम का आदर्श-स्वरूप बन गया है। भारत के सभी प्रदेशों से आकर शिक्षार्थियों नें सेवाग्राम में नयी तालीम की शिक्षा प्राप्त की है और करते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हू-ब-हू इसी आधार पर सर्वत्र काम चलाना होगा। यदि ऐसा हुआ, तो वह एक तन्त्र के रूप में परिणत हो जायगी। और यदि वह तन्त्र बन गयी, तो एक खतरनाक चीज साबित होगी। वह प्राणहीन बन जायगी। अतः सेवाग्राम में तालीमी संघ द्वारा जो अनुभवसिद्ध फल प्राप्त किया गया है, उसे दिशा-सूचक के रूप में ग्रहण करना होगा। उसके फलाफल के सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए। बुद्धि स्वतन्त्र रखनी चाहिए और प्रत्येक स्थान में स्वतंत्र परीक्षण होना चाहिए। तभी वह जीवनी-शक्ति संपन्न होगी और उसका उत्तरोत्तर विकास सम्भव हो सकेगा।

उसे एक तंत्र या विशिष्ट पद्धति नहीं बन जाना चाहिए। क्योंकि नयी तालीम एक विचार है। विनोबाजी कहते हैं : "प्राचीन काल में हिन्दुस्तान को एक अत्यन्त व्यापक विचार के रूप में ब्रह्म-विचार प्राप्त हुआ था। उस एक ब्रह्म-विचार में से अद्वैत उपासना भी निकली, द्वैत उपासना भी निकली। विशिष्टाद्वैत उपासना भी निकली और शुद्धाद्वैत उपासना भी निकली। इस प्रकार की कई उपासनाएँ एक ब्रह्म-विचार में से उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार यह एक व्यापक शिक्षण-विचार है।" विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने पर यह व्यापक शिक्षण-विचार विभिन्न रूप ग्रहण कर सकता है और करेगा। किन्तु उनका मूल एक ही रहेगा। ● ● ●

अध्याय ३२ नयी तालीम के पीछे त्रिविध निष्ठा

विनोबाजी के मत से नयी तालीम में जिस त्रिविध निष्ठा की अनिवार्य आवश्यकता है, वह इस प्रकार है : (१) अहिंसा, (२) विचार की व्यापकता और सेवा-क्षेत्र की विशिष्टता तथा (३) उत्पादक श्रम पर आधारित जीवन-यात्रा।

(१) अहिंसा—केवल विचार या भावना से अहिंसा को पसन्द करने अथवा अहिंसा के प्रति प्रेम रहने से काम नहीं चलेगा। अहिंसा को व्यवहार में प्रकट होना चाहिए और जीवन के अन्तिम व्यवहार तक में उसका अस्तित्व रहना चाहिए। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अहिंसा को पसन्द नहीं करता या अहिंसा के प्रति जिसके मन में प्रेम-भाव नहीं है। किन्तु अन्तिम श्रद्धा कहाँ है, यह देखने की आवश्यकता है। तभी यह प्रकट होगा कि अहिंसा के प्रति वास्तव में प्रेम है अथवा नहीं। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि प्रथम व्यवहार में अहिंसा का प्रयोग किया जाता है, पर उसके असफल होने पर बाद में अहिंसा को तिलांजलि दे दी जाती है। अर्थात्, अन्तिम श्रद्धा आज भी हिंसा पर है—ऐसा प्रतीत होता है। घर, राष्ट्र, समाज और अन्तराष्ट्रीय व्यवहार, जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसा ही दिखाई पड़ रहा है। इसीलिए विनोबाजी कहते हैं : "यह विचार आज दुनिया में जीवन की सभी शाखाओं में है। घर में यह ताड़न है, तो सरकार में दण्ड। समाज में बहिष्कार है, तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सेना। घर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मसले तक आखिरी दारोमदार हिंसा पर है।" माता-पिता बच्चों को समझाते हैं, पर उनके न समझने पर उन्हें डाँटते-मारते हैं। इसमें बच्चों के प्रति प्रेम और उनके कल्याण की भावना रहती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु न समझने पर डाँटने या मारने से किसी चीज को समझाना और भी कठिन हो जाता है, यह बात

समझी जानी चाहिए। समझाने के मामले में यदि कोई व्यर्थ उपाय है, तो वह है, ताड़ना। शिक्षा के सम्बन्ध में इसी एक नीति का प्रयोजन है। केवल बच्चे के प्रति प्रेम रहने से काम नहीं चलेगा—अहिंसा और अहिंसात्मक साधनों के प्रति अन्त तक प्रेम और श्रद्धा रहनी चाहिए। तभी इस बात की वास्तविक परीक्षा होगी कि अहिंसा को पसन्द किया जाता है अथवा नहीं। शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ अहिंसात्मक प्रणाली के प्रति श्रद्धा रहेगी, वहाँ अन्त तक किस तरह काम करना होगा, यह समझ लेने की आवश्यकता है। विनोबाजी ने इसे स्पष्ट रूप से समझाया है। वे कहते हैं: "अहिंसा की जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बच्चा नहीं समझ सका, तो उसे अधिक प्रेम से और यदि उससे भी नहीं समझ सका, तो और अधिक सौम्य उपाय से समझाना होता है। इस प्रकार सौम्यतम साधन तक जाना होता है। जो काम मारने-पीटने से नहीं हुआ, वह प्रेमपूर्वक सेवा करने से और इससे भी नहीं हुआ, तो प्रेमपूर्वक अधिक त्याग करने से अवश्य होगा। इस प्रकार का परिणाम लाने के लिए उत्तरोत्तर सौम्य उपाय और अन्त में सौम्यतम उपाय तो कारगर होगा ही। ऐसी श्रद्धा का नाम है, अहिंसा। विनोबाजी ने यह बात सारे समाज के लिए कही है। राष्ट्रीय क्षेत्र में, व्यवसाय-वाणिज्य के क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, पारिवारिक क्षेत्र में—सर्वत्र इस नियम का पालन होना उचित है। भूदान-यज्ञ के क्षेत्र में भी वे यही बात कह रहे हैं और स्वयं इसका प्रयोग कर रहे हैं। वे कहते हैं: "आज भूदान के लिए घूम-घूमकर प्रेम से समझाते हैं। इसका असर न हुआ, तो लोग पूछते हैं कि क्या कोई उग्र कदम उठाना होगा। और यदि उससे भी काम न हुआ, तो और उग्र कदम की बात, अहिंसा की मर्यादा में रहकर वे सोचते हैं। अहिंसा की मर्यादा यानी किसीको मारना-पीटना नहीं। परन्तु इस काम के लिए अधिकाधिक तीव्र उपाय करने पड़ेंगे, ऐसा ही दिमाग सोचता है। हम इसीको हिंसक चिन्तन मानते हैं।। शस्त्रास्त्रों में यही चलता है। पर अहिंसा के लिए वह नाममात्र की अहिंसा होगी,

विचार की नहीं। इसलिए अहिंसा में सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम के रूप में ही सोचने का ढंग होगा। अहिंसा का मतलब केवल 'नहीं मारना-पीटना' नहीं है। यह तो एक 'निगेटिव' (अभावात्मक वस्तु) हो जाती है। अहिंसा की चिन्तन-प्रक्रिया ही भिन्न है—यह बात हमें निरन्तर ध्यान में रखनी चाहिए।"

(२) विचार की व्यापकता और सेवा-क्षेत्र की विशिष्टता—मनुष्य के हाथ, पैर, कान, आँख आदि की शक्ति की एक सीमा है। इसलिए मनुष्य उसके आसपास ही प्रत्यक्ष रूप से काम कर सकता है—प्रत्यक्ष सेवा-कार्य भी उसीके अनुसार कर सकता है। प्रत्यक्ष सेवा-कार्य का क्षेत्र सीमातीत रूप से विस्तृत नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य की चिन्तन-शक्ति की ऐसी कोई सीमा नहीं होती। मनुष्य का चिन्तन विश्वव्यापी हो सकता है। किन्तु उसके विश्वव्यापी चिन्तन और प्रत्यक्ष कार्य के बीच कोई विरोध नहीं रहना चाहिए। यही हमारे जीवन का आदर्श होना चाहिए। इसलिए विचार की दृष्टि से हमारा आदर्श विश्व-कल्याण होना चाहिए। इस प्रकार वह विश्वव्यापी होगा, किन्तु हमारे प्रत्यक्ष सेवा-कार्य का क्षेत्र संकुचित होगा। फिर उसे विश्व-कल्याण का विरोधी नहीं होना चाहिए। इसीलिए विनोबाजी कहते हैं: "हम नजदीकवाले की ऐसे ढग से सेवा करेंगे कि दूरवाले को कुछ नुकसान न हो, बल्कि फायदा ही हो। विश्व-कल्याण से अविरोध, आसपास के क्षेत्र की सेवा—यह है अपने जीवन का रहस्य।" महापुरुषों की जीवन-धारा ऐसी ही रही है और रहती है। भगवान् बुद्ध का सेवा-क्षेत्र बिहार और ईसामसीह का सेवा-क्षेत्र फिलिस्तीन था। किन्तु उनके हृदय में तो विश्व-प्रेम और चिन्तन में विश्व-कल्याण ही था। अन्य महापुरुषों के सम्बन्ध में भी यही बात है। महात्मा गांधी का सेवा-क्षेत्र था भारत, किन्तु उनके हृदय में विश्व-प्रेम और चिन्तन में विश्व-कल्याण ही था। विनोबा-जी का सेवा-क्षेत्र है भारत, किन्तु उनका विचार तो है—'जय जगत्'। नयी तालीम में मनुष्य को इसी आदर्श के अनुसार तैयार करने का व्रत

ग्रहण करना होगा। तभी नयी तालीम सार्थक होगी। इसलिए विनोबाजी कहते हैं : "विचार में व्यापकता और कर्मयोग में विशिष्टता, नयी तालीम का दूसरा विचार है।"

(३) **श्रम पर आधारित जीवन**—जिस नवीन समाज का निर्माण करना हमारा लक्ष्य है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के पोषण के लिए शारीरिक श्रम करेगा। आज के समाज में यदि कोई व्यक्ति सचाई के साथ बौद्धिक काम करके जीवन-यापन करता है, तो उसे 'भला आदमी' माना जाता है। समाज में आज कोई वकील है, कोई व्यवसायी, कोई अध्यापक, कोई मन्त्री, कोई किसान, कोई कुछ और। ये सारे काम समाज के लिए हितकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं। सचाई के साथ ये सब काम करने से 'भला आदमी' या 'सेवक' की संज्ञा मिलती है। इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु नयी तालीम समाज के केवल इसी आदर्श के अनुसार लोगों का निर्माण करने का व्रत नहीं ग्रहण करेगी। उसका व्रत नये समाज के निर्माण के लिए ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना होगा, जिनका आदर्श होगा—समाज में अन्य काम चाहे जो भी किये जायँ, प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर की रक्षा और पोषण के लिए उत्पादक श्रम करना चाहिए। ऐसा न होने की स्थिति में उसे दूसरों का शोषण करके जीवन-यापन करना होगा। ईसामसीह ने इसे 'ब्रेड लेबर' और भगवद्गीता ने 'यज्ञ' नाम दिया है। विनोबाजी ने अपने साम्य-सूत्र में 'श्रमसंजातवारिणा' के नाम से इसका उल्लेख किया है। विनोबाजी कहते हैं : "इस तत्त्व को जो पूरी तरह कबूल नहीं करेंगे, वे नयी तालीम को भी पूरी तरह कबूल नहीं करेंगे। किसी काम के जरिये शिक्षा देना तो शिक्षण-पद्धति का एक बिलकुल ही मामूली विषय है। पर यदि हम अपनी आजीविका शरीर-श्रम से प्राप्त नहीं करते हैं, तो दूसरों के कन्धों पर बैठते हैं। तब हम हिंसा से मुक्त नहीं हो सकते। नयी तालीम के मूल में यही विचार है। ● ● ●

अध्याय ३३ ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन

अब भी अनेक व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि समाज-सेवा का कार्य करके शिक्षक और विद्यार्थी अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं। तात्पर्य यह कि इससे विद्यार्थियों के शिक्षा-लाभ और शिक्षकों के शिक्षा-दान में बाधा पड़ती है। इस कारण ऐसा समझा जाता है कि शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा भूदान-यज्ञ का पालन किया जाना ठीक नहीं है। पर यह गलत धारणा है। समाज-सेवा के काम में बहुत मूल्यवान् ज्ञान प्राप्त होता है। समाज-सेवा के काम में जो समय लगेगा, उसके कारण विद्यालय के काम को कुछ क्षति पहुँचेगी, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु समाज-सेवा के काम से जो ज्ञान प्राप्त होगा, उससे उस क्षति की पूर्ति तो होगी ही, कुछ अतिरिक्त लाभ भी होगा। अतः शिक्षकों और शिक्षार्थियों द्वारा भूदान-ग्रामदान के काम में भाग लिया जाना शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक है—कर्तव्य-स्वरूप है। इसके अतिरिक्त यदि शिक्षकों के गाँव में जाकर गाँववालों को समझाने से काम होता है, तो उनका गाँव में न जाना और गाँववालों को न समझाना निष्ठुरता तथा आलस्य का परिचायक होगा। विनोबाजी कहते हैं : "निष्ठुर इसलिए कि गरीबों का काम थोड़ी-सी मेहनत से होता है, तो उतना भी करने के लिए हम राजी न हों। और आलसी इसलिए कि जहाँ थोड़ा घूमना पड़ेगा, थोड़ी-सी मेहनत करनी पड़ेगी, उतनी भी मेहनत करने के लिए हम राजी न हों। इसके अलावा उसमें शिक्षण-दृष्टि का अभाव माना जायगा।"

नयी तालीम का लक्ष्य गाँव के सभी लड़के-लड़कियों को बुनियादी तालीम देना है। किन्तु आज साधारणतः गाँवों की स्थिति ऐसी है कि बहुत-से लड़के-लड़कियों को भूखे अथवा अधभूखे पेट विद्यालय आना

होता है। अथवा ऐसी स्थिति के कारण ही वे विद्यालय नहीं आ पाते। तब उन्हें क्या शिक्षा दी जायगी ? जिस व्यक्ति के पेट में दाना न हो, उसे संतुलित भोजन करने अथवा पर्याप्त दूध पीने की उपयोगिता का उपदेश देना लज्जास्पद बात है। अतः भूदान-ग्रामदान के काम में सहयोग करना शिक्षकों का कर्तव्य माना जाना चाहिए, क्योंकि भूदान-ग्रामदान के द्वारा क्षुधार्तों के लिए अन्न की व्यवस्था होगी।

ग्रामदानी गाँव नयी तालीम के प्रयोग के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र होंगे। अतः भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन के साथ नयी तालीम का गहरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि विनोबाजी नयी तालीम के शिक्षकों को ग्रामदान प्राप्त करने और ग्रामदान के उपरान्त वहाँ नयी तालीम आरम्भ करने का उपदेश देते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने तामिलनाड के कालूपट्टी आश्रम के मुख्य कार्यकर्ता गुरुस्वामी (नयी तालीम के शिक्षक) को जो उपदेश दिया था, उसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। वे कहते हैं : "हमने आज गुरुस्वामी से निवेदन किया कि आप ग्रामदान हासिल करते चले जाइये और जितने ग्रामदान मिलें, वहाँ नयी तालीम का प्रयोग कीजिये, तो यह प्रयोग अत्यन्त तेजस्वी और यशस्वी होगा। आपको गाँव के सब लोगों का सहयोग मिलेगा, बच्चों में उत्साह उत्पन्न होगा और सरकार की ओर से सहायता पाना भी सरल हो जायगा। ग्रामदान के गाँव में नयी तालीम का प्रयोग सब तरह से बहुत अच्छा चलेगा। बल्कि हम तो एक कदम आगे भी जाकर कहते हैं कि सरकार की कुछ भी मदद न रही, बल्कि विरोध रहा, तो भी ग्रामदान के गाँवों में नयी तालीम पनपेगी। कारण, जहाँ ग्रामदान हुआ, वहाँ ग्राम-शक्ति जाग्रत हुई। उस ग्राम-शक्ति के आधार पर बहुत ही अच्छी तरह से नयी तालीम चलेगी। इसलिए आप इस काम में योग दीजिये। यह बात मैं नयी तालीम के एक आचार्य के नाते कह रहा हूँ—भूदान-कार्यकर्ता के नाते नहीं। इससे नयी तालीम बहुत ही मजबूत बुनियाद पर खड़ी होगी। मैं आशा करता हूँ कि आप इस विचार का चिन्तन-मनन करेंगे।"

छात्र-छात्राओं का बाह्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। इससे प्रकृति-निरीक्षण के क्रम में उन्हें बहुत-सी मूल्यवान् शिक्षाएँ प्राप्त होंगी। किन्तु बहुत-से शिक्षा-कार्यकर्ता ऐसा सोचते हैं कि यदि छात्र-छात्राएँ कक्षा में बैठे-बैठे बाहर दृष्टि डालें, तो उनकी शिक्षा में बाधा पड़ेगी। इसीलिए किसी-किसी विद्यालय में खिड़कियाँ इतनी ऊँचाई पर लगायी जाती हैं कि छात्र-छात्राओं की दृष्टि कक्षा से बाहर न जा पाये। विनोबाजी ने स्वयं ऐसे एक विद्यालय को देखकर पूछताछ की, तो पता चला कि विद्यालय के 'मैन्युअल' में ऐसा लिखा हुआ है कि विद्यालय-भवन ऐसा होना चाहिए कि लड़के-लड़कियों की दृष्टि बाहर न जा सके। बच्चों का चित्त स्थिर रखने के लिए ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव की गयी। इस पर विनोबाजी ने परिहास करते हुए कहा कि यदि कक्षा में छात्र-छात्राओं के लिए बिछावन भी बिछा दिये जायँ, तो चित्त स्थिर रखने में अधिक सुविधा हो। फिर ऐसे विद्यालय-भवन भी हैं, जिनकी दीवारों पर नाना प्रकार के जंगली जानवरों के चित्र अंकित हैं। परन्तु बच्चों को बाहर के जीव-जन्तु नहीं देखने दिये जाते। केवल चित्र दिखाकर उन्हें शिक्षा दी जाती है। यह हास्यास्पद बात है। तात्पर्य यह कि विद्यार्थियों को प्रकृति के सम्पर्क में आकर प्रकृति-निरीक्षण करने का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। ● ● ●

अध्याय ३४ अनुबन्ध के विषय में भ्रान्त धारणा

नयी तालीम में मूल हस्तशिल्प की विभिन्न क्रिया-प्रक्रियाओं के साथ विभिन्न प्रकार के ज्ञानों का संयोग करके शिक्षा दी जाती है। पहले कहा जा चुका है कि कर्म के साथ ज्ञान के इस संयोग को 'अनुबन्ध' कहते हैं। नयी तालीम में प्रत्येक क्रिया के साथ किस प्रकार ज्ञान का संयोग कराया जाय, इसकी खोज करके तदनुसार शिक्षा देना एक प्रधान कार्य है। अतः बिना प्रसंग अथवा अनुबन्ध के कुछ सिखाने की चेष्टा करना उचित नहीं है। यह नयी तालीम की प्रधान नीति मानी जाती है। किंतु कुछ विषय ऐसे हैं, जिनका सीधा संयोग या अनुबंध आसानी से किसी हस्तशिल्प की प्रक्रिया या विद्यार्थी की किसी अन्य कर्म-प्रचेष्टा के साथ नहीं होता; परन्तु यह बात नयी तालीम के लिए अपरिहार्य है और यह समस्त शिक्षा-व्यवस्था की बुनियाद है। कर्म के साथ सीधा अनुबन्ध न रहने पर भी वे अनिवार्यतः शिक्षणीय विषय हैं। जैसे, श्लोक मुखस्थ करना और कंठस्थ रखना। कुछ चुने हुए उत्तम श्लोक विद्यार्थियों को कंठस्थ रखने चाहिए। हमारे साहित्य के उच्चतम विचार विभिन्न श्लोकों में भरे पड़े हैं। यदि वे श्लोक हमें कंठस्थ रहें, तो बहुत से लाभ हों। जीवन में समय-समय पर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जब महापुरुषों के अनुभवसिद्ध विचारों से भरे ये श्लोक हमें पथ दिखा सकते हैं और हमारा एक मात्र आश्रय-स्थल बन सकते हैं। हमारे जीवन में बुद्धि का स्थान है, इसमें संदेह नहीं; किंतु भावों का स्थान भी अपरिहार्य है। विनोबाजी कहते हैं : "पाश्चात्य शिक्षा-वेत्ताओं के इस विषय के अनुभवों में और हमारे अनुभवों में अन्तर है। वे विश्लेषण-पद्धति से देखते हैं और दुनिया के टुकड़े कर उन्हें तकसीम करते हैं—उन्हें शाखाओं में बाँटते हैं।

लेकिन हम लोग सारी दुनिया को समग्र रूप में देखते हैं और उसका अद्वैत स्वरूप पहचानते हैं। यहाँ को पद्धति और वहाँ की पद्धति में यह भेद रहा है।"

विश्लेषणात्मक पद्धति में बुद्धि खर्च करने की आवश्यकता अधिक होती है और समग्र दृष्टि से विचार करने की पद्धति में भावों या भावनाओं की। इन सब भावात्मक श्लोकों के साथ हमारे हस्त-शिल्पों का कोई साक्षात् संयोग या अनुभव न रहने पर भी वे हमारे जीवन की प्रत्येक कर्म-प्रचेष्टा को शक्ति प्रदान करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। विनोबाजी कहते हैं : "मनुष्य में एक आत्मा होती है। उस आत्मा की शक्ति से ही शरीर शक्तिमान् बना है। सिर्फ शरीर में शक्ति नहीं होती। आत्मा से भिन्न जो शरीर होता है, उसे दुनिया में शरीर नहीं, बल्कि लाश कहते हैं और उसका विनियोग श्मशान में होता है। जिस शरीर में आत्मा होती है, उसी में कर्तृत्व-शक्ति होती है। तो, आत्मा के विकास के लिए कुछ उत्तम श्लोक कंठ करना मैं आवश्यक समझता हूँ।"

कुछ लोग नयी तालीम के मामले में केवल अनुबन्ध लेकर ही व्यस्त रहते हैं और उसीमें जड़ीभूत हो जाते हैं। विनोबाजी कहते हैं कि ऐसा करने से नयी तालीम निर्जीव हो जायगी। वे कहते हैं : "फिर लोगों को कुछ करना-धरना नहीं रहेगा और हर क्रिया का हर ज्ञान के साथ किस तरह जोड़ बैठ सकता है, उसीकी खोज में बेचारे लगे रहेंगे। इससे हमें मुक्त होना चाहिए। नयी तालीम एक जीवन-दर्शन है।" ● ● ●

अध्याय ३५ विद्यालयों में नृत्य-संगीत की मर्यादा

शिक्षा में मनोरंजन कार्यक्रमों का प्रयोजन है। जीवन में सांस्कृतिक कार्यक्रमों का भी मूल्य है। इसलिए विद्यालय में नृत्य-संगीत की चर्चा करना निषिद्ध नहीं है। किन्तु जिस देश में करोड़ों लोग भरपेट भोजन नहीं पाते, लाखों लोगों को भूख के कारण मरणोन्मुख होना पड़ता है और हजारों लोगों को अनाहार के कारण मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है, उस देश के विद्यालयों में नृत्य-संगीत को लेकर बढ़ा-चढ़ी करना उचित नहीं है। उसकी एक सीमा होनी चाहिए। विनोबाजी कहते हैं : "मनुष्य के जीवन में उसका (सांस्कृतिक कार्यक्रम का) स्थान है। लेकिन उसके पीछे हम इस तरह पागल न बन जायँ कि हमारा शिक्षण का जो मुख्य उद्देश्य है, वह गायब हो जाय और हमारी जो मुख्य समस्या है, उसे हम भूल जायँ।" इसीलिए उन्होंने कहा है कि एक व्यक्ति भूख की ज्वाला में छटपटा रहा है और दूसरा व्यक्ति भूख से छटपटाता हुआ मर जाता है—इस दृश्य को ध्यान में रखकर अथवा इस दृश्य की एक छवि सामने रखकर जितना नृत्य-संगीत अथवा सांस्कृतिक कार्यक्रम करना उचित प्रतीत हो, उतना किया जाना चाहिए। अर्थात् ऐसा करने से बढ़ा-चढ़ी नहीं हो सकेगी—संयम बना रहेगा। इस प्रसंग में उन्होंने चित्रकारों से निवेदन किया है कि वे भारत की वास्तविक स्थिति के प्रतीक-स्वरूप उपयुक्त हृदय-विदारक दृश्य का भी चित्रण करें। ● ● ●

अध्याय ३६ नयी तालीम स्त्रियों के हाथ में रहे

भारत में शिक्षा को संयम-प्रधान करने की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। आज चारों ओर असंयम की हवा बह रही है। इसके लिए प्रधानतः हलका साहित्य और सिनेमा उत्तरदायी है। भारत में जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है, यह बात सब लोग जानते हैं। यह देश की एक बड़ी भारी समस्या है। विनोबाजी कहते हैं कि यद्यपि यह समस्या गम्भीर है, तथापि उन्हें इससे विशेष भय नहीं होता। उन्हें भय इस बात से होता है कि निर्वीर्य मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है। वे कहते हैं : "प्रजा यदि वीर्य-सम्पन्न, कर्मयोगी और दक्ष हो, तो जो संख्या पैदा होगी, उसका भार वहन करने के लिए वसुन्धरा समर्थ है—ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन जो निर्वीर्य और निस्तेज प्रजा बढ़ रही है वह क्यों ? इसलिए कि देश में संयम का वातावरण नहीं है। जो भी साहित्य लिखा जा रहा है, जो चलचित्र आदि चल रहे हैं, वे हिन्दुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णतः निर्वीर्य बना रहे हैं। ऐसे वातावरण में हमारी तालीम पर यह भार आता है कि हमारे लड़के बचपन से ही संयमी बनें, वीर्यवान् बनें, निग्रही बनें।"

शिक्षा को इस प्रकार संयमात्मक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा को ऐसे लोगों के हाथ सौंपा जाय, जिनके लिए शिक्षा में संयम की शिक्षा देना सहज और स्वाभाविक हो। महात्मा गांधी सत्याग्रह के संचालन का भार स्त्रियों को सौंपना चाहते थे। उनका विचार था कि स्त्रियों में अहिंसा स्वाभाविक रूप से आ जाती है। विनोबाजी भी ऐसा ही सोचते हैं और ठीक सोचते हैं। इसी कारण उन्होंने शान्ति-सेना के संगठन का दायित्व मात्र महिलाओं से गठित एक समिति को सौंपा है।

इसी प्रकार शिक्षा को संयम-प्रधान बनाने को उन्होंने नयी तालीम का दायित्व ग्रहण करने के लिए स्त्रियों का आह्वान किया है। वे कहते हैं : "वातावरण संयमयुक्त रखने की यह जो जिम्मेवारी है, वह अगर ठीक ढंग से हमें सिद्ध करनी है, तो यह जरूरी है कि बुनियादी तालीम का काम जितना हो सकता है, स्त्रियों को सौंपा जाय और उस काम के लिए स्त्रियों को तैयार किया जाय।" देश में जो महिला-संस्थाएँ हैं, उन्हें वे छोटे बच्चों की शिक्षा का दायित्व सौंपना चाहते हैं। उपनिषद् का एक मंत्र उद्धृत कर उन्होंने यह दिखलाया है कि बच्चों की प्रथम शिक्षा स्त्रियों द्वारा होनी चाहिए। उपनिषद् में कहा गया है : "मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान्" अर्थात् शिक्षा पहले माता द्वारा, फिर पिता द्वारा और तब आचार्य द्वारा होनी चाहिए। शिक्षा-प्राप्ति का यह क्रम आवश्यक है।

● ● ●

अध्याय ३७ नयी तालीम और ज्ञान-प्राप्ति

नयी तालीम में चूँकि पुस्तक पर विशेष बल नहीं दिया जाता, इसलिए कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि उसमें ज्ञान-प्राप्ति पर विशेष जोर नहीं दिया जाता और इसके फलस्वरूप पुरानी पद्धति के विद्यालयों की तुलना में नयी तालीम के विद्यालयों में विद्यार्थियों की ज्ञान-शिक्षा कम होती है। यह धारणा गलत है। यह सही है कि नयी तालीम में राजा-महाराजाओं और उनके युद्ध आदि की कहानियों से भरी इतिहास की मोटी-मोटी पुस्तकें नहीं पढ़ायी जातीं, पर उसमें जीवन के मौलिक विषयों के सम्बन्ध में परिपूर्ण ज्ञान कराया जाता है। साधारण इतिहास पढ़ाने का विशेष प्रयोजन क्यों नहीं है और नयी तालीम में किन-किन विषयों का गम्भीर ज्ञान कराया जाता है, इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "लम्बा-चौड़ा इतिहास और निकम्मे राजाओं की नामावली याद रखने की कोई जरूरत नहीं है। उससे तो विद्यार्थियों के सिर पर नाहक बोझ लदता है। लेकिन जीवन के जो बुनियादी विचार हैं, जिनसे हमारा जीवन विकसित होता है, उनका ज्ञान जरूरी है। तत्त्वज्ञान, धर्म-विचार, नीति-विचार, इन सबकी जानकारी आवश्यक है। हमारे समाज की और दूसरे समाजों की विशेषताएँ क्या हैं, इसका ज्ञान होना चाहिए। विज्ञान के मूलभूत विचार लड़कों को मालूम होने चाहिए। उन्हें आरोग्यशास्त्र, आहारशास्त्र, स्वच्छता, पाकशास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार नयी तालीम में ज्ञान की कोई कमी नहीं होनी चाहिए। भाषा का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। अपने विचार ठीक ढंग से प्रकाशित करने की कला मालूम होनी चाहिए। अक्षर सुन्दर होने चाहिए। साहित्य का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार हमारी तालीम में ज्ञान की कमी नहीं होगी। लेकिन उसमें निकम्मा ज्ञान नहीं होगा।"

नयी तालीम में जो ज्ञान प्रदान किया जाता है, उसकी एक महत्त्व-पूर्ण विशेषता है। वह यह कि साधारण स्कूल-कॉलेजों में ३३ प्रतिशत अंक प्राप्त करने पर विद्यार्थियों को परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता है, किन्तु विनोबाजी के मतानुसार नयी तालीम में सौ में से सौ अंक प्राप्त होने पर ही विद्यार्थी को उत्तीर्ण माना जाना चाहिए। विनोबाजी कहते हैं कि साधारण स्कूल-कॉलेजों के विद्यार्थियों को जब ३३ प्रतिशत अंक प्राप्त होने पर उत्तीर्ण माना जाता है, तब ऐसा माना जा सकता है कि उन्हें जो शिक्षा दी जाती है, उसका ६७ प्रतिशत भाग भूल जाने की स्वतन्त्रता उन्हें प्राप्त है। और, चूँकि साधारण स्कूल-कॉलेजों में असार और निरर्थक विषय पढ़ाये जाते हैं, इसलिए इतना अधिक भूल जाने पर भी कोई विशेष क्षति अनुभव नहीं की जाती। किन्तु नयी तालीम में सार वस्तुओं, अर्थात् जीवन के मौलिक विषयों का ही ज्ञान दिया जाता है। इसलिए उसमें से कुछ भी भुलाया नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "वास्तव में जो विद्या होती है, उसे मनुष्य भूलता नहीं और जिसे भूलता है, वह विद्या नहीं है। इस तरह नयी तालीम में हम ऐसी विद्या सिखायेंगे, जो भूली नहीं जायगी। नयी तालीम पाकर महाज्ञानी लोग निकलने चाहिए।"

● ● ●

अध्याय ३८ शिक्षा की प्रकृति और गुण

विनोबाजी ने अपने विभिन्न भाषणों और लेखों में शिक्षा तथा नयी तालीम के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा की व्याख्या करके नयी तालीम पर नया प्रकाश डाला है तथा नयी तालीम के विचार को विविध प्रकार से समृद्ध किया है। पिछले अध्यायों में उन पर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है। यहाँ उनके कुछ अन्य विचारों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है :

(१) अनिवार्य शिक्षा

प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है कि मनुष्य को अनिवार्य रूप से शिक्षा प्राप्त करनी होती है। ईश्वर ने मनुष्य को भूख दी है, बुद्धि दी है, हृदय में सहानुभूति भी दी है। इन तीनों के द्वारा मनुष्य को अपने-आप शिक्षा प्राप्त होती रहती है। इसमें विद्यालय की आवश्यकता नहीं पड़ती, शिक्षक की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। तात्पर्य यह कि भूख मिटाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और मनुष्य को भूख की प्रेरणा से काम करना होता है तथा बुद्धि के अनुशीलन द्वारा विभिन्न उपायों को जन्म देकर खाद्योत्पादन करना पड़ता है। बुद्धि का व्यवहार न करने से खाद्योत्पादन कर सकना सम्भव नहीं होता। मनुष्य का हृदय सहानुभूतिशील है। खाद्योत्पादन के काम में सहानुभूतिशील हृदय भी विशेष सहायक होता है। इसलिए खाद्योत्पादन के काम में लोग परस्पर सहायता करते हैं। फिर वे इस प्रकार खाद्योत्पादन तथा उसका संग्रह करते हैं कि दूसरों के खाद्योत्पादन या संग्रह में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। दूसरों के असमर्थ या असहाय होने की स्थिति में लोग उनकी

सहायता के लिए आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार इन तीनों के द्वारा मनुष्य को वास्तविक शिक्षा मिलती है। विनोबाजी कहते हैं : "अगर यह शिक्षण हम नहीं पाते, तो हमारी भूख नहीं मिटती, हृदय की सहानुभूति नहीं रहती, बुद्धि को चैन नहीं पड़ती।"

ईश्वर ने एक और व्यवस्था कर रखी है, जिसके द्वारा प्रायः स्वाभाविक रूप से मनुष्य को शिक्षा मिलती रहती है। वह व्यवस्था यह है कि माता से सन्तान स्वयमेव ही मातृभाषा सीख लेती है। विनोबाजी ने इसे 'मुफ्त तालीम की योजना' नाम दिया है।

ईश्वर-प्रदत्त ये दो शिक्षा-व्यवस्थाएँ यदि न होतीं, तो शिक्षा के लिए मनुष्य ने जो सब व्यवस्थाएँ कर रखी हैं, वे सम्भव न होतीं। इसलिए मनुष्य द्वारा निर्मित्त समस्त शिक्षा-व्यवस्था की विनोबाजी ने गणित के 'शून्य' (०) के साथ तुलना की है। जिस प्रकार पहले कोई अंक न रहने से शून्य का कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर-कृत इन दो अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्थाओं के न रहने से मनुष्य-प्रदत्त शिक्षा का कोई मूल्य नहीं रहता। जो व्यक्ति स्कूल-कॉलेज में शिक्षा प्राप्त नहीं करता, उसे सामान्यतः अशिक्षित माना जाता है। यह धारणा पूर्णतः गलत और अन्यायपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे प्रकट होता है कि 'शिक्षा-दाता' होने का अहंकार किसीको भी (किसी भी शिक्षक को) शोभा नहीं देता।

(२) नयी तालीम का मंत्र है 'सच्चिदानन्द'

नयी तालीम में व्यायाम और आनन्द के लिए कोई पृथक् व्यवस्था रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें ज्ञान और कर्म की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। काम करते-करते यथेष्ट व्यायाम हो जाता है। अतएव कर्म, ज्ञान और व्यायाम एक साथ चलते हैं। ज्ञान-लाभ आनन्ददायक होता है। श्रम या व्यायाम भी आनन्ददायक होता है। अतः आनन्द, ज्ञान और श्रम से भिन्न वस्तु नहीं है। इसलिए आनन्द-लाभ

के लिए ज्ञान और श्रम से पृथक् किसी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। यों यह एक आनन्द-योजना है। विनोबाजी कहते हैं : "अगर एक शब्द कहना है, तो मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे शिक्षण का मंत्र है, 'सच्चिदानन्द'। 'सत्' है कर्मयोग। उसके बिना जीवन टिकता ही नहीं। 'चित्' है ज्ञानयोग। उसके बिना जीवन जड़ बनता है। और 'आनन्द' के बिना जीवन में कोई रस ही नहीं होता। तो, जिस शिक्षण में सत्, चित्, और आनन्द, तीनों का योग हो, वह सच्ची तालीम होगी।"

(३) नयी तालीम के दो फुप्फुस

नयी तालीम में विद्यार्थी स्वावलम्बी बनता है। किन्तु केवल स्वावलम्बन-शिक्षा से ही नयी तालीम की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। स्वावलम्बी व्यक्ति भी शोषक हो सकता है। इसलिए स्वावलम्बन के साथ-साथ साम्ययोग चाहिए। पुरुषार्थहीनता का दोष पाश्चात्य शिक्षा में नहीं है। लुटेरों में पुरुषार्थ तो निश्चय ही होता है। परन्तु पुरुषार्थ द्वारा स्वावलम्बन-साधन करने से ही सब कुछ नहीं हो जाता। इसलिए विनोबाजी कहते हैं : "अगर साम्ययोग और स्वावलम्बन, ये दो गुण हमारी शिक्षा में न हों, तो हमारी शिक्षा के दोनों फुप्फुस ही नष्ट हुए, ऐसा समझिये।"

(४) 'नयी तालीम' नाम क्यों ?

शिक्षा और ज्ञान का मूलभूत विचार तो अनादि है। उसमें नया-पुराना कुछ नहीं है। फिर महात्मा गांधी ने इस शिक्षा को 'नयी तालीम' नाम क्यों दिया ? उन्होंने 'नयी' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? विनोबाजी ने इसकी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि कोई विचार अनादि होने पर भी उसका तेज बीच-बीच में मन्द पड़ जाता है। नये युग में उसे नये रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता होती है। और चूंकि उसे नये रूप में प्रस्तुत किया जाता है, इसलिए वह नवीन वस्तु बन जाता है। प्रचलित शिक्षा प्राणहीन हो गयी है। वर्तमान युग के लिए उपयोगी

नये रूप में प्रस्तुत किये जाने के कारण इसे 'नयी तालीम' नाम दिया गया है।

(५) नयी तालीम के त्रिविध दर्शन

नयी तालीम एक समग्र विचार है। किन्तु तीन विभिन्न दृष्टियों से इसे देखा जाता है : (१) आर्थिक, (२) आध्यात्मिक और (३) सामाजिक।

नयी तालीम की आर्थिक दृष्टि यही है कि इसमें शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच कोई श्रेणी-भेद नहीं किया जाता। यह भेद मिटाना ही नयी तालीम का उद्देश्य है। शारीरिक काम के लिए कम पारिश्रमिक और मानसिक काम के लिए अधिक पारिश्रमिक का विचार नयी तालीम में निषिद्ध है। मनुष्य अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार समाज की सेवा करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार समाज से लेगा। सेवा नैतिक वस्तु है और पारिश्रमिक, वेतन आदि भौतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुओं के द्वारा नैतिक वस्तु का मूल्य-निरूपण नहीं किया जाता। यह सम्भव नहीं है। विनोबाजी ने इसे एक उपयोगी उदाहरण द्वारा समझाया है। वे कहते हैं : "ऐसा सवाल पूछना ही गलत है कि एक मील के कितने घंटे होते हैं। एक मील के कितने गज पूछे जा सकते हैं, पर घंटे नहीं; क्योंकि वे भिन्न चीजें हैं, जिनका परिवर्तन एक-दूसरे में नहीं हो सकता।" इसे समझाने के लिए विनोबाजी ने एक और उदाहरण दिया है। मान लीजिये, आँधी-तूफान के समय मैं नदी में डूब रहा हूँ। एक व्यक्ति ने अपनी जान जोखिम में डालकर मुझे बचाया। इस काम में उसे केवल पन्द्रह मिनट लगे। यह काम शारीरिक है, बौद्धिक नहीं। इसीलिए क्या मैं उसे १५ मिनट के शारीरिक श्रम की मजदूरी छह नये पैसे दूँगा ? मनुष्य कितना धन ग्रहण करेगा, यह उसकी भौतिक आवश्यकता पर निर्भर करता है। अर्थात् आर्थिक बातों का सम्बन्ध आवश्यकता के साथ होता है। सेवा के साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं होता। यह मानकर चलना नयी तालीम का आर्थिक पक्ष है।

नयी तालीम की आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि इसमें ज्ञान और कर्म को दो पृथक् वस्तुएँ नहीं मानते। ये एक ही वस्तु के दो भिन्न प्रकाश हैं। जिस पद्धति में इन दोनों का एकीकरण होता है, वह है समवाय-पद्धति। इस संबंध में पहले विचार किया जा चुका है। ज्ञान और कर्म के साथ आनन्द का समवाय होता है—इसका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है।

नयी तालीम का सामाजिक रूप यह है कि मनुष्य-मात्र समान है। इसलिए किसी प्रकार की सामाजिक विषमता, श्रेणी-विषमता आदि असहनीय है। इस दृष्टि से नयी तालीम ने भूदान-यज्ञ का दावा स्वीकार कर लिया है। जमीन सबकी होनी चाहिए—जमीन का मालिक कोई नहीं है। अर्थात् भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाना चाहिए। यह दृष्टि केवल एक देश में सीमाबद्ध न रहकर विश्वव्यापी हो सकती है। अर्थात् किसी देश की भूमि केवल उसी देश की भूमि है, यह मानना भी गलत होगा। पृथ्वी पर जो जमीन है, वह सम्पूर्ण मानव-समाजकी है।

इसमें लड़के-लड़कियाँ एक साथ भोजन करेंगे, एक साथ खेलेंगे और एक साथ पढ़ेंगे। उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहेगा। धर्म के क्षेत्र में, विभिन्न धर्मों में जो कुछ अच्छा है, उसे वे ग्रहण करेंगे और जो कुछ बुरा है, उसे छोड़ देंगे। यही है वास्तविक सर्वधर्म-समन्वय। अनेक लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि विभिन्न धर्मों की भली-बुरी, सभी चीजों को भला कहना ही 'सर्वधर्म-समन्वय' है। फिर धर्म के संबंध में कुछ नहीं कहने को धर्म-निरपेक्ष-वृत्ति (Secular Attitude) माना जाता है। धर्म-निरपेक्ष-वृत्ति का यदि अर्थ है, तो कहा जा सकता है कि नयी तालीम में धर्म-निरपेक्ष-वृत्ति नहीं है। कारण, विभिन्न धर्मों में जो कुछ खराबियाँ हैं, नयी तालीम उसका विरोध करती है। अतएव नयी तालीम क्या है, यह अच्छी तरह समझ जाने पर जो लोग सनातनी या रूढ़िवादी विचारों के हैं, उनके द्वारा नयी तालीम का विरोध होना स्वाभाविक है। किन्तु अब तक वे लोग ऐसा नहीं कर रहे हैं। विनोबाजी कहते हैं कि

इससे प्रकट होता है कि वे अब तक इस बात को अच्छी तरह नहीं समझ सके हैं कि नयी तालीम क्या है। अथवा आज नयी तालीम के रूप में जो कुछ चलाया जा रहा है, वह वस्तुतः नयी तालीम नहीं है।

महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित नयी तालीम को बेसिक या 'बुनियादी तालीम' कहा जाता है। इसे किस अर्थ में बेसिक या बुनियादी कहना उचित है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है। नयी तालीम के प्रवर्तन के समय आरंभिक अथवा प्राथमिक शिक्षा-स्वरूप यह नवीन शिक्षा देने की व्यवस्था हुई थी, इसीलिए बहुत-से लोग ऐसा सोचते हैं कि बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। किन्तु इस अर्थ में नयी तालीम को बुनियादी तालीम नाम देने की कोई सार्थकता नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि देश में सर्वत्र, नीचे से ऊपर तक जो शिक्षा दी जाती है या दी जायगी, उसे इस नवविचार की बुनियाद पर आधारित होना चाहिए। अर्थात् प्राक्-प्राथमिक, प्राथमिक, मध्य अथवा उच्च, जिस किसी स्तर की शिक्षा हो; चाहे गाँव की शिक्षा हो या शहर की; दरिद्र की शिक्षा हो या धनी की—देश की समस्त शिक्षा नयी तालीम के विचार पर आधारित होनी चाहिए। इसी अर्थ में नयी तालीम को बुनियादी या बेसिक शिक्षा कहना उचित होगा। हमारे देश की जो असली बुनियाद है, उसे नयी तालीम ने पहचान लिया है और उसे आधार बना करके वह नये समाज का भवन-निर्माण करना चाहती है। इसी अर्थ में 'नयी तालीम' को 'बुनियादी तालीम' कहा जाता है। बुनियादी तालीम के 'बुनियादी' शब्द को यदि इसी अर्थ में लिया जाय और उसके पीछे यदि हमारी वही भावना रहे, तो हमारे सामने नयी तालीम का दृष्टिकोण स्पष्ट होगा और उसका लक्ष्य हम बखूबी समझ सकेंगे।

● ● ●

अध्याय ३९ नयी तालीम में रेखांकन

नयी तालीम के पाठ्यक्रम में सबसे नीचे की कक्षा से ही चित्रकला की शिक्षा देने की व्यवस्था है। हस्तशिल्प के माध्यम से दी जानेवाली शिक्षा-व्यवस्था में चित्रांकन के बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए नयी तालीम में रेखांकन या चित्रकला का एक विशिष्ट स्थान है। किन्तु चित्रांकन की सारी व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि नयी तालीम की मूल नीतियों के साथ उनकी संगति रहे। इसलिए निम्नलिखित तीन आवश्यक विषयों पर विचार-विमर्श करने के उपरान्त चित्रकला का शिक्षा-क्रम स्थिर किया जाना चाहिए : (१) चित्रांकन में उपकरण और विषय कैसे होने चाहिए, (२) दैनिक जीवन पर चित्रकला का कैसा प्रभाव होना चाहिए और (३) किस-किस प्रकार के चित्रांकन की शिक्षा देने की आवश्यकता है।

(१) चित्रांकन के उपकरणों और विषयों के बारे में विचार करते समय चित्रांकन का प्रकार-भेद जानना आवश्यक है। चित्रकला के दो प्रकार हैं : (१) जिसका उद्देश्य केवल सौन्दर्य-रचना हो और (२) जो चित्रांकन हस्तशिल्प के प्रयोजन से हो। काम के लिए इस दूसरे प्रकार के चित्रांकन का प्रयोजन होता है और काम के साथ सम्पर्क रहने के कारण विनोबाजी इसे 'कर्मयोगी रेखांकन' के नामसे पुकारते हैं। पहले प्रकार के चित्रांकन को वे 'भक्तियोगी चित्रांकन' कहते हैं, क्योंकि कर्म की शोभा या सौन्दर्य से भक्ति का जन्म होता है। नयी तालीम में ये दोनों ही चित्रकलाएँ सिखानी होंगी।

सूत कातना, वस्त्र बुनना, लकड़ी का काम आदि समस्त हस्तशिल्पों के लिए 'कर्मयोगी' रेखांकन की आवश्यकता होती है। उनके यंत्रों और

सरंजामों के नकशे तैयार करना, उनका आकार कई गुना बढ़ा-घटाकर चित्रित करना, कल्पना के सहारे या उन वस्तुओं को देखकर स्मृति के सहारे उनके नकशे तैयार करना आदि कर्मयोगी चित्रांकन में शामिल हैं। इसमें केवल रेखांकन होने से ही काम चल जाता है। कर्मयोगी रेखांकन के लिए किसी विशेष उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। ड्राइंग-पेपर की भी आवश्यकता नहीं होती। स्लेट-पेन्सिल होने से ही साधारण तौर पर काम चल जाता है, अथवा पहले स्लेट पर अंकन का अभ्यास करके बाद में उसे कागज पर उतार लिया जाता है। रबर का व्यवहार करना उचित नहीं है। जहाँ-जहाँ लकीरोंवाले कागज की जरूरत होगी, वहाँ भी वैसा कागज खरीदने के बजाय छात्र-छात्राएँ स्वयं ही सादे कागज पर लकीरें खींच लेंगी। यह भी रेखांकन का एक काम हो जायगा। ऐसा होने से काम के साथ-साथ लकीरें खींचने का ज्ञान प्राप्त होगा—साथ ही आनन्द भी आयेगा। विनोबाजी कहते हैं : "ऐसी दृष्टि रखने से उद्योग, कला, ज्ञान, आनन्द और स्वावलम्बन, सब एक साथ सध जाते हैं और साधनों के जंजाल में नहीं पड़ना पड़ता।" इस प्रकार नयी तालीम की समवाय-पद्धति में चित्रांकन का भी समावेश हो जाता है। काम के लिए जैसे रेखांकन की आवश्यकता होती है, वैसे ही सौन्दर्य के लिए भी उसकी आवश्यकता होती है। सौन्दर्य-रेखांकन के लिए विविध प्रकार के उपकरणों की जरूरत पड़ती है। परन्तु इस क्षेत्र में कीमती उपकरण खरीदने की जरूरत नहीं है। छात्र-छात्राओं के चारों ओर सृष्टि बिखरी पड़ी है। आसपास के पेड़-पौधों से तूलिका (ब्रश) और उनके पत्रों, छाल आदि से विभिन्न रंगों की आवश्यकता सहज ही पूरी की जा सकती है। इसमें विशुद्ध आनन्द प्राप्त होगा और उनके अन्वेषण तथा संग्रह के अनन्तर कर्म-साधन और ज्ञानार्जन, दोनों ही लक्ष्य पूरे होंगे।

सौन्दर्य-चित्रण के लिए विषय-वस्तु भी प्रकृति से ही प्राप्त होगी। उसके लिए अन्यत्र जाने या अन्वेषण करने की जरूरत नहीं होगी।

विनोबाजी कहते हैं : "साथ ही चित्रण का विषय भी उनमें भरा हुआ है। प्रकृति तो कामधेनु-सी है। वह दूध तो देती ही है, उसे पीने के लिए कटोरी भी देती है—केवल माँगने की देर है।" विनोबाजी ने इसका एक मनोरम दृष्टान्त दिया है। दीवाली सौन्दर्य का उत्सव है। वह भूमि पर आकाश के सौन्दर्य की सृष्टि करने का पर्व है। विनोबाजी कहते हैं : "दीवाली यानी चार महीने की बरसात के बाद पहली निरभ्र अमावस्या। अपने दिव्य वैभव के साथ पूर्णतः प्रकट हुई रजनी देवी। चन्द्र के साम्राज्य को मिटाकर परस्पर सहकारिता से सौन्दर्य-निर्माणार्थ सजी हुई छोटी-बड़ी स्वायत्त तारिकाएँ और उनकी वे आकृतियाँ !" चित्रांकन के विषय इसी प्रकार प्रकृति से चुनने होंगे। अन्तर में सृष्टि के सौन्दर्य की अनुभूति जाग्रत करने और उससे विशुद्ध आनन्द का आस्वादन करने की शिक्षा पाकर विद्यार्थीगण चित्रांकन की ओर आकृष्ट होंगे और अनुरूप चित्रांकन करने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे। इसलिए चित्रकला की शिक्षा के लिए आकाश-दर्शन का अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है। प्रातः काल उषा-दर्शन और रात में आकाश-दर्शन—ये दोनों ही आवश्यक हैं। उषा की गुलाबी आभा प्रेम का द्योतक है। विनोबाजी कहते हैं : "सुबह की उषा, प्रभात में बच्चों को जगानेवाली माँ का प्यारा और उद्‌बोधक स्वरूप है। किसी भी कवि या चित्रकार का काम उषा-दर्शन के बिना चल ही नहीं सकता।" रात्रिकाल में आकाश के नक्षत्रों के दर्शन करने से अनेक पवित्र भावनाओं का उदय होता है। 'शुक्र' अथवा 'बुध' कितने उज्ज्वल और मनोरम दिखते हैं। विनोबाजी कहते हैं : "इन तारों के आगे मोती आदि भी, जिन्हें हम साँस रोककर, समुद्र में से डुबकियाँ लगाकर निकालते हैं, तुच्छ मालूम पड़ते हैं।"

(२) हमारे छोटे-मोटे कामों और व्यवहार में चित्रकला का प्रभाव प्रकट होने का प्रयोजन है। इसीमें चित्रांकन की सार्थकता है। चित्रांकन के साथ-साथ जीवन में चित्रकला की दृष्टि होनी चाहिए। चित्रांकन और चित्रकला की दृष्टि में अन्तर है। चित्रकला की दृष्टि का अर्थ है—हमारे

व्यवहार और छोटे-मोटे प्रत्येक काम का चित्रकला के सौन्दर्य-बोध से प्रभावित होना। अर्थात् जीवन के छोटे-मोटे कामों और व्यवहार में बेढंगापन न रह जाय। विनोबाजी कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने चित्रकला की दृष्टि पायी है, वह व्यावहारिक जीवन में कोई बेढंगा काम नहीं करेगा। बच्चे सीधे बैठते हैं कि नहीं, 'ड्रिल' के समय सीधे खड़े होते हैं कि नहीं, भोजन करते समय पंक्ति में बैठते हैं कि नहीं—यह सब देखकर पता चलेगा कि उनके जीवन में चित्रकला की दृष्टि आयी है अथवा नहीं। जिसमें चित्रकला की दृष्टि आयी है, वह निश्चित रूप से नीबू को लम्बाई में काटेगा; क्योंकि उसे आड़ा-आड़ी काटने से रस निकालने और बीज फेंकने में असुविधा होती है। वह व्यक्ति नारंगी खाते समय उसका छिलका इस प्रकार निकालेगा कि उसे कटोरे का रूप मिल जाय और नारंगी खाकर उसके बीज तथा त्याज्य अंश उसमें रखे जा सकें—उन्हें इधर-उधर फेंकने की वजह से गंदगी न फैल सके। वह पपीता लम्बा-लम्बी न काटकर आड़ा-आड़ी काटेगा—उसके कटोरानुमा दो खंड करेगा। केला खाते समय केले का छिलका वह क्रमशः थोड़ा-थोड़ा करके छीलेगा, ताकि हाथ गंदा न हो। वस्त्र आदि पहने में भी चित्रकला की दृष्टि होनी चाहिए। काले रंग का व्यक्ति—काले रंग के केश भी। यदि वह काली टोपी पहन लेगा, तो कौए की तरह दीखेगा। सारांश यह कि जीवन के प्रत्येक काम और व्यवहार में कलात्मक सौन्दर्य फूटना चाहिए। तभी यह प्रकट होगा कि विद्यार्थी में चित्रकला की दृष्टि आयी है।

(३) विनोबाजी कहते हैं कि निम्न प्रकार की चित्रांकन-शिक्षा देना आवश्यक है :

(क) व्यावर्तक चित्रकला : 'व्यावर्तक' का अर्थ है, जिसके द्वारा दूसरों से पृथक् किया जा सके। किसी वस्तु की जो कुछ विशेषता हो, केवल उसका अंकन करने से ही उस वस्तु का आभास मिल जाता है। सूँड़ हाथी की विशेषता को द्योतक है। अतः सूँड़ अंकित करने से ही हाथी का आभास मिल जाता है। मनुष्य के चेहरे की आकृति देखकर

ही पता चल जाता है किस व्यक्ति का चित्र है। साँड़ के सींग और कंधे पर की ऊँची हड्डी चित्रित करने से ही साँड़ का आभास मिल जाता है, क्योंकि सींग हो, पर कंधे की ऊँची हड्डी नहीं; अथवा कंधे की ऊँची हड्डी हो, पर सींग नहीं—इस तरह के जन्तु तो हैं, परन्तु सींग और कंधे की ऊँची हड्डी, दोनों चीजें केवल साँड़ में ही उपलब्ध हैं। चित्रकला में वस्तु के साधारण और विशेष धर्म तथा गौण और मुख्य धर्म का अन्तर प्रकट होना चाहिए।

(ख) स्मृति पर आधारित चित्रांकन : किसी चीज को देखने के बाद स्मृति के आधार पर उसे यथारूप अंकित करना सीखना चाहिए। किसी यंत्र या किसी मकान को देखकर स्मृति के आधार पर उसका सही-सही चित्रांकन करना होगा।

(ग) दृश्य स्वरूप का औचित्य : जो चीज देखने में जैसी हो, चित्र में उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए—उसके वास्तविक रूप में नहीं। जैसे रेलवे की दोनों पटरियाँ सीधी समानान्तर होती तो हैं, पर देखते समय दृष्टिभ्रम के कारण, कुछ दूर आगे जाकर दोनों पटरियों की दूरी कम होती दिखाई पड़ती है। बहुत आगे दृष्टि दौड़ाने पर तो वे दो भी नहीं, एक ही पटरी जान पड़ती है। जिस रूप में वे दिखाई पड़ती हैं, वस्तुतः उसी रूप में चित्र में उन्हें दिखाया जाना चाहिए। इसी तरह तारे, सूर्य आदि अवस्था-भेद के कारण जिस रूप में छोटे-बड़े दिखाई पड़ते हैं, उसी रूप में चित्रांकन में भी उन्हें दरशाया जाना चाहिए।

(घ) सांकेतिक चित्रकला : फुलवारी अथवा बगीचे में मनुष्य सजा-सजाकर वृक्ष, लता आदि रोपता है—उन्हें काट-छाँटकर सुन्दर रूप प्रदान करता है। उन्हें देखकर आनन्द मिलता है। दूसरी ओर, जंगलों में विभिन्न आकार-प्रकार के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। उनमें मनुष्य का हाथ नहीं लगता, फिर भी उनमें एक नैसर्गिक सौन्दर्य होता है, जिसके कारण दर्शक का मन प्रसन्न होता है। सजायी हुई फुलवारी में ईश्वर की व्यवस्था

और नैसर्गिक वनश्री में ईश्वर की निर्मलता प्रकाशित होती है। सजायी हुई फुलवारी व्यवस्था की द्योतक है और स्वाभाविक वन निर्मलता का। इसलिए सजाये हुए बगीचे का चित्रांकन करके निर्मलता का प्रदर्शन करना सांकेतिक चित्रकला है। चित्रकार में यह दृष्टि होनी चाहिए। छात्र-छात्राओं को यह दृष्टि प्रदान कर सांकेतिक चित्रांकन सिखाया जाना चाहिए।

पाश्चात्य देशों में न्याय-देवता का जो चित्र अंकित किया जाता है, उसमें समान पल्ड़ेवाली तराजू हाथ में लिये एक अन्धी स्त्री दरशायी जाती है। यह सांकेतिक चित्रांकन का एक अच्छा उदाहरण है। अंधा व्यक्ति छोटे-बड़े का भेद नहीं कर सकता। न्याय में भी यह भेद नहीं किया जायगा। अतः अंधापन पक्षपात-शून्यता का प्रतीक है। नारी स्वभाव से ही दयामयी होती है। न्यायाधीश को भी दयालु होना चाहिए। नारी-मूर्ति दयालुता का प्रतीक है। तराजू के पलड़ों की समानता का अर्थ है, सत्य-निष्ठा। अतः न्यायाधीश में तीन गुण अनिवार्यतः होने चाहिए : (१) निष्पक्षता, (२) दयालुता और (३) सत्य-निष्ठा। ये तीनों गुण इस चित्र में प्रकट होते हैं।

सांकेतिक चित्र का एक और उदाहरण है—तीन मुँहवाले दत्तात्रेय की मूर्ति। उनके तीनों मुँह इस प्रकार अंकित नहीं किये जाने चाहिए कि वे देखने में एक ही तरह के लगें। उनके बीच कुछ अन्तर रखना चाहिए। तभी दत्तात्रेय की वास्तविक मूर्ति बनेगी। तीनों मुँह तीन गुण (सत्त्व, रज और तम) के प्रकाशक होने चाहिए। बीचवाला मुँह परिच्छन्न, सुन्दर और पवित्र होगा। वह सात्त्विक भाव का प्रकाशक है। दूसरा मुँह अपरिष्कृत और निद्राच्छन्न होना चाहिए। वह तामस भाव का द्योतक है। तीसरा मुँह उत्साह, आवेश और पराक्रम से भरा होगा। वह रजोगुण का परिचायक है। हिन्दुओं के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ सांकेतिक कला से परिपूर्ण होती हैं।

उत्सव आदि में दरवाजे के पास भरा घड़ा रखकर स्वागत किया

जाता है। यह एक सांकेतिक कला है। भरा घड़ा प्रेमपूर्ण हृदय का प्रतीक है। यह घड़ा या तो मिट्टी का होना चाहिए या सोने का : दूसरी किसी धातु का नहीं। अभ्यर्थना के समय यदि अभ्यर्थना करनेवाले का वैभव दिखाना होता है, तो सोने का घड़ा रखा जाता है और यदि वैराग्य प्रदर्शित करना होता है, तो मिट्टी का घड़ा काम में लाया जाता है।

अभिवादन में भी सांकेतिक प्रक्रिया ग्रहण की जाती है। अंग्रेज लोग टोपी उठाकर अभिवादन करते हैं, किन्तु हमारे देशके लोग जब अभिवादन करते हैं, तब अपनी टोपी नहीं उतारते। इसका अर्थ यह है कि शीतप्रधान देश के लोग टोपी उठाकर यह दिखाते हैं कि वे अतिथि के लिए कष्ट-सहन करने को तैयार हैं। दूसरी ओर, गर्म देशों के लोग टोपी पहने रहकर कष्ट सहने की भावना प्रदर्शित करते हैं।

कुछ वस्तुएँ सम रहती हैं और कुछ विषम। चित्र में इसे ठीक ढंग से दरशाकर सम और विषम वस्तु के चित्रांकन की शिक्षा दी जानी चाहिए।

दायें और बायें, दोनों हाथों से चित्रांकन की शिक्षा देनी चाहिए।

● ● ●

अध्याय ४० नयी तालीम में ब्रह्मविद्या की आवश्यकता

'हम क्या थे और क्या होना चाहते हैं ?' इसके साथ 'हम क्या सीखेंगे या हमें क्या सीखना चाहिए ?' इसका अंगांगीभाव होना चाहिए। अतः हमारी राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो नवसमाज-निर्माण में वास्तविक योगदान दे सके। इस संबंध में पहले उल्लेख किया जा चुका है। अन्यथा वह शिक्षा सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा कहलाने योग्य नहीं हो सकती। इसलिए नयी तालीम में शिक्षक और छात्र दोनों के जीवन और शिक्षा में नये समाज के नये मूल्यों का स्थापित होना आवश्यक है, जैसा कि नवसमाज-निर्माण के सेवक के जीवन में अपेक्षित है। नये मूल्य क्या हैं, इसकी आलोचना पहले ('नयी तालीम यानी नवसमाज-रचना का कार्यक्रम' में) की गयी है। इसके अतिरिक्त नये मूल्यों के और किसी प्रकार की आवश्यकता क्या राष्ट्रीय शिक्षा में अपेक्षित है ? यदि है, तो वह किस प्रकार की ? देश की सेवा के लिए ऐसी कुछ सामग्रियों की आवश्यकता महात्मा गांधी अनुभव करते थे (और जिनका प्रबन्ध उन्होंने अपने आश्रमवासियों के लिए किया था), जो केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में उपयोगी मानी जाती थीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतों या यमों के सहित उन्होंने एकादश व्रत अपने आश्रम-वासियों के सामने रखे; क्योंकि वे उन्हें विश्वहित में अविरोधी देश-सेवा के योग्य बनाना चाहते थे। इन एकादश व्रतों का नित्य प्रार्थना में स्मरण किया जाता था और आशा की जाती थी कि उन देशसेवकों का जीवन उक्त व्रतों के आदर्श पर गठित हो। वे यह भी चाहते थे कि नवसमाज-निर्माण के लिए देश-सेवा करनेवाले अन्य सभी व्यक्ति उक्त व्रतों को अपनायें और उनका जीवन व्रतों के अनुकूल आदर्शमय हो।

इसका उल्लेख करते हुए विनोबाजी ने कहा है : "योगी और साधक आध्यात्मिक विकास करने के लिए यम-नियमों का पालन करते थे। पतञ्जलि ने ये ही बातें कही हैं। पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध आदि ने भी इन पर लिखा है। परन्तु वे सारी चीजें समाज-सेवा के लिए अनिवार्य हैं। उनके बिना समाज-सेवा नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त बापू के आश्रम में ही मैंने सर्वप्रथम पाया।" महात्मा गांधी नवसमाज के संगठक देशसेवकों के लिए इन व्रतों का पालन करना क्यों आवश्यक मानते थे, यह बात समझ लेनी चाहिए। इसके लिए एक उदाहरण लेकर विचार करें। नवसमाज अर्थात् सर्वोदय-समाज की रचना के लिए ग्राम-परिवार संगठित करना होगा। ग्राम-परिवार के संगठन के लिए पड़ोसियों से प्रेम करना होगा और उन्हें अपने परिवार का ही समझना होगा। अभी तक अनेक ग्रामदान हुए हैं और अनेक ग्राम-परिवार भी बन गये हैं। ग्रामदान करके ग्राम-परिवार संगठित करना ग्राम-निवासियों के लिए अनेक प्रकार से लाभदायी होता है। परन्तु केवल उसीसे ग्राम-परिवार की बुनियाद पक्की नहीं होती। जब मनुष्य में यह अनुभूति होती है कि "मुझमें जो आत्मा है, हमारे पड़ोसियों में भी वही आत्मा है; हमारे माता-पिता, पुत्र, कन्या में भी वही आत्मा है, अतः हम सब अभिन्न हैं, एक हैं", तभी ग्राम-परिवार की बुनियाद दृढ़ हो सकती है। नहीं तो यह ऊपरी चीज नहीं टिक सकती। इसके लिए विनोबाजी ने कहा है : ईसा-मसीह ने कहा कि 'Love thy neighbour as thyself'—अपने पड़ोसी पर अपने जैसा ही प्रेम करो। बोलने में तो यह सरल है, पर यह भावना हममें तब तक नहीं आ सकती, जब तक उसमें गोता न लगाया जाय। यों भी कई कारणों से पड़ोसी पर प्रेम करना सदैव लाभदायी होता है, इसलिए उसे तो हम करेंगे ही। लेकिन ईसामसीह ने जो यह कहा, वह बहुत गहरी बात है। उस दृष्टि से हम अपने को तौलें, तो मालूम होगा कि हम ऊपर-ऊपर से समानता की कुछ बातें कर लेते हैं, परन्तु वह बिलकुल नकली साम्य है। जब तक अंदर से यह अनुभूति

नहीं होती कि 'हम सब एक ही वस्तु हैं', तब तक इस ऊपरी एकता से कुछ नहीं बनेगा ।"

हमारा नवसमाज होगा, विश्वहित से अविरोधी और विश्वहित से एकात्म भावापन्न । इसलिए उस नवसमाज की ध्वनि होगी 'जय जगत्'—'सारे जगत् के मनुष्य एक' । यह ध्वनि तभी हमारे हृदय के अन्तस्तल से निकलेगी, जब हम आत्मा के एकत्व को अपने अन्दर से अनुभव कर सकेंगे । अतः समाज-संगठन की नींव आध्यात्मिक होना नितान्त आवश्यक है । इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा की बुनियाद भी आध्यात्मिक होनी चाहिए । नयी तालीम की शिक्षा आत्मज्ञान के विकास की शिक्षा होनी चाहिए तथा ब्रह्मविद्या और कर्म के बीच पूर्ण सन्तुलन होना आवश्यक है।

विनोबाजी का अनुभव है कि नयी तालीम में ब्रह्मविद्या का अभाव पाया जा रहा है । केवल नयी तालीम ही नहीं, नवसमाज-गठन के लिए खादी-ग्रामोद्योग आदि जो भी रचनात्मक कार्य चल रहे हैं, सबमें आध्यात्मिकता का अभाव दिखाई दे रहा है । इसी कारण कुछ दिनों से ये बहुत ही कष्ट का अनुभव कर रहे हैं । इसे उन्होंने अपने जम्मू के भाषण (कश्मीर, ८-६-'५९) व्यक्त भी किया है : "इस वक्त मेरी मानसिक स्थिति जरा कठिन है । मैं अन्दर से बहुत बेचैन हूँ ।.....अब मुझे बेचैनी यह है कि हमारा कुल सर्वोदय-विचार ब्रह्मविद्या के अभाव में टूट जायगा । हमें हर तरह से सरकारी मदद मिलेगी, पर वह जितनी ज्यादा मिलेगी, सर्वोदय-विचार उतना ही ज्यादा टूटता जायगा । इसका मतलब यह नहीं कि नयी तालीम या दूसरे कामों में सरकार की मदद न मिलनी चाहिए । मदद तो जरूर मिले, बल्कि कुल सरकार ही सर्वोदय की बन जाय । परन्तु सरकार की मदद हजम करने के लिए कुछ अपनी भी तो चीज मजबूत हो । नहीं तो हमें वह मदद जितने परिमाण में मिलती जायगी, उतने ही परिमाण में हम ढीले पड़ते जायँगे । रचनात्मक कार्य आदि की जितनी बातें इन दिनों सुनता हूँ, उनकी कोई बुनियाद मुझे नहीं दीखती ।"

नयी तालीम हो या अन्य कोई भी रचनात्मक कार्य, किसीमें भी बुनियाद का न होना ही क्या कोई बुनियाद है ? इन सबकी कैसी बुनियाद होनी चाहिए और वे कैसी बुनियाद चाहते हैं ? वह है आत्मतत्त्व या ब्रह्मविद्या । इसीलिए इस संबंध में उनका कहना है कि "हमारी संस्थाएँ इतनी शुष्क होती जा रही हैं कि उनमें कुछ आत्मतत्त्व ही नहीं दिखाई देता । मनुष्यों में तो यह होता ही है, लेकिन क्या संस्थाओं में भी आत्मा नहीं होती ? नहीं । नयी तालीम, खादी-ग्रामोद्योग आदि में सारा ऊपरी 'टेकनिक' ही होता है । नयी तालीम के साथ क्या जुड़ना चाहिए, आदि के बारे में केवल अनुभव ही बताये जाते हैं । किन्तु ज्ञान और कर्म को बिलकुल एकरूप बनाने की असली बात तो बनती ही नहीं ।"

इसी दृष्टिकोण से उन्होंने नयी तालीम के बारे में यह टीका की है : "मैं यह सारा चिंतन करता हूँ, तो मुझे लगता है कि हमारा उद्योग के जरिये तालीम देने का विचार बिलकुल ही स्थूल है । मैंने पहले ही कहा था कि नयी तालीम का ध्येय है गुण-विकास, न कि केवल उद्योग के जरिये पढ़ाना । पुस्तकों के जरिये पढ़ाना एकांगी है । लेकिन हमारा मूल उद्देश्य है गुण-विकास । फिर उसके लिए आजीविका की दृष्टि से उद्योग की तालीम, मानसिक विकास के लिए चिन्तन, ध्यान, भक्ति, उपासना, आदि सब आता है । अगर मूल उद्देश्य आत्मविकास, गुण-विकास न रहा, तो नयी तालीम भी एक 'टेकनिक' बन जायगा, जैसा कि फ्रोबेल, माण्टेसरी आदि बने हैं । मुझसे पूछा जाता है कि माण्टेसरी-पद्धति और आपकी पद्धति में क्या फर्क है ? माण्टेसरी का एक खेल-सा चलता है । मैं यह नहीं कहना चाहता कि वह निकम्मी चीज है । उसने भी काफी खोज की है । परन्तु गांधीजी ने जो हमसे कहा था कि बच्चा माँ के पेट में आता है, तब से लेकर श्मशान तक पूरा जीवन नयी तालीम है । इसलिए अगर हम नयी तालीम का एक तंत्र बनायेंगे, जैसा कि सरकार का बनता है, तो हम शुष्क बनेंगे । फिर तंत्र ही तंत्र रह जायगा, उसमें

से मंत्र खतम हो जायगा।" शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मंत्र है गुणविकास और उसके माध्यम से आत्मज्ञान का विकास।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अगर नयी तालीम की बुनियाद ब्रह्मविद्या है, तो नयी तालीम-विद्यालयों के कम उम्र के छात्र-छात्राओं को ब्रह्मविद्या की शिक्षा कैसे दी जा सकती है? माँ के पेट से लेकर मृत्यु तक, पूरा जीवन शिक्षाकाल है। सयाने होने पर तो ब्रह्मविद्या सरल हो सकती है, परन्तु नयी तालीम के विद्यालयों में बच्चों को ब्रह्मविद्या सिखाने के लिए कैसे प्रयोग किये जायँ? आत्मज्ञान सिखाने के बारे में विनोबाजी ने अपने एक निबन्ध में इस प्रकार विचार व्यक्त किये हैं: "ब्रह्मविद्या के लिए अधिकार चाहिए। ज्ञान-प्राप्ति में भी अधिकारवाद की बात आती है। फिर उसमें क्रम की जरूरत होती है। कौन-सा ज्ञान कब प्राप्त हो, इसका एक क्रम होता है। कोई बच्चा मेरे पास आये और मैं आरम्भ से ही उसे कहूँ कि 'तुम शरीर की परवाह मत करो, हम शरीर नहीं हैं, शरीर से भिन्न हैं', तो मैं गलती करूँगा। उस बच्चे को तो इसी प्रकार समझाना होगा कि 'तुम्हें शरीर मजबूत बनाना चाहिए'। जब वह इस बात को समझ जाय, तब फिर मुझे उसे यह बता देना चाहिए कि 'शरीर ही सब कुछ नहीं है। मौके पर इसे भी फेंक देना पड़ता है।' इसी तरह ब्रह्मवाद का किसी जरूरी चीज पर हमला होता है, तो फिर कुछ देर तक उस ज्ञान को दूर रखना होगा। जो थोड़ी-बहुत छात्र-छात्राएँ आयेंगी, उनको लेकर ही संतुष्ट रहना होगा।" इसके बाद उन्होंने नयी तालीम-केन्द्रों को अब से कैसे चलना चाहिए और उनका पाठ्यक्रम कैसा होना चाहिए, इस बारे में अपनी राय व्यक्त की। उससे ज्ञात होता है कि वे नयी तालीम के छात्र-छात्राओं के गुण-विकास या आध्यात्मिक विकास के ऊपर अधिक-से-अधिक भार देना चाहते हैं। इस व्यवस्था के कारण जो भी मुट्ठीभर छात्र-छात्राएँ आयेंगी, उनके लिए निम्नलिखित कार्यक्रम रहेगा:

(१) ५ घंटा—कार्य।

(२) ५ घंटा—स्वाध्याय ।

(३) २ घंटा—विकर्म (चिन्तन, मनन और जो मन में आया, उसे करना) ।

(४) ४ घंटा—स्नान, आहार तथा अन्य कार्य ।

(५) ८ घंटा—विश्राम और निद्रा ।

कार्य में आधा घंटा कताई का रहेगा । अन्य कार्यों में प्रेम का काम, कृषि आदि होगा ।

एक भाषा ऐसी सीखनी चाहिए, जिसमें वह अपने मन की भावना पूर्ण रूप से प्रकट कर सके । इसके अतिरिक्त साधारण हिसाब-किताब रखना भी सीखना होगा ।

संस्कृत धर्मग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से करना होगा ।

विद्यालय अध्ययन-प्रधान होगा । ज्ञान और कार्य में एकरूपता लाने पर विशेष जोर देना होगा । ज्ञान-प्राप्ति में जल्दी करने की इच्छा नहीं होनी चाहिए । वह क्रमिक विकास का कार्यक्रम है । जैसे स्कूल का ज्ञान प्राप्त करने पर कॉलेज में दाखिल हो सकते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के विषय में समझना चाहिए । सृष्टि के मूल में जो तर्कशास्त्र है, उससे आरम्भ नहीं करना चाहिए ।

विनोबाजी की असम-यात्रा के समय रास्ते में (मार्च १९६१ का प्रथम सप्ताह) श्री राधाकृष्णन (सर्व-सेवा-संघ के सहायक-मंत्री तथा विघटित हिन्दुस्तानी तालीम-संघ के मंत्री) देश के विभिन्न स्थानों के गैर सरकारी नयी तालीम-केन्द्रों में नयी तालीम का कार्य कैसा चल रहा है, उसका विवरण विनोबाजी को देने के लिए तथा उनका आगामी कार्यक्रम कैसा होना चाहिए, इस बारे में उनसे सलाह लेने के लिए आये थे । उनके विवरण से ज्ञात हुआ कि बुनियादी या उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण अनेक छात्र अपने शिक्षण से असंतुष्ट हैं । उनके मन में यह क्षोभ है कि वे बुनियादी या उत्तर-बुनियादी शिक्षा समाप्त करने पर भी सरकारी नौकरी प्राप्त करने के अधिकारी नहीं समझे जाते । वे उच्च शिक्षा

पाने के लिए साधारण स्कूल-कॉलेजों में भरती होने की सुविधाएँ भी नहीं पाते। इस पर विनोबाजी ने दृढ़तापूर्वक कहा : गैरसरकारी नयी तालीम-केन्द्रों में यह स्पष्ट लिख दिया जाय कि वहाँ पढ़ने से सरकारी नौकरी नहीं मिल सकेगी और वहाँ से कोई सार्टिफिकेट नहीं मिलेगा। उससे नयी तालीम की शिक्षा-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए तथा विनोबाजी की मानसिक गति किस ओर है, ज्ञात होता है। आप विशेष रूप से चाहते हैं कि नयी तालीम में गुण-विकास या अध्यात्म-विकास पर विशेष जोर दिया जाय। उससे छात्र-छात्राओं की संख्या अत्यन्त कम होने पर भी केवल उन्हीं को लेकर नयी तालीम की विशेषता को प्रकाश में लाने और विकसित करने पर अन्तःकरण से जुट जाना होगा। नयी तालीम के गैरसरकारी केन्द्र प्रारम्भिक अवस्था में कार्य के माध्यम से शिक्षा देने के अनुसंधान-गृहों में परिणत हो गये थे। वह परीक्षण सफल हुआ है। इसी कारण देश की जनता और सरकार को उसे ग्रहण करने के लिए विश्वास के साथ कहने में समर्थ हो सके हैं। गुण-विकास तथा आध्यात्मिकता ही नयी तालीम का मुख्य ध्येय है, यह दिखाने का अब समय आ गया है। गैरसरकारी नयी तालीम के गैरसरकारी केन्द्रों को अब ब्रह्मविद्या और गुण-विकास के लक्ष्य को सामने रखकर अनुसंधान-केन्द्र खोलने चाहिए। जब हम परीक्षा में सफल होंगे और उनके फलस्वरूप नयी तालीम का विशेष गुण तथा उसका सही रूप छात्र-छात्राओं की शिक्षा और जीवन में प्रस्फुटित होगा, तब वह सबकी दृष्टि आकृट किये बिना नहीं रहेगा। तभी वह व्यापक क्षेत्र में चालू हो सकेगा।

● ● ●

अध्याय ४१ नयी तालीम का नया पर्व

सन् १९५६ में जब दक्षिण-भारत के तमिलनाड (मद्रास) इलाके में विनोबाजी की पद-यात्रा चल रही थी, तब श्री आर्यनायकम्जी भी पदयात्री-दल में शामिल थे। उस समय विनोबाजी ग्राम-दान और ग्राम-स्वराज्य पर विशेष रूप से जोर दे रहे थे। वहाँ उन दिनों काफी ग्राम-दान प्राप्त भी हो रहे थे। वहाँ की राज्य-सरकार ग्राम-दान के सम्बन्ध में आग्रहशील थी और विभिन्न प्रकार के ग्रामदानी गाँवों के निर्माण-कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए अग्रसर हुई थी। इस वातावरण में घूम-घूम-कर आर्यनायकम्जी बहुत ही प्रभावित और अनुप्राणित हुए। उनके मन में यह धारणा उत्पन्न हुई कि अब नयी तालीम का असली काम आरम्भ करने का समय आ गया है। नयी तालीम का चरम लक्ष्य है, अहिंसक समाज का निर्माण। अब तक प्रत्यक्ष रूप से अहिंसक समाज-निर्माण का काम करना नयी तालीम के लिए सम्भव नहीं हुआ था। इसके लिए अनुकूल स्थिति भी नहीं थी। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने ग्राम-दान और ग्राम-स्वराज्य का रूप ग्रहण कर लिया है, इसके फलस्वरूप अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति को प्रत्यक्ष रूप देने का सुयोग उत्पन्न हुआ है। ग्रामदानी गाँवों में नयी तालीम की लक्ष्य-सिद्धि के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार हुआ है। नयी तालीम बुनियादी से आरम्भ होकर पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और विश्वविद्यालय (उत्तम बुनियादी) तक विकसित हुई है और सेवा-ग्राम तथा अन्य कुछ स्थानों में उसका आदर्श प्रस्तुत किया गया है। अब अहिंसात्मक क्रान्ति के काम में हाथ लगाने का अवसर उपस्थित हुआ है। इतने दिनों तक नयी तालीम के गवेषणा-गृह में काम चल रहा था। परीक्षण सफल हुआ है। अब उसके

व्यापक रूप से संचालन के लिए अनुकूल क्षेत्र की आवश्यकता है। नयी तालीम के माध्यम से ग्राम-स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत करने का काम, अहिंसक समाज-निर्माण का काम राजशक्ति द्वारा हो सकना सम्भव नहीं है। वह सरकार-निरपेक्ष स्वतंत्र जनशक्ति के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। नयी तालीम ही जनशक्ति के निर्माण के काम में प्रधान सहायक बन सकती है। इस स्थिति में, सन् १९५७ के जनवरी महीने में, दिल्ली की हरिजन-बस्ती में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की जो बैठक हुई, उसमें श्री आर्यनायकम्‌जी ने इस बात का आभास दिया कि वर्तमान सम्प्रसारित क्षेत्र में किस प्रकार काम चल सकता है। उन्होंने कहा : "अब तक हमने पुरानी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में नयी तालीम का जो काम किया, वह एक समझौते का काम रहा है—एक अधूरे शिक्षा-क्रम का असम्पूर्ण प्रयोग रहा है।...अब सिर्फ बुनियादी शाला का मकान नयी तालीम का क्षेत्र नहीं रहेगा—सारा ग्राम ही नयी तालीम का विद्यालय बन जायगा। गाँव के सब कुशल किसान और कारीगर नयी तालीम के शिक्षक होंगे और बच्चे से लेकर बूढ़े तक, सब ग्रामवासी नयी तालीम के विद्यार्थी होंगे। तब बापूजी का यह सूत्र सार्थक होगा—'अब नयी तालीम का क्षेत्र सात से चौदह साल तक के बालक नहीं हैं, बल्कि जब वे माँ के पेट में आते हैं, तब से लेकर मरने तक नयी तालीम का क्षेत्र है।'

"जब भी हम किसी गाँव या शहर में नयी तालीम की शाला खोलने की बात सोचते हैं, तब तुरन्त हमारे सामने प्रश्न खड़ा होता है कि शाला के लिए मकान, खेती के लिए जमीन और उद्योग के लिए साधन कहाँ से मिलेंगे? ग्रामदान से तो सारा गाँव 'एक परिवार' हो गया। सारी जमीन गाँव की जमीन हो गयी। तब बुनियादी शाला के लिए अलग मकान की या अलग जमीन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। जहाँ-जहाँ खेती का काम चलेगा, गाँव के सब बच्चे और नयी तालीम के शिक्षक वहाँ काम करेंगे। गाँव के अच्छे किसान उनका मार्ग-दर्शन करेंगे और

वही नयी तालीम की खेती होगी। गाँव में सबके लिए वस्त्र-स्वावलम्बन का काम चलेगा। घर-घर में चरखे चलेंगे, करघे चलेंगे। गाँव के कुशल बुनकर बुनाई सिखायेंगे। गाँव के बढ़ई के पास बच्चे बढ़ईगिरी सीखेंगे। शिक्षक का काम केवल यही रहेगा कि इन उद्योगों के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जोड़ दे। इस प्रकार विनोबाजी की 'एक घंटे की शाला' का काम चलेगा। गाँव में सुबह-शाम प्रार्थना होगी, अच्छे धर्म-ग्रन्थों का वाचन होगा। गाँव की भजन-मंडली से बच्चे भजन सीखेंगे। स्कूल में अलग-अलग संगीत-शिक्षक की आवश्यकता नहीं रहेंगी। जब इस प्रकार गाँव को स्कूल मानकर काम होगा, तब नयी तालीम का सच्चा काम होगा। अब इसके लिए समय आ गया है। इस ऐतिहासिक मुहूर्त को हमें पहचान लेना चाहिए।

"इसलिए मैंने कहा कि अब नयी तालीम का दूसरा अध्याय शुरू हो रहा है। वह है, नयी तालीम के द्वारा नये समाज की रचना का अध्याय। इसलिए अब हमें ग्रामदानी गाँवों में ग्राम-राज्य-रचना का काम हाथ में लेना होगा और मेरी राय में यही नयी तालीम का आगे का कार्यक्रम होना चाहिए।"

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की उक्त बैठक में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया, उसमें नयी तालीम के कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया गया कि जहाँ कहीं भूदान-यज्ञ-मूलक अहिंसक समाज-क्रान्ति का काम सर्वोदय-मंडलों ने ग्रहण किया है, वहाँ वे उनके साथ पूर्ण सहयोग करें। इसके उपरान्त तुर्की में जो हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का वार्षिक सम्मेलन हुआ, उसमें इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया। विचार-विमर्श का सारा-तत्त्व यही था कि अभी ग्राम-स्वराज्य-स्थापना का प्रश्न प्रत्यक्ष और व्यावहारिक रूप से सामने आने से नयी तालीम को वास्तविक और परिपूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा में परिणत होने का सुयोग मिला है। ग्राम-स्वराज्य में प्रत्येक नागरिक के पोषण और शिक्षण की व्यवस्था तो करनी ही होगी। इसके अलावा उसमें रक्षण की व्यवस्था भी करनी होगी। जिस शिक्षा

में मनुष्य श्रमाश्रित उत्पादन के माध्यम से स्वावलम्बी होकर अपने और अपने आश्रितों के पोषण की व्यवस्था करने की शिक्षा पाता है और जो शिक्षा मनुष्य को निर्भय होकर अहिंसात्मक रीति से अपनी और अपने पड़ोसियों की रक्षा करने की शिक्षा देती है, वही वास्तविक शिक्षा है। इसलिए अब शिक्षा का कार्यक्रम इसी ढंग से विकसित होना चाहिए। विनोबाजी ने अब ग्राम-शिक्षा और ग्राम-रक्षा, दोनों को संयुक्त करके देश के सम्मुख नयी तालीम का समग्र रूप प्रस्तुत किया है। ग्राम-रक्षा के लिए उन्होंने महात्मा गांधी की शान्ति-सेना की कल्पना को नवीन रूप में उपस्थित किया है। ग्राम-स्वराज्य की रक्षा के लिए शान्ति-सैनिकों की आवश्यकता है। सर्वोदयी कल्पना के शासनमुक्त समाज का आधार है, ग्राम-स्वराज्य! शासन-मुक्त समाज के संबंध में विचार करते समय सैन्य-बल-विहीन देश-रक्षा की बात पर भी विचार करना पड़ता है। शांति-सैनिक साधारणतः सेवा-सैनिक के रूप में सतत लोक-सेवा का काम करेंगे, किंतु कहीं अशांति उपस्थित होगी, तो वे अपना जीवन समर्पित करके भी अशांति के प्रतिकार की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार यदि शांति-सेना देश की आन्तरिक शांति-रक्षा करने में सक्षम हो, तो देश की रक्षा भी बिना सैन्य-बल के की जा सकती है—इस विश्वास को दृढ़ करना सम्भव होगा। यों भूदान-यज्ञ-आंदोलन की शांति-सेना का कार्यक्रम ग्राम-दान और ग्राम-स्वराज्य के कार्यक्रम के प्रधान परिपूरक कार्यक्रम के रूप में उपस्थित किया गया है। इस स्थिति में तालीमी संघ ने यह मत व्यक्त किया कि देश के नयी तालीम के शिक्षकगण वास्तविक शांति-सैनिक हो सकते हैं। संघ ने यह अनुभव किया कि ग्राम-दान, ग्राम-स्वराज्य और शांति-सेना का कार्यक्रम नयी तालीम के सेवकों के समक्ष एक चुनौती जैसा बन गया है। ऐसी स्थिति में संघ ने ग्राम-रक्षा को नयी तालीम के शिक्षा-क्रम में शामिल करने की प्रेरणा प्राप्त की और नयी तालीम की संस्थाओं तथा कार्यकर्ताओं से यह अपील की कि "वे इसे नयी तालीम के कार्यक्रम के तौर पर अपनायें, इसके द्वारा अपने व्यक्तिगत और पारि-

वारिक जीवन को शुद्ध करें तथा नव समाज के निर्माण में सक्रिय भाग लें।" संघ ने यह भी निश्चय किया : "राष्ट्रीय शिक्षा के इस कार्यक्रम के लिए शिक्षा-क्रम बनाना, कार्यकर्ताओं का संग्रह करना, उन्हें तैयार करना और गाँव-गाँव में ग्रामवासियों की संपत्ति और सहयोग के आधार पर ग्राम-शिक्षा का काम चलाना—यह हमारा भावी कार्यक्रम है।" इस समय से नयी तालीम के अनेक शिक्षकों और छात्रों ने भूदान-यज्ञ-आंदोलन में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया और अनेक ग्रामदानी गाँवों में ग्राम-स्वराज्य के निर्माण-कार्य में लगे। नयी तालीम के बहुत-से कार्यकर्ता और शिक्षक शान्ति-सैनिक बने। शांति-सैनिकों को शिक्षा देने का काम भी नयी तालीम ने ग्रहण किया। इस प्रकार नयी तालीम का नया पर्व आरंभ हुआ। ● ● ●

अध्याय ४२ तालीमी संघ का विलयन

महात्मा गांधी के देहान्त के कुछ ही समय बाद, मार्च १९४८ में, सम्पूर्ण भारत के रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सेवाग्राम में एक सम्मेलन हुआ और उन्होंने गम्भीरता से इस बात पर विचार किया कि किस तरह संगठन करने से महात्मा गांधी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर रचनात्मक कार्य चलेगा तथा उसे सही ढंग से संचालित कर सकना सम्भव होगा। बहुत विचार-विमर्श के उपरान्त सर्व-सेवा-संघ की स्थापना की गयी। उक्त सम्मेलन का अभिप्राय यह था कि महात्मा गांधी द्वारा स्थापित सभी रचनात्मक संस्थाओं का सर्व-सेवा-संघ में विलय कर दिया जाय और सर्व-सेवा-संघ समस्त भारत के रचनात्मक कार्यों की एकमात्र प्रातिनिधिक एवं पथ-प्रदर्शक संस्था का स्वरूप ग्रहण कर ले। तदनुसार ही अखिल भारतीय चरखा संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, गोसेवा संघ एवं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का सर्व-सेवा-संघ में विलय कर दिया गया। केवल तालीमी संघ का विलय बाकी रहा। गत मई महीने (१९५९) में पंजाब राज्य के राजपुरा नामक स्थान में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में विनोबाजी ने इस बात के लिए विशेष आग्रह किया कि हिन्दुस्तानी तालीमी संघ अविलम्ब सर्व-सेवा-संघ में विलीन हो जाय। इस पर हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने भलीभाँति विचार-विमर्श के उपरान्त वहीं सर्व-सेवा-संघ में मिल जाने का प्रस्ताव स्वीकार किया। तदुपरान्त गत जून महीने (१९५९) में जम्मू में विनोबाजी के सामने (विनोबाजी की कश्मीर की पदयात्रा के दौरान में) हिंदुस्तानी तालीमी संघ की कार्य-समिति और सर्व-सेवा-संघ की प्रबन्ध समिति की एक संयुक्त बैठक हुई, जिसमें सर्व-सेवा-संघ में

शामिल होने से सम्बद्ध सभी बातों पर विचार किया गया और तालीमी संघ के सर्व-सेवा-संघ में विलय का सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया। अखिल भारतीय सर्व-सेवा-संघ में तालीमी संघ का यह विलय महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यों के संगठन के इतिहास में एक महान् घटना माना जायगा।

महात्मा गांधी कांग्रेस को यही उपदेश दे गये थे कि "देश को स्वाधीन करना कांग्रेस का लक्ष्य था। अब देश स्वाधीन हो गया है। अब कांग्रेस को चाहिए कि वह जनसाधारण की सेवा में अपने को लगाये। इसके लिए उसे 'लोकसेवक संघ' में परिणत हो जाना चाहिए।" विनोबाजी कहते हैं कि यह परामर्श कांग्रेस के लिए महात्मा गांधी का अन्तिम वसीयतनामा था। महात्मा गांधी चाहते थे कि एक लोक-सेवक संघ की स्थापना हो और उसमें कांग्रेस तो पूरी तरह विलीन हो ही; खादी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम, महिला-उद्धार, हरिजन-सेवा, सिन्दू-मुसलिम-एकता, शान्ति-स्थापन, आर्थिक समता-स्थापन आदि उनके रचनात्मक कार्यक्रम चलानेवाली सभी संस्थाएँ सब अपने कार्यकर्ताओं सहित उस लोक-सेवक संघ में विलीन हो जायँ। कांग्रेस और रचनात्मक संस्थाएँ तथा उनके कार्यकर्ता यदि इस प्रकार मिल-जुलकर लोक-सेवक संघ की स्थापना कर देते, तो सारे देश पर इसका भारी प्रभाव पड़ता और कांग्रेस देश की सबसे बड़ी सेवा-संस्था में परिणत हो जाती। परिणामतः देश में एक विराट् नैतिक शक्ति का उदय होता और उसके द्वारा जनसाधारण को सही मार्ग पर ले जाया जा सकता, जनसाधारण की निष्काम एवं निष्पक्ष सेवा की सुव्यवस्था होती, उसके समक्ष नैतिक विचार प्रस्तुत कर सकना सम्भव होता और सरकार से कोई भूल होने पर तटस्थ भाव से उसे जनसाधारण के समक्ष उपस्थित कर सकना सम्भव होता। कांग्रेस यदि ऐसा कर सकती, तो देश के स्वाधीनता-संग्राम में उसे जो पुण्य प्राप्त हुआ था, उसका वास्तविक सद्व्यवहार किया जा सकता और उस पुण्य का फल भी कई गुना होता। किन्तु कांग्रस के नेताओं ने सोचा कि देश को विशृंखलता से

बचाने के लिए कांग्रेस को राज्यकार्य का दायित्व अनिवार्य रूप से ग्रहण करना चाहिए। इस कारण कांग्रेस गांधीजी के आदेश का पालन न कर सकी। इसका जो परिणाम आज उपस्थित हुआ है, उसका विशुद्ध चित्र विनोबाजी ने यों अंकित किया है : "यही कारण है कि आज हालत यह है कि एक नैतिक आवाज उठाकर सब लोग उसके अनुसार काम करें, ऐसी कोई संस्था या ऐसे कोई व्यक्ति देश में नजर नहीं आ रहे हैं। कांग्रेस के नेता, जो एक जमाने में देश के नेता थे, आज एक पार्टी के नेता बन गये हैं। नयी-नयी पार्टियाँ निकल रही हैं और उनके नेता जनसमाज के सामने एक-दूसरे का खंडन करते हैं। इससे निष्क्रिय जनता में किसी प्रकार की क्रियाशीलता नहीं आ रही है। एक-दूसरे का शब्द तोड़ने का काम हो रहा है। जिसे हम नैतिक नेतृत्व कह सकते हैं, उसका सर्वथा अभाव है। ऐसी कोई बड़ी संस्था या जमात नहीं है, जो अपनी ताकत से देश पर असर डाल सके और देश को गलत रास्ते पर जाने से लौटा सके। इससे देश में एक प्रकार की निष्क्रियता, शून्यता, रिक्तता, खालीपन आ गया है और जनता विभ्रान्त हो गयी है। कहाँ जायँ और कहाँ न जायँ—यह जनता की समझ में नहीं आ रहा है। एक नेता कहता है—'इधर चलो', तो दूसरा कहता है—'उधर चलो'। ऐसी हालत में जनता में शक्ति होनी चाहिए। लेकिन इतनी शक्ति जनता में नहीं आयी है कि वह ठीक तरह से सोचे और स्वयं अपने फैसले कर सके। एक नेता दूसरे को गाली देता है, उसका खंडन करता है, तो दूसरा नेता पहले को गाली देता है और लोग दोनों की गालियाँ सुनते हैं। इससे बचानेवाली तारक शक्ति का अभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ रहा है। ऐसा न होता, अगर गांधीजी की वह सलाह मान ली गयी होती।"

सर्व-सेवा-संघ की स्थापना के पीछे क्या विचार था, वह इससे स्पष्ट हो जाता है। कांग्रेस तो गांधीजी के उपदेश का पालन कर नहीं सकी। इस स्थिति में रचनात्मक संस्थाएँ तथा देश के रचनात्मक कार्यकर्ता गांधीजी के उपदेश का पालन करके एक ही संस्था में शामिल होकर यथा-

सम्भव गांधीजी की मनोवांछित नैतिक शक्ति तैयार करने की चेष्टा करेंगे। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "यह सोचा गया कि गांधीजी के बाद वह ताकत चाहे पैदा न हो, लेकिन लोगों को एक राह दिखाने के लिए, सलाह देने के लिए एक ऐसी संस्था तो होनी ही चाहिए। ऐसा सोचकर सर्व-सेवा-संघ बनाया गया।"

जिन-जिन कारणों से सर्व-सेवा-संघ में तालीमी संघ के विलय की विशेष आवश्यकता थी, वे प्रधानतः ये हैं :

(१) नयी तालीम को एक कार्यक्रम के रूप में भूदान-यज्ञ के साथ जोड़ने की आवश्यकता है।

(२) इस समय सरकार द्वारा नयी तालीम का वास्तव में कुछ काम होने की आवश्यकता है। किन्तु इसके अनुकूल व्यापक जनमत तैयार न होने से इसके होने की सम्भावना कम है। इसलिए सबको सम्मिलित रूप से चेष्टा करके इस जनमत का निर्माण करना होगा।

(३) सरकार बुनियादी तालीम को दो भागों में बाँटना चाहती है—पहले भाग में ५ वर्ष और दूसरे भाग में ३ वर्ष। किस श्रेणी से अंग्रेजी-शिक्षा आरम्भ की जाय, यह समस्या भी पैदा हुई है। फिर भविष्य में समस्त शिक्षा को नयी तालीम में परिणम करने की बात भी सरकार के सामने है। नयी तालीम का काम सरकार से व्यापक पैमाने पर कराने के लिए कुछ विषयों में बहुत कड़ाई की नीति बरतने से काम नहीं चलेगा। इन सब मामलों में सब लोगों को एकमत होकर दृढ़तापूर्वक सरकार से बात करने की जरूरत है।

(४) भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य-आन्दोलनों में रूपान्तरित होने के फलस्वरूप नयी तालीम का क्षेत्र व्यापक होने और उसका रूप बदलने का अवसर आ गया है।

सर्व-सेवा-संघ के साथ तालीमी संघ का यह मिलन विराट् सम्भावनाओं से पूर्ण है। कारण, विनोबाजी चाहते हैं कि खादी, ग्रामोद्योग आदि जो अन्य रचनात्मक कार्य चल रहे हैं, उन सबको नयी तालीम का

अंग बना दिया जाय। व्यवहारतः समाज-निर्माण की समस्त चेष्टाओं को प्रौढ़-शिक्षा-कार्यक्रम मानना उचित होगा। मूल प्रस्ताव की दृष्टि से इन सब रचनात्मक कार्यों को नवीन समाज-निर्माण का शिक्षाक्रम मानना उचित है। इस दृष्टि से देखने पर यह बात समझ में आ जाती है कि महात्मा गांधी ने ऐसा क्यों कहा था कि नयी तालीम उनकी 'अन्तिम और सर्वोत्तम' देन है। नयी तालीम में उनके अन्य सब रचनात्मक कार्यों का समावेश हुआ है—इसीलिए उन्होंने ऐसा कहा था। इस सम्बन्ध में विनोबाजी कहते हैं : "हमारे पास लाखों कत्तिनें हैं। देश में हमारे २००-३०० छोटे-छोटे आश्रम हैं, जिनके जरिये खादी, ग्रामोद्योग आदि काम चलते हैं। लेकिन उन कामों में नयी तालीम का कोई खास प्रवेश नहीं हुआ है।...इसलिए अब सर्वसेवा-संघ को इस काम को उठाना चाहिए और अपने कुल काम को नयी तालीम का रूप देना चाहिए। तब हमें अनुभव आयेगा कि व्यापक परिमाण में काम कैसे करना है, सरकार व्यापक काम करती है, तो हम भी व्यापक हो सकते हैं। हमारे कुल कामों में करीब २०-२५ लाख व्यक्तियों से हमारा सम्बन्ध आता होगा। इतने व्यापक पैमाने पर काम कैसे किया जा सकता है, इसका कुछ नमूना हम पेश करें—इसकी देश को जरूरत है। हमें अपने सभी कामों को नयी तालीम का रंग देना चाहिए। ऐसा मुझे लगा। रंगवाली चीज नयी तालीम होगी। वह पानी में घुल-मिल जायगी, तो पानी को अपना रंग देगी।"

अतः रचनात्मक कार्यों से जो लोग सम्बद्ध हैं, उन सबके बीच नयी तालीम को प्रविष्ट कराना होगा। देश के समस्त रचनात्मक प्रयासों को नयी तालीम का अंग बनाना होगा। ऐसा करके नयी तालीम को व्यापक रूप से चलाने का नमूना जनता के सामने उपस्थित किया जा सकेगा। तब सरकार भी नयी तालीम को व्यापक रूप से चलाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकेगी। इस प्रकार नयी तालीम के विश्व-रूप धारण करने का मार्ग प्रशस्त होगा। ● ● ●

अध्याय ४३ विलय के पश्चात् सर्व-सेवा-संघ का कर्तव्य

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के सर्व-सेवा-संघ में विलीन हो जाने के फलस्वरूप नयी तालीम के विकास का दायित्व सर्व-सेवा-संघ पर आ गया है। इस दायित्व का स्वरूप क्या है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है। तालीमी संघ ने जब अपने विलय का प्रस्ताव स्वीकार किया था, तब उसने इसका आभास किया था। उस समय तालीमी संघ ने यह विचार व्यक्त किया था कि निम्नलिखित सप्तसूत्री उद्देश्य सामने रखकर नयी तालीम का भावी कार्यक्रम तैयार होना चाहिए। ये सात उद्देश्य थे :

(१) नयी तालीम एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बने।

(२) ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य की भूमिका में नयी तालीम का नया विकास हो।

(३) केन्द्रीय और राज्य-सरकारों द्वारा नयी तालीम का जो काम हो रहा है, उसका समुचित मार्ग-दर्शन किया जाय।

(४) नयी तालीम की शिक्षण-पद्धति और शिक्षण-शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से विकास किया जाय।

(५) सर्वोदय का काम करनेवाली संस्थाओं की सभी प्रवृत्तियों को नयी तालीम का रंग दिया जाय।

(६) देश की समस्त जनता को क्रान्ति-साधन और शान्ति कायम रखने के लिए तैयार किया जाय।

(७) जीवन में मूलभूत आध्यात्मिक श्रद्धा का विकास किया जाय।

● ● ●

अध्याय ४४ रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम में रँगने का अर्थ

विनोबाजी चाहते हैं कि नयी तालीम को व्यापक रूप देने के लिए रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम के रंग में रँग दिया जाय। इस बात को लेकर रचनात्मक कार्यकर्ताओं में चर्चा चल रही है। नयी तालीम के कार्यकर्ता भी विनोबाजी की इस कल्पना को कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम के रंग में रँगने का वास्तविक अर्थ क्या है? इसके लिए क्या करना होगा? अर्थात् इसे करने के लिए रचनात्मक काम अभी जिस ढंग से चल रहे हैं, उनमें क्या परिवर्तन या संशोधन करने की आवश्यकता होगी, यह समझ लेने की जरूरत है। रचनात्मक कार्य संस्थाओं अथवा आश्रमों के माध्यम से चल रहे हैं। संस्थाओं के कार्यकर्ता उन्हें चलाते हैं। उनके अलावा हर काम में शिल्पी होते हैं। जैसे कोई संस्था खादी का काम करती है। उस संस्था में रचनात्मक कार्यकर्ता उसका कार्य-सम्पादन करते हैं। वे तकली पर सूत कातते हैं, बुनकरों द्वारा कपड़ा बुनवाते हैं, धोबियों से उसे धुलवाते हैं, रंगरेजों से रंगवाते हैं और अन्त में भंडारों के माध्यम से उसकी बिक्री की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार इस काम के साथ जो लोग सम्बद्ध हैं, उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है: (१) संस्था, (२) रचनात्मक कार्यकर्ता और (३) शिल्पी। संस्था के कर्ता-पक्ष हैं, संस्था के कार्यकर्ता और शिल्पी। इन सबके बच्चों की शिक्षा के लिए नयी तालीम की व्यवस्था करनी होगी। इनकी शिक्षा साधारण स्कूल-कॉलेजों में नहीं होगी। फिर शिल्पियों और उनके परिवार-वालों के लिए जहाँ प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता हो, वहाँ उनके लिए नयी तालीम की पद्धति से प्रौढ़-शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। लेकिन

नयी तालीम के रंग में रँगने का अर्थ क्या केवल इतना ही होगा ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। उनके बच्चों के लिए तो नयी तालीम पद्धति की शिक्षा-व्यवस्था करनी ही होगी—अर्थात् उनकी शिक्षा का रंग तो बदलना ही होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर केवल इतने से ही काम पूरा नहीं हो जायगा। स्वयं रचनात्मक कार्यों का रंग बदलना होगा। उन्हें नयी तालीम का रँग देना होगा। निम्नलिखित रीति से आगे बढ़ने पर यह काम हो सकेगा।

(१) खादी का सामाजिक और आर्थिक उद्देश्य (Socio-economic purpose) क्या है और अहिंसात्मक क्रान्ति में उसका क्या स्थान है, इस सम्बन्ध संस्था के संचालकों, कार्यकर्ताओं और शिल्पियों को स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। महात्मा गांधी कहते थे : "कातो। समझ-बूझकर कातो।" अर्थात् सूत क्यों काता जा रहा है, इसे अच्छी तरह समझने का प्रयोजन है। चरखा अहिंसा का प्रतीक है। फिर अहिंसात्मक समाज के निर्माण में खादी का क्या स्थान है, यह सभी लोगों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। तभी 'अच्छी तरह समझकर सूत कातना' सम्भव हो सकेगा। खादी अहिंसा का प्रतीक है। जिस नये समाज का निर्माण करना हमारा लक्ष्य है, वह ग्रामोद्योग-प्रधान होगा और ग्रामोद्योगों के सौर-मण्डल में खादी का स्थान सूर्य जैसा रहेगा। इन सब बातों को भली-भाँति समझना होगा।

(२) सूत-कताई, बुनाई आदि काम वैज्ञानिक बुद्धि की सहायता से करने होंगे; अर्थात् प्रत्येक प्रक्रिया (Process) का 'क्या और क्यों' समझ लेना होगा। इस समझने के क्रम में जिन सब ज्ञानों की आवश्यकता होगी, उन्हें भी ग्रहण करना पड़ेगा।

इन दोनों ही पक्षों को नया रंग देना होगा। दो पक्षों (Aspects) में से किसी एक को छोड़ने से काम नहीं चलेगा।

इस तरह जब काम चलेगा, तभी कुटीरोद्योगों में प्राण-संचार होगा। सूत-कताई, बुनाई, तेल-पेराई आदि सभी कुटीरोद्योगों के काम अभी

सम्बद्ध शिल्पीगण जड़वत् चला रहे हैं। फलस्वरूप ये सारे उद्योग निर्जीव बन गये हैं। इसीलिए महात्मा गांधी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि नयी तालीम द्वारा कुटीरोद्योगों में प्राण-संचार किया जाय। सन् १९४५ में जब नयी तालीम की प्रौढ़-शिक्षा को जन्म देने का आयोजन हो रहा था, तब पूना में प्रौढ़-शिक्षा-समिति की एक बैठक हुई थी। इस बैठक में महात्मा गांधी ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से प्रौढ़-शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे। उनके द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से यह बात बहुत कुछ समझ में आ जाती है कि कुटीरोद्योगों को किस प्रकार नयी तालीम का रंग दिया जा सकता है। समिति के प्रस्ताव में यह कहा गया था कि रचनात्मक संस्थाएँ किसी-न-किसी पकार प्रौढ़-शिक्षा का काम कर रही हैं, अथवा उसे मदद पहुँचा रही हैं। इस विषय में महात्मा गांधी ने कहा था : "सब संस्थाएँ मदद तो करती हैं, लेकिन धंधा सिखाती हैं। यह 'शिक्षा है', ऐसा मेरे-जैसा आदमी तो नहीं कहेगा। मैं तो कहूँगा कि इन संस्थाओं की विविध प्रवृत्तियाँ जो धंधे दिखाती हैं, वही शिक्षा के वाहन हैं। प्रौढ़-शिक्षा का काम है, इन धंधों में प्राण डालना। आज यदि हम समझ लें कि हम अपने इन कामों से प्रौढ़-शिक्षा में मदद देते हैं, तो मानना चाहिए कि हमने प्रौढ़-शिक्षा को मार दिया। खादी का काम तालीमी संघ और चरखा संघ, दोनों जगह चलता है। लेकिन तालीमी संघ के काम को ऐसा आकर्षक बनाना है कि चरखा संघ भी कहने लगे कि हमारे काम को तालीमी संघ द्वारा पोषण मिलता है। इसी तरह तेल-घानी भी शिक्षा का वाहन है। वह शिक्षा का वाहन बनकर ही तालीमी संघ के सामने आती है। लेकिन आज हम कहें कि दूसरी संस्थाएँ भी प्रौढ़-शिक्षा का काम करती हैं, तो तालीमी संघ का काम बन्द कर देना पड़ेगा। यह प्रौढ़-शिक्षा की विचित्रता है। उसका क्षेत्र मर्यादित नहीं, व्यापक है।" इस समय विनोबाजी महात्मा गांधी के इस स्वप्न को मूर्त रूप देने के लिए प्रयत्नशील हैं और नयी तालीम की दृष्टि से कुटीरोद्योग चलाकर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की व्यवस्था कर रहे हैं।

(३) जिस ग्रामोद्योग का काम जो रचनात्मक कार्यकर्ता कर रहे हैं, उन्हें भी उस उद्योग की सभी प्रक्रियाओं के विषय में उपर्युक्त रीति से—बुद्धिपूर्वक और वैज्ञानिक रीति से—शिक्षा देनी होगी और यह समझाना होगा कि नये समाज के निर्माण में खादी आदि कुटीरोद्योगों का क्या स्थान और प्रयोजन है। तभी वे सूत कातनेवालों, बुनकरों आदि को इन बातों की शिक्षा दे सकेंगे।

(४) संस्थाओं को क्रान्ति की ओर अभिमुख किया जाना चाहिए। शोषणहीन, शासनमुक्त, स्वावलम्बी और अहिंसक समाज-रचना का लक्ष्य सामने रखना होगा। संस्थाओं की कर्मनीति और प्रत्येक कार्य में यह आदर्श प्रतिभासित होना चाहिए। तभी उन पर नयी तालीम का रंग चढ़ेगा। इसलिए संस्थाओं को व्यावसायिक (Commercial) नहीं बनने देना होगा। ये काम ग्राम-स्वावलम्बन के आधार पर चलने चाहिए। संस्थाओं को स्वयं ही व्यक्तिगत स्वामित्व-विसर्जन की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। उनकी अपनी जमीन हो, तो उन्हें चाहिए कि वे उसे गाँव को अर्पित कर दें। उनकी आय सीमित होनी चाहिए और आय का अधिकांश क्रान्ति के काम में लगना चाहिए। इस तरह संस्थाओं को भी अपरिग्रह की ओर बढ़ना चाहिए।

(५) संस्थाओं के कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत आय में समता होनी चाहिए। उनकी आय में विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। फिर उन्हें अपरिग्रह का आदर्श सामने रखकर चलना चाहिए।

रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम के रंग में रँगने का इन सबके अलावा क्या अर्थ है, यह कार्य करते-करते ही स्पष्ट हो जायगा। ● ● ●

अध्याय ४५ नयी तालीम-सम्मेलन का इतिहास

प्रायः प्रति वर्ष सारे देश के नयी तालीम के कार्यकर्ता और शुभ-चिन्तक किसी एक स्थान पर दो-तीन दिन के लिए आयोजित अखिल भारतीय नयी तालीम सम्मेलन में सम्मिलित होते हैं। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के ही आह्वान पर, और स्वयं उसीके तत्त्वावधान में, इस सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। इस सम्मेलन में गत वर्ष की कार्य-प्रगति पर विचार किया जाता है। देश के विभिन्न भागों में कार्य-संचालन के अनन्तर जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उनका विवरण इस सम्मेलन में सुनाया जाता है और फिर विचार-विमर्श किया जाता है। कार्य-संचालन के बीच जो असुविधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जो समस्याएँ सामने आती हैं, उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है। नयी तालीम के विस्तार और विकास के लिए उपाय ढूँढ़े जाते हैं। सम्मेलन में अध्ययन-मंडल की भी बैठक होती है। इस बैठक में नयी तालीम के विभिन्न अंगों पर विचारों का आदान-प्रदान किया जाता है। इन सबके अलावा यह सम्मेलन नयी तालीम के कार्यकर्ताओं के लिए एक 'स्नेह-सम्मेलन' का रूप ग्रहण करता है। वर्षान्त में होनेवाले इस सम्मेलन से उनमें भ्रातृ-भाव का विकास हो रहा है। वे सब अपने को एक परिवार के सदस्य मानना सीख रहे हैं। इसके फलस्वरूप एकताबद्ध होकर एक महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में सुविधा हुई है। सम्मेलन के साथ-साथ नयी तालीम की प्रदर्शनी का भी आयोजन किया जाता है। श्रीमती आशा-देवी इसे 'प्रदर्शनी' के स्थान पर 'नयी तालीम की परिचायिका' कहना पसन्द करती हैं, क्योंकि इससे नयी तालीम क्या है और उसकी कैसी प्रगति हो रही है, इसका परिचय मिलता है। नयी तालीम के विकास-

साधन में अखिल भारतीय नयी तालीम सम्मेलनों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है—यह बात निर्विवाद है। अतः सम्मेलन का संक्षिप्त इतिहास जानना अप्रासंगिक न होगा। 'नयी तालीम का उद्‌गम और क्रमिक विकास' शीर्षक अध्याय में नयी तालीम के सम्मेलनों का थोड़ा-बहुत उल्लेख हुआ है। यहाँ सम्मेलन के अधिवेशनों का क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

बम्बई-राज्य के कांग्रेसी मंत्रिमंडल के निमन्त्रण पर सन् १९३९ के नवम्बर महीने में पूना में पहला नयी तालीम सम्मेलन हुआ। उस समय सेवाग्राम में और कुछ राज्यों में नयी तालीम के शिक्षकों के प्रशिक्षण का काम चल रहा था और इन प्रशिक्षण-केन्द्रों से संलग्न प्रायोगिक विद्यालयों में नयी तालीम की पद्धति से कुछ-कुछ शिक्षण कार्य भी हो रहा था। उनकी प्रगति का विवरण उक्त सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया। इससे कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ा। सम्मेलन में अधिकांशतः नयी तालीम के तात्त्विक पक्ष पर विचार किया गया। इस सम्मेलन के आयोजन से कुछ पहले द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो चुका था। सम्मेलन के अधिवेशन के समय ही यह विचार आया कि युद्धविषयक परिस्थितियों के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया है। इसके फलस्वरूप लोगों के मन में स्वभावतः ही यह शंका उत्पन्न हो गयी कि जिन राज्यों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने नयी तालीम का काम हाथ में लिया था, वहाँ उसके कार्य-संचालन में बाधा आयेगी। फिर भी सब लोग आत्मविश्वास और उत्साह के साथ वापस लौटे।

दूसरा सम्मेलन सन् १९४१ के मई महीने में दिल्ली में डॉ० जाकिर हुसेन के जामिया मिलिया इस्लामिया में आयोजित हुआ। जिन राज्यों में बुनियादी तालीम का काम सरकारें चला रही थीं, उनमें से अधिकांश में कांग्रेसी मंत्रिमडलों के पदत्याग के कारण कार्य-संचालन भलीभाँति नहीं हो रहा था। दो-एक प्रदेशों में तो बुनियादी तालीम का काम बन्द ही कर दिया गया था। अतः विभिन्न राज्यों की इन कठिनाइयों पर

सम्मेलन में विचार किया गया। दो वर्ष के अनुभवों के आधार पर फलाफलों को देखते हुए शिक्षा-क्रम में आवश्यक संशोधन करने के बारे में भी विचार किया गया।

सन् १९४५ के जनवरी महीने में सेवाग्राम में डॉ० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में तीसरा सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। बीच में कई वर्षों से भारत में जन-आन्दोलन चल रहा था। जेल से बाहर आते ही महात्मा गांधी ने नयी तालीम के प्रकार के लिए जो प्रस्ताव उपस्थित किया था, वह इस सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया। सम्मेलन में पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और प्रौढ़-शिक्षा को नयी तालीम में शामिल करने की सिफारिश की गयी। जो विद्यार्थी बुनियादी तालीम प्राप्त कर रहे थे, उनका आठ वर्षों का शिक्षा-काल समाप्ति पर आ रहा था। इसलिए उत्तर-बुनियादी तालीम के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया गया।

सब राज्यों में से केवल बिहार में सरकार द्वारा १९३९ से १९४७ तक के आठ वर्षों में अविच्छिन्न रूप से बुनियादी तालीम का काम चलाया जा रहा था। इसीलिए ऐसा सोचा गया कि यदि अखिल भारतीय नयी तालीम सम्मेलन का आयोजन बिहार में किया जाय, तो अन्यान्य राज्यों के सभी लोग बुनियादी तालीम का स्वरूप प्रत्यक्षतः देखकर प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे। अतः सन् १९४८ में बिहार राज्य-अन्तर्गत पटना जिले के विक्रम बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय में चौथा नयी तालीम-सम्मेलन हुआ। अब तक देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी। अतः केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकारों के प्रतिनिधियों तथा रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने इस सम्मेलन में योगदान किया। सम्मेलन में विनोबाजी और डॉ० जाकिर हुसेन ने अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा सबके समक्ष नयी तालीम का विचार प्रस्तुत किया। इस सम्मेलन में हुई चर्चा के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि जो लोग सरकार के अधीन नयी तालीम का काम करते थे और जो लोग गैर-सरकारी तौर

पर यह काम कर रहे थे, उन दोनों ने नयी तालीम को एक ही अर्थ में ग्रहण नहीं किया था।

पाँचवाँ सम्मेलन सन् १९४९ में मद्रास-राज्य के कोयम्बूतर सर्किल के पेरियनायकम्-पालयम् नामक ग्राम में हुआ। मद्रास-सरकार के भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री श्री अविनाशलिंगम् चेट्टियर नयी तालीम के उत्साही समर्थक थे। उस समय वे हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के सदस्य भी थे। पेरियनायकम्-पालयम् गाँव में एक उत्तम बुनियादी शिक्षक-प्रशिक्षण-केन्द्र चल रहा था। वे उक्त केन्द्र के अन्यतम प्रतिष्ठाता थे। नयी तालीम के विशिष्ट विचारक और अध्यापक श्री अरुणाचलम् उक्त प्रशिक्षण-केन्द्र का संचालन कर रहे थे। उन दिनों मद्रास-राज्य में ब्राह्मण-अब्राह्मण का संघर्ष चल रहा था। मद्रास के ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश निवासी अब्राह्मण हैं। अब्राह्मणों में ऐसा कुप्रचार किया जा रहा था कि नयी तालीम की शिक्षा-व्यवस्था अच्छी नहीं है, इसलिए उसे अब्राह्मणों के बीच चलाने की चेष्टा की जा रही है। इस कारण नयी तालीम के सम्बन्ध में ग्रामीणों का मनोभाव प्रतिकूल था। यद्यपि यह सम्मेलन नयी तालीम के लिए लिए बहुत ही उपयोगी स्थान में हो रहा था, फिर भी परिस्थिति ऐसी होने के कारण इसकी सफलता में लोगों को सन्देह था। कुप्रचार के फलस्वरूप लोगों के मन में जो शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं, उनमें से अधिकांश का विनोबाजी और डॉ० जाकिर हुसेन ने निराकरण किया। इन दोनों ही महानुभावों ने सम्मेलन में जो भाषण किये, वे बड़े प्रेरणादायी सिद्ध हुए। इस सम्मेलन की आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

इसके बाद सन् १९५० में उड़ीसा के अंगुल नामक स्थान में सम्मेलन का छठा अधिवेशन हुआ। अंगुल उड़ीसा के पुण्यस्मरणीय गोपबाबू (श्री गोपबन्धु चौधरी) का विशिष्ट कर्मक्षेत्र था। वहाँ उनके भाई श्री नवकृष्ण चौधरी (उड़ीसा के तत्कालीन मुख्यमंत्री, जिन्होंने सर्वोदय तथा भूदान-यज्ञ के काम में पूर्णतः आत्मनियोग करने के लिए मुख्यमंत्री-पद और राजनीतिक जीवन त्याग दिया) एवं उनकी पत्नी श्रीमती मालती

चौधरी नयी तालीम तथा सर्वोदय मार्ग पर ग्राम-निर्माण के अन्यान्य कार्य चला रहे थे। वहाँ उसी समय सर्वोदय-सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था। सर्वोदय-सम्मेलन के साथ नयी तालीम-सम्मेलन होने का यह पहला अवसर था। इसके पीछे एक उद्देश्य था। नयी तालीम के अनुसार 'नवमानव' का निर्माण न करने से सर्वोदय-समाज की स्थापना के क्षेत्र में अधिक आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं है। दूसरी ओर, सर्वोदय-समाज की स्थापना न होने से नयी तालीम की पूरी सफलता सम्भव नहीं है। नयी तालीम यदि आसपास के जनजीवन के साथ सम्पर्क स्थापित न करके विद्यालय तक ही सीमित रह जाय, तो विद्यालय हों अथवा उनके शिक्षक-शिक्षिकाएँ—उनमें तेजस्विता का अभाव रह जायगा। अंगुल-सम्मेलन ने सर्वोदय और नयी तालीम के इस परस्पर-सम्बन्ध की दिशा में लोगों को सचेत किया।

इसके बाद सातवाँ और आठवाँ सम्मेलन सेवाग्राम में क्रमशः सन् १९५१ और १९५२ में हुए। सेवाग्राम में इन कुछ वर्षों में नयी तालीम के प्रायः सभी स्तरों और सभी अवस्थाओं की शिक्षा (यथा, बुनियादी, पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और सामाजिक) का विकास किया गया था। वहाँ संगीत, कला और अन्यान्य मनोरंजक कार्यक्रमों के शिक्षण और अनुशीलन के साथ समन्वित रूप में नयी तालीम के विभिन्न स्तरों की शिक्षा चल रही थी। इसके साथ-साथ वहाँ नयी तालीम की कल्पना के नवसमाज की रचना का काम भी चल रहा था। वहाँ हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का अपना कृषि-फार्म और दुग्धालय भी स्वतंत्र रूप से मितव्ययिता और योग्यता के साथ संचालित हो रहा था। इसके अलावा सेवाग्राम, वर्धा और पवनार की रचनात्मक संस्थाएँ और आश्रम महात्मा गांधी, विनोबाजी, कुमारप्पाजी आदि नेताओं की देखरेख में सुचारु रूप से संचालित हुए थे। नयी तालीम-सम्मेलन के लिए इससे उत्तम वातावरण दूसरा हो नहीं सकता था। इसीलिए वहाँ लगातार दो-दो बार सम्मेलन का आयोजन किया गया। दोनों ही सम्मेलनों में केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों

के प्रतिनिधियों, विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं के संचालकों और सरकारी एवं गैरसरकारी नयी तालीम के शिक्षा-केन्द्रों के कार्यकर्ताओं ने योगदान किया। इन दोनों सम्मेलनों का कार्यक्रम पूर्ववर्ती सम्मेलनों से भिन्न था। यह इन दोनों सम्मेलनों की विशेषता थी। छह दिन तक अधिवेशन हुआ। पहले तीन दिन नयी तालीम के शिक्षकों-परिदर्शकों एवं कार्यकर्ताओं का कार्यक्रम चला। बुनियादी तालीम, उत्तर-बुनियादी तालीम, सामाजिक शिक्षा, आर्थिक समस्या आदि विषयों पर अलग-अलग अध्ययन-मंडलों का निर्माण किया गया और विभिन्न विषयों में पारंगत लोगों ने सम्बद्ध विषय के अध्ययन-मंडल में बैठकर विचार-विमर्श किया। इस प्रकार कार्यकर्ताओं को विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में चिन्तन करने और अपने अनुभवों का आपस में आदान-प्रदान करके एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचने का सुअवसर प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अध्ययन-मंडलों के विचार-विमर्श का सारांश खुले अधिवेशन में उपस्थित किया गया और उस पर विचार-विनिमय हुआ। अंतिम तीन दिन अखिल भारतीय बुनियादी तालीम सम्मेलन हुआ। इसमें कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त सरकारी शिक्षा-विभागों के अधिकारियों, बुनियादी संस्थाओं के व्यवस्थापकों, संचालकों और परिदर्शकों तथा नयी तालीम के समर्थक विशिष्ट लोगों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भी कुछ अध्ययन-मंडलों का गठन किया गया, जिन्होंने अलग-अलग विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श किया। सेवाग्राम के इन दोनों सम्मेलनों में नयी तालीम में निहित सम्भावनाओं की बहुत ही स्पष्ट रूप में व्याख्या हुई और उन्हें सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित किया गया। जिन सरकारी कर्मचारियों ने सम्मेलन में योगदान किया, उन्हें विशेष रूप से अनुप्रेरणा प्राप्त हुई।

नवाँ सम्मेलन सन् १९५३ में असम के टीटावर नामक स्थान में हुआ। इस सम्मेलन का आह्वान असम की सरकार ने किया था और इसमें असम के राज्यपाल, मुख्यमंत्री तथा शिक्षा-मंत्री ने नयी तालीम के प्रति अपनी श्रद्धा-भावना व्यक्त की थी। सम्मेलन के अध्यक्ष श्री

काकासाहब कालेलकर ने अपने भाषण में कहा कि सरकार को स्वयं अपने ही हित में नयी तालीम के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए तथा नयी तालीम-पद्धति से उत्तीर्ण छात्रों को मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

भारत के सुदूर-पूर्वी प्रदेश में नवाँ सम्मेलन होने के बाद अगले वर्ष (सन् १९५४ में) दसवाँ सम्मेलन देश के दूसरे छोर पर सौराष्ट्र के सणोसरा नामक स्थान में श्री काकासाहब कालेलकर की अध्यक्षता में हुआ। इस सम्मेलन में अध्ययन-मंडल की जो बैठक हुई, उसमें भूदान-यज्ञ के सम्बन्ध में नयी तालीम के कर्तव्य, लोक-शिक्षण, उत्तर-बुनियादी में जन-सम्पर्क, शिक्षकों का प्रशिक्षण, नयी तालीम के लिए साहित्य-निर्माण आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श हुआ।

सन् १९५६ में मई महीने के अन्त में मद्रास-राज्य के कांचीपुरम् नामक स्थान में हुए सर्वोदय-सम्मेलन के समय विनोबाजी की उपस्थिति में श्री काकासाहब कालेलकर की अध्यक्षता में नयी तालीम का ग्यारहवाँ सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में विनोबाजी ने उद्घाटन-भाषण किया। उन्होंने सम्मेलन में भी एक भाषण किया। अपने दोनों ही भाषणों में उन्होंने नयी तालीम के तत्त्वों और विचारों की गम्भीरतापूर्वक व्याख्या की। यहाँ सेवाग्राम के उत्तम-बुनियादी उत्तीर्ण स्नातक छात्रों को उपाधि-पत्र भी प्रदान किये गये। फिर सम्मेलन के दिन अपने प्रार्थना-प्रवचन में विनोबाजी ने प्रस्तावित 'एक घंटे की पाठशाला' के शिक्षाक्रम का विश्लेषण और व्याख्या की। इसके फलस्वरूप एक घंटे की पाठशाला के संबंध में अनेक लोगों के मन में जो सन्देह थे, वे दूर हो गये।

सन् १९५७ के नवम्बर महीने में बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत तुर्की नामक स्थान में श्री आर्यनायकम्जी की अध्यक्षता में बारहवाँ सम्मेलन हुआ। डॉ० जाकिर हुसेन (बिहार के राज्यपाल) ने इस सम्मेलन में उद्घाटन-भाषण किया। विगत ग्यारह मास विनोबाजी के साथ मद्रास की पदयात्रा के क्रम में श्री आर्यनायकम्जी को ग्रामदानी

गाँवों में नयी तालीम के क्षेत्र-प्रसार की जो नयी दृष्टि मिली थी, उसका उन्होंने इस सम्मेलन में वर्णन किया। तदनुसार नयी तालीम के कार्यकर्ताओं का ग्रामदान और ग्रामदानी गाँवों में ग्राम-निर्माण-कार्य में योगदान करने के लिए आह्वान किया गया। इस सम्मेलन में श्री आर्यनायकम्जी ने नयी तालीम के लिए शिक्षक-संग्रह करने के लिए एक क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखा, जिसमें सिफारिश की कि जो लोग शारीरिक श्रम करके जीविकोपार्जन करते हैं, उन्हींमें से नयी तालीम के शिक्षक चुनने पड़ेंगे। ऐसा होने पर ही नयी तालीम द्वारा श्रम-आधारित समाज-निर्माण के नमूने की तैयारी का काम सफल हो सकेगा। मध्यम श्रेणी से जो शिक्षक आये हैं, वे आदर्श दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी शारीरिक श्रम के क्षेत्र में पर्याप्त रूप से समर्थ नहीं हैं। उनके हृदय में तो क्रान्ति का विचार है, परन्तु उसे कार्यरूप में परिणत करने की शारीरिक सामर्थ्य उनमें नहीं है।

इस वर्ष (सन् १९५९ में) तेरहवाँ सम्मेलन पंजाब के राजपुरा नामक स्थान में 'कस्तूरबा सेवा मन्दिर' में हुआ। इसी समय राजपुरा में सर्व-सेवा-संघ की भी बैठक हुई। उस समय विनोबाजी की पंजाब की पदयात्रा चल रही थी। विनोबाजी सम्मेलन में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में श्री आर्यनायकम्जी ने कहा : "सरकारी प्रशासकों का नयी तालीम में विश्वास न होने के कारण यह तालीम असफल सिद्ध हो रही है और पीछे की ओर जा रही है।" इस सम्मेलन में विनोबाजी ने सर्व-सेवा-संघ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के अविलम्ब विलयन पर जोर दिया। तदनुसार राजपुरा में ही लम्बी चर्चा के उपरान्त तालीमी संघ ने सर्व-सेवा-संघ में विलयन का प्रस्ताव स्वीकार किया। नयी तालीम की प्रगति के इतिहास में यह सम्मेलन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जायगा और चिरस्मरणीय रहेगा।

● ● ●

अध्याय ४६ नयी तालीम और ब्रह्मविद्या

महात्मा गांधी के आश्रम के अनुकरण पर भारत में बहुत-से आश्रम चल रहे हैं। उनके माध्यम से महात्मा गांधी द्वारा प्रदर्शित विभिन्न रचनात्मक कार्य हो रहे हैं। ऊपर से देखने पर लग सकता है कि ये काम ठीक ढंग से चल रहे हैं, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके भीतर एक मौलिक वस्तु का अभाव है, जिससे अभीष्ट फल प्राप्त नहीं हो रहा है। विनोबाजी कहते हैं कि उनमें जिस वस्तु का अभाव है, वह है—'धर्म-निष्ठा' या 'धर्म-श्रद्धा'। यह धर्म-निष्ठा या धर्म-श्रद्धा कोई साम्प्रदायिक अथवा पंथगत धर्म नहीं है, अर्थात् यह हिन्दू, मुसलिम, ईसाई या वैष्णव, शैव आदि नहीं है। यह धर्मनिष्ठा है आत्म-तत्त्व के प्रति श्रद्धा, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व में श्रद्धा और विश्वास। आत्मतत्त्व के प्रति यह श्रद्धा महात्मा गांधी के विचार का मूल है। आत्मा ही सत्य और अहिंसा आदि समस्त गुणों का आधार है। आत्मा के इन सब गुणों का विकास न होने पर महात्मा गांधी द्वारा प्रदर्शित किसी भी कर्म-प्रचेष्टा का अभीष्ट फल प्राप्त नहीं हो सकता। विनोबाजी का विचार है (और सब लोग विनोबाजी के इस विचार से सहमत होंगे) कि हम लोगों के रचनात्मक कार्यों की असफलता का मूल कारण गुण-विकास का अभाव है, क्योंकि गुण-विकास न होने के कारण धर्मनिष्ठा का अभाव अर्थात् आत्मतत्त्व में श्रद्धा का अभाव रहता है। धर्मनिष्ठा या आत्मतत्त्व में विश्वास का यह अभाव कहाँ है? क्या उन लोगों में, जो इन सब कामों को चला रहे हैं, अथवा उस जनसाधारण में, जिसके बीच इन सब कामों को चलाया जा रहा है, या कि दोनों में? जिस जनसमूह में ये कार्य चलाये जा रहे हैं, उसमें गुण-विकास नहीं हुआ

है—इस बारे में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। साथ ही जो लोग आश्रमों में रहकर ये सब काम कर रहे हैं, उनमें भी गुण-विकास नहीं हुआ है और न हो रहा है। कारण, उनमें वास्तविक धर्मश्रद्धा (आत्म-तत्त्व में श्रद्धा) जाग्रत नहीं हुई है। विनोबाजी कहते हैं कि हमारे आश्रमों में प्रार्थना आदि की व्यवस्था है तो, किन्तु वह दैनिक कार्यक्रम की तरह बन गयी है और इसलिए प्राणहीन हो गयी है। उसके द्वारा वास्तविक गुण-विकास नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक आवश्यक बात स्मरण रखनी चाहिए। महात्मा गांधी के विचारों को कार्यरूप देने के लिए जिस आध्यात्मिकता की आवश्यकता होती है, उसमें एक विशेषता है। अन्यान्य सन्तों की तुलना में महात्मा गांधी के विचारों को कार्यान्वित करने के लिए जिस आध्यात्मिकता की आवश्यकता होती है, उसका स्वरूप अधिक व्यापक है। इसमें केवल अपनी आध्यात्मिकता या धर्मश्रद्धा पर्याप्त नहीं होती। आसपास जिन लोगों में इन विचारों के अनुसार काम करना है, उनमें भी आध्यात्मिकता और गुणों का विकास करना होगा। अन्य सन्तों के विषय में ऐसी बात नहीं है। उनमें यह आग्रह नहीं होता कि उनके विचारों के अनुसार समाज में परिवर्तन लाना होगा। वे स्वयं सत्यनिष्ठ, अहिंसक आदि होते हैं। हाँ, वे यह अवश्य चाहते हैं कि आस-पास के लोगों पर उनका प्रभाव पड़े और उनमें भी इन गुणों का विकास हो, परन्तु इसके लिए न वे उनसे कुछ कहेंगे, न करेंगे। आत्म-समाधान से ही वे संतुष्ट हो जाते हैं। समाज में परिवर्तन आ जाय तो अच्छा है; पर यदि न आये, तो इससे उनके आत्म-समाधान और आत्म-सन्तोष में बाधा नहीं पड़ती। किन्तु गांधीजी के विचारों का उद्देश्य ही है, समाज में परिवर्तन। अतः यहाँ केवल अपने में गुण-विकास होने से काम नहीं चलेगा—समाज में भी गुण-विकास होने से ही समाधान होगा। केवल आत्म-समाधान पर्याप्त नहीं है।

गांधीजी के विचार में आत्मा व्यापक आत्मा है। उसमें 'आत्मतत्त्व में श्रद्धा' का अर्थ व्यापक आत्मा में श्रद्धा है। उसमें केवल अपनी मुक्ति

से समाधान नहीं होता। समाज में सबकी मुक्ति न होने तक अपनी मुक्ति या आत्म-समाधान पूर्ण नहीं होता। जिनमें व्यापक आत्मा की अनुभूति आयी है, वे आसपास के लोगों में अनुचित आचरण देखकर ऐसा अनुभव करते हैं कि स्वयं उनका ही आचरण अनुचित है। स्वयं पवित्र होने पर दूसरों में गंदगी देखकर वे अपने को गंदा मानते हैं। अनुचित आचरण को सुधारने और गंदगी को साफ करने के लिए सम्भव है, वे उपवास करें या स्वयं पर अन्य किसी प्रकार का प्रतीकारात्मक प्रयोग करें। महात्मा गांधी यही करते थे। महात्मा गांधी के उपवास आदि का यही रहस्य है।

अतएव सब लोगों में गुण-विकास की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिकता को राष्ट्रीय शिक्षा-क्रम में अवश्य ही स्थान मिलना चाहिए। किन्तु आज यह धर्मश्रद्धा सिखाने की कोई व्यवस्था नहीं है। पहले भी यह व्यवस्था नहीं थी। यह व्यवस्था न रहने का एक प्रमुख कारण हमारे देश का संविधान है। संविधान के अनुसार हमारा देश एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र (Secular State) है। 'सेकुलर' का अर्थ विकृत करके धर्मश्रद्धा या आध्यात्मिकता को भी शिक्षा से बाहर कर दिया गया है। 'सेकुलर' का वास्तविक अर्थ है—'सभी धर्मों के प्रति समता-भाव'। उसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मश्रद्धा के प्रति उदासीन रहा जाय या धर्मश्रद्धा की शिक्षा-व्यवस्था न की जाय या उसके लिए जोर न दिया जाय। साम्प्रदायिक अथवा पंथगत धर्मों में कुछ अवैज्ञानिक बातें हैं। उन्हें छोड़कर प्रत्येक धर्म में जो सार-तत्त्व है, उसके प्रति समान श्रद्धा-भाव रखना 'सेकुलर' शब्द का सही अर्थ है। लेकिन चूँकि उसका विकृत अर्थ ग्रहण किया जा रहा है, इसलिए शिक्षा में जीवन के मूल तत्त्व को छोड़ा जा रहा है। नयी तालीम में ब्रह्मविद्या, आध्यात्मिकता या धर्मश्रद्धा सिखाने की व्यवस्था होने से ही वह सार्थक होगी। ब्रह्मविद्या ही नयी तालीम की बुनियाद होनी चाहिए।

● ● ●

अध्याय ४७ शिक्षा-व्यवस्था सरकार-निरपेक्ष हो

प्राचीन काल में भारत में शिक्षा कम नहीं थी। शिक्षा सर्वप्रथम भारत में ही आरम्भ हुई थी। किन्तु राजा लोग कभी भी शिक्षा-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करते थे। गुरु ही यह निश्चय करते थे कि क्या शिक्षा दी जायगी और किस प्रकार दी जायगी। राजशक्ति शिक्षा के लिए सहायता प्रदान करती थी। राजपुत्र भी विद्यार्जन के लिए गुरुगृह जाते थे, किन्तु उनके लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं रहती थी। वे साधारण विद्यार्थियों के साथ ही समान भाव से रहते थे। राजा शिक्षा के लिए सहायता अवश्य प्रदान करते थे, किन्तु विद्यार्थी राजपुत्रों के लिए विशेष रूप से कुछ नहीं देते थे। इस प्रकार उस समय शिक्षा और शिक्षा-व्यवस्था को परिपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। शिक्षा के क्षेत्र में इतनी स्वतंत्रता रहने के कारण ही भारत में वास्तविक चिंतन-स्वातन्त्र्य और विचार-स्वातन्त्र्य था। विनोबाजी कहते हैं : "जिसे संस्कृत भाषा का ज्ञान है, वह जानता है कि हिन्दू-धर्म में कितना विचार-स्वातंत्र्य है। हमें ऐसा दूसरा धर्म मालूम नहीं है, जिसमें परस्पर विरोधी विचार हैं। दूसरे धर्मों में एक ही विचार है, लेकिन हिन्दू-धर्म में कपिल, कणाद, जैमिनि इत्यादि के विचार परस्पर-विरुद्ध थे। परन्तु कोई नहीं कहता कि वे हिन्दू-धर्म के खिलाफ हैं।"

किन्तु आजकल संसार के सभी देशों में राजशक्ति सर्वग्रासी बन गयी है। भारत में भी यही बात है। जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ राष्ट्र-शक्ति अपना नियंत्रण-अधिकार प्रतिष्ठित नहीं कर रही है। सर्वत्र शासन-व्यवस्था इस प्रकार परिचालित हो रही है कि जनता सरकार पर अधिकाधिक निर्भर होती जा रही है। सरकार लोगों को स्वावलम्बी बनाने

के बजाय सरकारावलम्बी बनाती जा रही है। सरकार ने माँ-बाप का स्थान ग्रहण कर लिया है।

आज सारा संसार भयत्रस्त है। जिन देशों के पास पर्याप्त आणविक शस्त्रास्त्र हैं, वे भी परस्पर के भय से भीत बने हैं। जिनके पास ये शस्त्रास्त्र नहीं हैं, मामूली शस्त्रास्त्र भी प्रचुर मात्रा में नहीं हैं, वे भी भयभीत हैं। सभी सरकारें अपने-अपने देश की जनता के मन में यह धारणा पैदा कर रही हैं कि जितने अधिक शस्त्रास्त्र उपलब्ध किये जायेंगे, उतना ही भय कम होगा। किन्तु आणविक शस्त्रास्त्रों की संख्या और परिमाण बढ़ाने के बावजूद भय कम नहीं हो रहा है। फिर भी जनता को बताया जा रहा है कि शस्त्रास्त्रों की उपस्थिति के ही कारण शान्ति बनी हुई है। जनता के मन में इस धारणा को जन्म देना इसलिए सम्भव हो रहा है कि शिक्षा सरकार के हाथों में आ गयी है। आज संसार के सभी देशों में शिक्षा सरकार के हाथों में आ गयी है। बालक-बालिकाओं को जो कुछ सिखाया जा रहा है, वे उसे सीख रहे हैं। इसी कारण स्वतन्त्र लोकमत का निर्माण नहीं हो रहा है। वोट देने का अधिकार तो सबको है, पर राष्ट्र-शक्ति वास्तव में कुछ थोड़े से लोगों के ही हाथों में है। गणतन्त्र का अस्तित्व नाममात्र के लिए है। शासक-वर्ग जो कुछ करेगा, वही ठीक है—यह धारणा जनता में जड़ पकड़ती जा रही है। इसीलिए विनोबाजी बार-बार यह बात कह रहे हैं: "शिक्षण का अधिकार सरकार के हाथों में नहीं होना चाहिए। वह तो ज्ञानियों के हाथ में होना चाहिए, क्योंकि यह काम सेवा-परायणता से ही होगा।"

इस क्रम-वृद्धि का फल यह हुआ है कि जनता पूरी तरह सरकार-मुखापेक्षी हो गयी है। लोगों में जितना पराक्रम था, वह भी नष्ट हो गया है। उनमें एक नयी तरह की जड़ता आ गयी है। जनता का काम केवल मनपसन्द दल के मनोनीत लोगों को वोट देना हो गया है। वोट दे देने के बाद लोगों का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। मानो उनके लिए और कुछ करने को रह ही नहीं जाता। जो कुछ करना हो, वह सरकार ही

करेगी। इसलिए हर बात में सरकार को याद करने के अलावा कोई उपाय नहीं रह जाता।

इस परिस्थिति से परित्राण पाने का एकमात्र उपाय है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र में स्वातन्त्र्य-प्रतिष्ठा। किन्तु शिक्षा-स्वातन्त्र्य के अभाव में चिन्तन और विचार-स्वातन्त्र्य ठीक ढंग से नहीं पनप सकते। ऐसी स्थिति में शिक्षा के सरकारी नियन्त्रण में रहने के बावजूद विद्यार्थियों को अपने चिन्तन-स्वातन्त्र्य की रक्षा करनी होगी। इसीलिए विनोबाजी कहते हैं: "परिपूर्ण स्वातन्त्र्य का अधिकार अगर किसी को है, तो सबसे ज्यादा विद्यार्थियों को।...विद्यार्थियों को चिन्तन-स्वातन्त्र्य का अपना अधिकार कभी नहीं खोना चाहिए।...हमें अपने चिन्तन-स्वातन्त्र्य पर प्रहार नहीं होने देना चाहिए—अपनी स्वतन्त्रता का हक सुरक्षित रखना चाहिए। विद्यार्थियों का यह अधिकार आज की दुनिया में छीना जा रहा है, इसलिए मैं उन्हें आगाह कर देना चाहता हूँ। इन दिनों 'डिसिप्लिन' अथवा अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियों के दिमागों को यन्त्रों में ढालने की कोशिश की जा रही है।"

ऐसी परिस्थिति में शिक्षा का सरकारी नियन्त्रण में चला जाना और भी भयंकर सिद्ध हो रहा है। शिक्षा ऐसी दी जा रही है कि 'सरकार ही सब कुछ है'—यह बात विद्यार्थियों के मस्तिष्क में बैठती जा रही है। फिर जिस दल की सरकार होती है, उस दल-विशेष के आदर्शों और नीतियों के अनुसार ही शिक्षा का स्वरूप होता है। फलतः विद्यार्थियों की मनोवृत्ति उस दल के आदर्शों से प्रभावित हो जाती है। इस समय सम्पूर्ण संसार में इसी तरह छात्रों को एक विशेष साँचे में ढालने की चेष्टा चल रही है। विनोबाजी कहते हैं: "दुनिया के सभी देशों की सरकारें सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था को अपने हाथों में रखने के लिए अनुग्रहशील हैं। यह अवस्था बहुत ही खतरनाक है। इसके द्वारा बुद्धि पर भी नियन्त्रण (Regimentation) आ जाता है।" इसी कारण विनोबाजी बार-बार यह बात कहते आ रहे हैं कि आज चाहे सम्भव हो अथवा नहीं, यदि किसी

विषय को सरकार के हाथों से मुक्त करना हो, तो सबसे पहले शिक्षा को सरकार के हाथों से मुक्त करने की आवश्यकता है। कम्युनिस्ट सरकार को भंग करने के लिए केरल में जब जन-आंदोलन चल रहा था, तब विनोबा-जी ने शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा था : "इसकी आवश्यकता सर्वाधिक है, यह बात केरल में आज जो कुछ हो रहा है, उससे विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है। किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता कि आज केरल में जो कुछ हो रहा है, वह अन्य प्रदेशों की स्थिति से भिन्न है। अन्य प्रदेशों में भी शिक्षा पर सरकार का पूरा नियंत्रण है। किसीको भी उसके विरुद्ध कुछ करने नहीं दिया जाता।"

आजकल सरकार की क्षमता सर्वव्यापी हो गयी है। अतएव सरकारी कार्य-संचालन के लिए सरकार को सर्वापेक्षा अधिक संख्या में कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते हैं। अर्थात् सरकार ही आजकल सबसे बड़ी नियोग करनेवाली है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठ सकता है कि यदि सरकार के हाथों में शिक्षा का नियंत्रण न हो, तो जिस तरह के योग्यता-सम्पन्न कर्मचारियों की उसे आवश्यकता पड़ती है, वैसे लोग पाने में उसे विशेष असुविधा होगी। किन्तु ऐसी आशंका का कारण नहीं है, क्योंकि यदि कर्मचारी नियुक्त करते समय सरकार उम्मीदवारों की विशद रूप से परीक्षा लेने की व्यवस्था रखे, तो कोई असुविधा नहीं होगी। साथ ही सरकार-संचालित इस परीक्षा में उम्मीदवार होने के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा कि केवल अमुक परीक्षा में उत्तीर्ण लोग ही अमुक पद के लिए होनेवाली परीक्षा में भाग ले सकेंगे। ऐसी स्वतंत्रता रहने पर ही शिक्षा का स्वाभाविक विकास हो सकेगा। किसी विशेष शिक्षा-धारा या शिक्षा-प्रणाली के प्रति सरकार को पक्षपात नहीं करना चाहिए। ऐसा होने पर ही विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों और शिक्षा-धाराओं के गुणावगुण के सम्बन्ध में अबाध रूप से गवेषणा चल सकेगी। सरकार सभी शिक्षा-प्रणालियों को आर्थिक सहायता और अन्यान्य सुयोग-सुविधाएँ

करेगी। इस देश में प्राचीन काल में ऐसा ही होता था। ऐसी स्वतन्त्रता रहने पर ही नयी तालीम के प्रसार के लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार होगा।

सरकारी अथवा गैर-सरकारी काम में नियुक्ति के लिए स्कूल-कॉलेज या विश्वविद्यालय की किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने की शर्त न लगाकर नियुक्ति से पूर्व सरकारी अथवा गैर-सरकारी संस्थाओं को अभीष्ट पद के अनुकूल योग्यता जाँचने के लिए परीक्षा लेने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रस्ताव के संबंध में यह आपत्ति की गयी है कि ऐसा होने पर उम्मीदवारों की संख्या इतनी अधिक होगी कि परीक्षा-व्यवस्था कर सकना कठिन हो जायगा। इसके उत्तर में विनोबाजी कहते हैं कि परीक्षा-शुल्क अधिक रखने पर ऐसी कोई असुविधा सामने नहीं आयेगी। फिर तो जो लोग सम्बद्ध पद के उपयुक्त योग्यता नहीं रखेंगे, वे परीक्षा में शामिल ही नहीं होंगे। साथ ही शुल्क अधिक रखने से परीक्षा की व्यवस्था कर सकना भी विशेष कठिन नहीं होगा। इस सम्बन्ध में विनोबाजी ने प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू से बातचीत की थी और उन्होंने कई बातों पर सहमति प्रकट की थी। तदुपरान्त इस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए सरकार ने एक समिति नियुक्त की; किन्तु उक्त समिति ने जो राय दी, उससे प्रकट हुआ कि विषय की गम्भीरता और अन्तर्निहित उद्देश्य को समझने की चेष्टा न करके उसे कार्यतः अग्राह्य ही करार दिया गया। ● ● ●

अध्याय ४८ सम्मुखीन कार्यक्रम और समस्या

न्यूनाधिक अभाव रहने पर भी नयी तालीम की सभी स्तरों की शिक्षा का आदर्श आज देश के समक्ष आ चुका है। सभी दृष्टियों से उसके तत्त्वों और विचार-धारा की गम्भीर व्याख्या भी हो चुकी है। सरकार ने बुनियादी स्तर की नयी तालीम को (अपूर्ण आकार के बावजूद) राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर लिया है और कई वर्षों से सर्वत्र प्राथमिक शिक्षा को नयी तालीम के बुनियादी तालीम के ढाँचे पर रूपान्तरित किया जा रहा है। देश के विभिन्न भागों में अनेक सरकारी और गैर-सरकारी बुनियादी विद्यालय स्थापित किये गये हैं और कई पुराने प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिणत किया गया है। भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के सहकारी शिक्षा-परामर्शदाता डॉक्टर पी० डी० शुक्ल कहते हैं कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में प्रायः ८० हजार बुनियादी विद्यालयों में ९० लाख विद्यार्थी विद्याध्ययन करने लगेंगे। विभिन्न राज्यों में सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी न्यूनाधिक व्यवस्था की गयी है। विनोबाजी द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ का आरोहण ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य तक पहुँच जाने के फलस्वरूप नयी तालीम की प्रगति का एक नया मार्ग खुला है। अब सारे ग्रामदानी गाँवों को नयी तालीम के विद्यालयों में परिणत किया जा सकता है। विनोबाजी ने सारे रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम के रंग में रँगने का परामर्श दिया है। अब देश में सर्वत्र सभी स्तरों पर सारी शिक्षा-व्यवस्था नयी तालीम के आधार पर खड़ी होनी चाहिए। अर्थात् अब नयी तालीम राष्ट्रव्यापी होनी चाहिए। फिर समस्त कर्म-प्रचेष्टाओं को शिक्षा (नयी तालीम) के कार्यक्रम के

रूप में चलना चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारे सामने कैसा कार्यक्रम होना चाहिए और उसे सफल बनाने के मार्ग से क्या-क्या समस्याएँ और असुविधाएँ सामने आ सकती हैं, उन पर विचार करने की आवश्यकता है।

(१) नयी तालीम तथा सर्वोदय-नीति के आधार पर रचित सभी स्तरों के राष्ट्रीय शिक्षा-कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए सर्वसाधारण प्रस्तुत हों, इसके लिए सुव्यस्थित आन्दोलन चलाना होगा। इस आन्दोलन का स्वरूप क्या होगा, इसे यहाँ समझ लेना चाहिए। शिक्षा की पद्धति के रूप में नयी तालीम को श्रेष्ठ पद्धति के रूप में ग्रहण करना होगा। किन्तु इसे केवल शिक्षा की पद्धति के रूप में ग्रहण करने से काम नहीं चलेगा—केवल इतने से नयी तालीम सार्थक नहीं होगी। जन-साधारण में नवसमाज के आदर्श अर्थात् समाज-क्रांति की भावना जाग्रत होनी चाहिए और वास्तविक सामाजिक जीवन में उसे व्यवहृत करने का आग्रह आना चाहिए। समाज में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए तैयार और सचेष्ट रहने से ही बुनियादी तालीम तथा नयी तालीम सार्थक होगी। अतः इस पक्ष पर विशेष जोर देना होगा। समाज में बुनियादी परिवर्तन न आने से बुनियादी तालीम का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता।

(२) जब तक सरकार नयी तालीम की नीति के आधार पर खड़ी की गयी सभी स्तरों की शिक्षा-व्यवस्था को मान्यता प्रदान नहीं करती और इस शिक्षा में उत्तीर्ण शिक्षार्थियों को सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी कार्यों के लिए योग्यता-सम्पन्न नहीं मान लिया जाता, तब तक नयी तालीम पर आधारित शिक्षा की उत्कृष्टता को स्वीकार करने पर भी लोग अपने बच्चों को इस शिक्षा पर निर्भर करने के लिए आसानी से सहमत नहीं होंगे। आर्थिक दृष्टि से अर्द्धविकसित (Underdeveloped economy) देश में नौकरी के लिए सबका आग्रह रहेगा ही। जो वर्ग नौकरी-पेशा में नहीं हैं, उनमें भी ऐसा आग्रह रहना स्वाभाविक है। नयी तालीम इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकती—इसे स्वीकार करके

ही चलना होगा। इसलिए केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकारों के सामने नयी तालीम पर आधारित सभी स्तरों की और सब प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा की योजना प्रस्तुत करके उसे उससे स्वीकार कराने के लिए सचेष्ट होना होगा। यह आन्दोलन सर्वसाधारण और सरकार, दोनों के बीच चलाना होगा। किन्तु सरकार को तभी राजी कर सकना सहज होगा, जब वह समझेगी कि जनसाधारण नयी तालीम पर आधारित शिक्षा ग्रहण करने को तत्पर है। इसलिए दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रयत्न होने चाहिए।

सरकार नयी तालीम के आधार पर सभी स्तरों और सब प्रकार की शिक्षा को स्वीकार कर लेगी और तदनुसार काम करेगी—यह अभी बहुत दूर की बात है। अतः अभी बुनियादी तालीम के सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था करनेकी आवश्यकता है। पहले बताया जा चुका है कि सरकार बुनियादी तालीम को दो भागों में बाँटना चाहती है—पहले भाग में पाँच वर्ष या पाँच श्रेणियाँ और दूसरे भाग में तीन वर्ष या तीन श्रेणियाँ। सरकार पहले भाग को देशव्यापी बनाने के लिए तैयार है; किन्तु दूसरे भाग को देशव्यापी नहीं बनाना चाहती। यदि आठों श्रेणियों को देश-व्यापी और अनिवार्य नहीं बनाया जायगा, तो बुनियादी तालीम का मूल उद्देश्य बेकार हो जायगा। नयी तालीम की व्यवस्था में आठ वर्ष की बुनियादी तालीम को शिक्षा की न्यूनतम आवश्यकता माना गया है। यदि सरकार का प्रस्ताव कार्य-रूप में परिणत हो जायगा, तो देश के अधिकांश बच्चों की शिक्षा या तो पाँच वर्ष के बाद समाप्त हो जायगी या आगे की शिक्षा उन्हें साधारण ढंग की मिलेगी। अतः दोनों ही स्थितियों में पाँच वर्ष तक दी गयी यह शिक्षा व्यर्थ हो जायगी। इसलिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि सरकार द्वारा ८ वर्षों की अविभाज्य बुनियादी तालीम की बात स्वीकार करायी जाय। साधारण प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिणत किया जाय और ७ वर्ष से १४ वर्ष तक के बालकों और बालिकाओं को अनियार्य रूप से बुनियादी

शिक्षा दी जाय। एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि सरकार उत्तर-बुनियादी तालीम को मान्यता प्रदान करे। (इस सम्बन्ध में पहले थोड़ा-बहुत विचार किया जा चुका है।) सरकारी अंचलों में यह गलत धारणा घर कर गयी है कि बहूद्देश्यीय (Multi-purpose) उच्च विद्यालयों द्वारा उत्तर-बुनियादी तालीम का काम होगा। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्री श्री कालूलाल श्रीमालीने सन् १९५६ में सेवाग्राम में आयोजित अखिल भारतीय बुनियादी सम्मेलन में कहा था : "इस प्रकार हम मान सकते हैं कि बहूद्देश्यीय विद्यालय वस्तुतः माध्यमिक अवस्था में बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों का पालन करेंगे।" यह धारणा गलत है। बहुमुखी या बहूद्योगी विद्यालयों में कला, विज्ञान, वाणिज्य-नीति और विभिन्न शिल्पों की शिक्षा होगी; यह सच है, परन्तु उनमें हस्तशिल्प के कामों और ज्ञान के बीच अंगांगी सम्पर्क नहीं है। 'नयी तालीम की सर्वोत्तम पद्धति—समवाय' शीर्षक अध्याय में जिस समुच्चय-पद्धति की बात कही गयी है, उसका ही अनुसरण इन बहूद्देश्यीय विद्यालयों में हो सकता है। अर्थात् उनमें साधारण शिक्षा और हस्तशिल्प-शिक्षा के लिए समान समय तो दिया जा सकता है, परन्तु एक की शिक्षा से दूसरे की शिक्षा को कोई सहायता नहीं मिलेगी। हस्तशिल्प की शिक्षा एक अलग वस्तु बन जायगी। पुस्तकीय शिक्षा भी एक अलग वस्तु बन जायगी। नयी तालीम की समवाय-पद्धति और इसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। अतः सरकार को यह समझना होगा कि बहूद्देश्यीय उच्च विद्यालयों से नयी तालीम की उत्तर-बुनियादी स्तर की शिक्षा का उद्देश्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होगा। दूसरी बात, सरकार जब बुनियादी तालीम को राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप मानकर उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिए अग्रसर हुई है, तब परवर्ती स्तर पर भिन्न नीति ग्रहण करने का कोई अर्थ नहीं है। माध्यमिक शिक्षा को उत्तर-बुनियादी में परिवर्तित करना ही उसकी स्वाभाविक परिणति होनी चाहिए। किन्तु इससे पहले इस बात की तत्काल आवश्यकता है कि गैर-सरकारी उत्तर-बुनियादी विद्यालयों से जो छात्र

उत्तीर्ण हो रहे हैं, उन्हें मान्यता प्रदान की जाय। इसके अभाव में गैर-सरकारी तौर पर भी उत्तर-बुनियादी तालीम का प्रसार-कार्य अधिक आगे नहीं बढ़ सकेगा, ऐसा प्रतीत होता है। उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण छात्र यदि परवर्ती शिक्षा के लिए साधारण शिक्षालयों में प्रवेश पाना चाहें, तो उन्हें इसका अवसर मिलना चाहिए। फिर सरकारी या अन्यान्य कार्यों के लिए उनकी योग्यता स्वीकार की जानी चाहिए। बिहार में उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण छात्रों को मैट्रिक उत्तीर्ण छात्रों के समकक्ष मान्यता प्रदान की गयी है। अन्य राज्य-सरकारों ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं किया है। अतः इस बात के लिए विशेष रूप से चेष्टा करनी होगी कि सरकार उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण छात्रों को मान्यता दे। किन्तु उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण छात्रों को मैट्रिक उत्तीर्ण के बराबर मानना अन्यायपूर्ण है, क्योंकि उत्तर-बुनियादी शिक्षा का स्तर इंटरमीडियेट के बराबर है।

सरकार द्वारा नयी तालीम के सभी स्तरों की शिक्षा की स्वीकृति और उसे राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में ग्रहण किये जाने के मार्ग में एक बड़ी समस्या होगी—अंग्रेजी की शिक्षा। अंग्रेजी-शिक्षा के सम्बन्ध में नयी तालीम के संचालकों (सर्व-सेवा-संघ) और सरकार के बीच अभी ही स्पष्ट वार्ता होने की आवश्यकता है। दोनों को एक ही नीति ग्रहण करनी चाहिए। यदि दोनों पक्षों द्वारा एक नीति की स्वीकृति के लिए नयी तालीम की अंग्रेजी-शिक्षा-सम्बन्धी नीति में कुछ ढिलाई की आवश्यकता हो, तो वह भी की जानी चाहिए। इसके अभाव में यह पार्थक्य उत्तर-बुनियादी और उत्तम-बुनियादी शिक्षा को सरकारी मान्यता मिलने और उनकी लोक-प्रियता के मार्ग में बाधक बना रहेगा। नयी तालीम के संचालकों के समक्ष यह एक बड़ी समस्या है।

(३) अधिक उन्नत प्रयोगों और परीक्षणों द्वारा नयी तालीम पद्धति की उन्नति के लिए व्यापक कार्यक्रम ग्रहण किये जाने की आवश्यकता है।

(४) नयी तालीम का अन्तिम लक्ष्य है—नये समाज का निर्माण, अर्थात् श्रम-आधारित अहिंसक समाज की स्थापना। नयी तालीम की

पद्धति की शिक्षा से शारीरिक श्रम के प्रति अनादर की भावना दूर होती है और उसके प्रति झुकाव बढ़ता है। इससे सहयोगी एवं स्वावलम्बी सामूहिक जीवन की शिक्षा मिलती है और इस प्रकार की जीवन-यात्रा के फलस्वरूप आत्मविश्वास बढ़ता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यहाँ यह बात सोची जा सकती है कि यदि सरकार नयी तालीम पर आधारित राष्ट्रीय शिक्षा को उच्चतम स्तर तक स्वीकार कर ले, तो इस देश का समाज श्रम-आधारित बन जायगा। किन्तु इस विषय पर कुछ गम्भीरता के साथ विचार किये जाने की आवश्यकता है। अब तक जो लोग बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और उत्तम-बुनियादी उत्तीर्ण होकर निकले हैं, उनकी जीवन-यात्रा की प्रणाली को देखने से इस सम्बन्ध में कुछ आभास मिल सकता है। उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण लोगों में से कुछ तो विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं में काम कर रहे हैं और कुछ ग्रामदानी गाँवों में काम में लगे हैं। कुछ लोग उच्च या उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए साधारण स्कूल-कॉलेजों में भी प्रविष्ट हुए होंगे। किंतु उन लोगों में से कुछ के दूसरी ओर आकर्षित होने के बावजूद कितने लोग प्रसन्न मन से स्वेच्छापूर्वक श्रम-आधारित जीवन अपनाकर स्वतंत्र रूप से जीवन-निर्वाह कर रहे हैं, इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं है। फिर भी हमें जितना पता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो लोग बुनियादी या उत्तर-बुनियादी उत्तीर्ण होकर बाहर आये हैं, उनमें सरकारी या गैर-सरकारी रचनात्मक संस्थाओं में या अन्यत्र कोई काम पाने की उत्कंठा अधिक होती है। यह सही है कि जो सब काम वे लोग कर रहे हैं, वे समाज-निर्माण के काम हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप से शारीरिक श्रममूलक एवं स्वाश्रित जीवन-मार्ग अपनाने की ओर उनमें विशेष आग्रह परिलक्षित नहीं होता। इसका कारण क्या है, यह भलीभाँति समझने की आवश्यकता है। आज साधारण स्कूल-कॉलेजों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या हजारों से बढ़कर लाखों तक पहुँच रही है। इसका कारण कुछ लोग यह समझते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति की उत्कंठा लोगों में बढ़ रही है। किंतु अनेक चिंतनशील

व्यक्तियों का विचार है कि शारीरिक श्रम से बचने के लिए ही लोग पढ़ने-लिखने की ओर इतना झुके हैं। विनोबाजी भी यही बात कहते हैं। इस कथन में निस्सन्देह सार है, किन्तु क्या केवल शारीरिक श्रम के प्रति उपेक्षा-भाव ही इसका कारण है? यदि यही एकमात्र कारण होता, तो जो लोग नयी तालीम उत्तीर्ण होकर निकले हैं, उनमें स्वतंत्र रूप से श्रमाश्रित जीवन-यापन का अधिक आग्रह होता। ऐसा हो सकता है कि उनके हृदय से शारीरिक श्रम के प्रति अनादर-भाव भले चला जाता हो, पर स्वावलम्बी जीवन-यापन के लिए यथेष्ट आत्मविश्वास नहीं पैदा होता। इसीलिए वे किसी आश्रम या रचनात्मक संस्था में तो स्वावलम्बी जीवन-निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु उनसे बाहर श्रम-आधारित, स्वावलम्बी गृहस्थ का जीवन बिताने का उनमें विशेष उत्साह नहीं रहता। यह कारण भी कुछ मामलों में सही हो सकता है, किन्तु हमें ऐसा लगता है कि इसके पीछे एक और प्रधान कारण है, जिसके चलते सभी स्तरों की शिक्षा के लिए सरकार द्वारा नयी तालीम के स्वीकार किये जाने के बावजूद श्रम-आधारित समाज-निर्माण का काम विशेष प्रगति नहीं कर पायेगा। यह कारण है, शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम के आर्थिक मूल्य अथवा पारिश्रमिक में अन्तर। जब तक समाज शारीरिक श्रम की अपेक्षा बौद्धिक श्रम के लिए अधिक पारिश्रमिक देता रहेगा, अथवा (दूसरे शब्दों में) शारीरिक श्रम का काम करके बौद्धिक श्रम का काम करनेवाले के समान आदरपूर्ण जीवन-निर्वाह का अवसर उपलब्ध नहीं होगा, तब तक श्रम-आधारित जीवन के प्रति आशानुरूप आकर्षण पैदा होने की सम्भावना नहीं दीखती। इसके उत्तर में ऐसा कहा जा सकता है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम के कामों के बीच सामाजिक मर्यादा का पार्थक्य समाप्त होने पर उनके भौतिक मूल्यों में स्वतः समता आ जायगी। नयी तालीम के शिक्षार्थियों के हृदय में शारीरिक श्रम के प्रति मर्यादा-बोध जाग्रत होता है। नयी तालीम का व्यापक प्रसार होने से श्रममूलक कामों की मर्यादा स्थापित होगी और इसके परिणामस्वरूप बौद्धिक तथा श्रममूलक

कामों के बीच मूल्य-पार्थक्य नहीं रह जायगा। किन्तु थोड़ी गम्भीरता के साथ विचार करने पर यह प्रकट होगा कि दोनों के बीच सामाजिक मर्यादा का पार्थक्य समाप्त हो जाने पर भी भौतिक मूल्य का पार्थक्य बना रह सकता है। अभी सारे दिन करघा चलाकर (परिवार के अन्य लोगों की सहायता लेने पर भी) महीने में चालीस रुपये से अधिक आमदनी सम्भव नहीं हो पाती। सत्पथ पर रहकर पाँच व्यक्तियों का एक परिवार कृषि-कार्य द्वारा साल में एक हजार रुपये से अधिक उपार्जन करेगा, इसकी आज इस देश में कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में केवल शारीरिक श्रम की मर्यादा कायम करने के लिए सचेष्ट रहने से काम नहीं चल पायेगा। पैसे पर आधारित अर्थ-व्यवस्था जब तक चलती रहेगी, तब तक शारीरिक और बौद्धिक कामों के पारिश्रमिक में समता-स्थापन के लिए स्वतंत्र रूप से चेष्टा करनी होगी। पैसे पर आधारित अर्थ-व्यवस्था की बात छोड़कर यदि शारीरिक श्रम द्वारा जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन द्वारा स्वावलम्बी जीवन-यापन की बात भी लें, तो स्थिति में विशेष अन्तर की सम्भावना दिखाई नहीं पड़ती। आज एक व्यक्ति या परिवार शारीरिक श्रम द्वारा जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक और जीवन के सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए अनिवार्य जिस प्रकार की अथवा जिस परिमाण में वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है, उससे बड़ी कठिनाई से उसका जीवन-निर्वाह हो सकता है। किन्तु आज उसे सुखी जीवन नहीं कहा जाता। नयी तालीम पर आधारित शिक्षा के फलस्वरूप जीवन-मान को अधिकाधिक आगे बढ़ाने का प्रलोभन कम होगा, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु जीवन-मान की अतिवृद्धि का प्रलोभन दूर होने पर भी आज श्रम-आधारित जीवन में जिस जीवन-मान को प्राप्त कर सकना सम्भव है, उसे काफी ऊँचा न उठाने की स्थिति में श्रम-आधारित जीवन की ओर स्वतः-स्फूर्त आकर्षण आ सकना सम्भव नहीं होगा। नयी तालीम में वैज्ञानिक ढंग से खेती और हस्तशिल्प की उन्नति करके यह दिखाना होगा कि श्रम-आधारित जीवन वस्तुतः प्रचु-

रता का जीवन है। जीवन असंग्रही होना चाहिए, यह बात सही है; किन्तु प्रचुरता के अभाव में समाज उस ओर आकर्षित नहीं होगा। और, जब तक पारिश्रमिक देने का प्रश्न रहेगा, तब तक दोनों प्रकार के कामों के बीच पारिश्रमिक का पार्थक्य रहने से भी काम नहीं चलेगा। दूसरी ओर, श्रम-आधारित जीवन के द्वारा असंग्रही, किन्तु प्रचुरतामय जीवन के लिए उपयोगी व्यवस्था करना सम्भव है, इसका आदर्श दिखाना होगा। अपरिग्रही अर्थात् निश्छल जीवन कैसा होगा, इसका आभास विनोबाजी ने दिया है। उसमें इतना खाद्यान्न पैदा होगा, जो गाँव के लिए दो वर्ष तक के लिए पर्याप्त होगा। हर घर में अनाज भरा रहेगा। अभी देश में प्रति व्यक्ति ढाई छटाक दूध पैदा होता है, किन्तु उस समय प्रति व्यक्ति एक सेर दूध उपलब्ध होगा। शुद्ध घी पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होगा। डालडा नहीं मिलेगा। फल, साग-सब्जी, शहद आदि सुखद जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ प्रचुर परिमाण में प्राप्त होंगी। व्यर्थ की चीजें नहीं मिलेंगी—जैसे, सिगरेट आदि। अच्छी वस्तुओं का भी उत्पादन-क्रम होगा। जैसे अच्छे जीवन के लिए वाद्य-यन्त्रों की उपयोगिता है, परन्तु पहले पूरा भोजन-वस्त्र और तब हार-मोनियम! अनाज, वस्त्र, उत्तम मकान, उत्तम यन्त्रादि, ज्ञान-लाभ के लिए उत्तम ग्रन्थादि, मनोरंजन के उपकरणादि—इस प्रकार क्रमानुसार उत्पादन और संग्रह करना होगा। घर में टुथब्रश, पेस्ट, लिपस्टिक आदि तो काफी है, परन्तु पर्याप्त दूध-घी नहीं है—ऐसा नहीं चलेगा। फिर ग्रामदानी और ग्राम-संकल्पी गाँवों का संग्रह होते रहने से नयी तालीम का नवीन प्रयोग-क्षेत्र तैयार हुआ है। वहाँ इस प्रकार उन्नति-साधन करके देश तथा संसार को दिखाना होगा कि सहयोगी ग्राम-समाज में अद्रोही श्रम पर आधारित कृषि और ग्रामोद्योग-सम्पन्न अर्थ-व्यवस्था द्वारा मनुष्य का जीवन बहुत हद तक उन्नत किया जा सकता है। ग्रामदानी गाँवों में नयी तालीम का यह लक्ष्य होना चाहिए कि सामूहिक जीवन में सब लोगों के जीवन का भौतिक स्तर पूर्वापेक्षा पर्याप्त उन्नत हो सकता

है। अन्ततः वह सर्वोदय-योजना में निर्धारित न्यूनतम जीवन-स्तर तक पहुँचा दे सकता है—यह चीज नयी तालीम को प्रदर्शित करनी होगी। सर्व-सेवा-संघ द्वारा एक सर्वोदय-योजना तैयार की गयी है। इस योजना में कहा गया है कि सर्वोदय की आर्थिक व्यवस्था में यह निश्चितता प्रदान की जानी चाहिए कि मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं को उसमें पूरा किया जा सकेगा। इसलिए उत्पादन के यंत्रों को उन्नत करना पड़ेगा और उत्पादन-पद्धति में भी सुधार लाना होगा। उक्त सर्वोदय-योजना में हिसाब करके दिखाया गया है कि खाद्य, वस्त्र, घर, स्वास्थ्य, शिक्षा और मनोरंजन के लिए प्रत्येक परिवार को वर्तमान मूल्यों के अनुसार तीन हजार रुपये की वार्षिक आमदनी होनी चाहिए। श्रम-आधारित जीवन द्वारा प्रत्येक परिवार कम-से-कम तीन हजार रुपये सालाना उपार्जन कर सकेगा, इसे सिद्ध करना होगा। आज इस देश में एक परिवार की औसत वार्षिक आय मात्र १३२० रुपये है। जिन परिवारों की वार्षिक आय ३६०० रुपये या इससे अधिक है, उनकी संख्या कुल ५९.२ लाख अर्थात् कुल जन-संख्या का ७.२ प्रतिशत है। अतः ९२.८ प्रतिशत परिवारों की आय न्यूनतम आवश्यक राशि से बहुत ही कम है। नयी तालीम को यह दिखाना होगा कि श्रम-आधारित जीवन अपनाकर एक परिवार कम-से-कम ३००० रुपये वार्षिक आमदनी कर सकता है। आज नयी तालीम के सामने यह एक बड़ी चुनौती है।

(५) ऊपर जिन चार बातों पर विचार किया गया है, वे नयी तालीम को राष्ट्रव्यापी बनाने के कार्यक्रम में शामिल हैं। उनके अतिरिक्त निम्नलिखित कार्यक्रमों को भी उपर्युक्त कार्यक्रमों के अंग अथवा परिपूरक रूप में ग्रहण करना आवश्यक है :

(क) किसी-किसी जगह ऐसा देखने में आ रहा है कि आजकल दरिद्र और अविकसित गाँवों के अभिभावक भी अपने बच्चों को नयी तालीम के विद्यालय में पढ़ाकर संतुष्ट नहीं हो पा रहे हैं। इन विद्यालयों की छात्र-संख्या कम होती जा रही है। नयी तालीम की शिक्षा को हृदय

से ग्रहण कराने के लिए लोकमत तैयार करने का कार्यक्रम भी ग्रहण करना उचित है, अर्थात् नयी तालीम के विद्यालयों के साथ-साथ इन गाँवों के अभिभावकों तथा अन्य लोगों के लिए भी लोक-शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे नवसमाज-निर्माण के विचार और नव-समाज के निर्माण में नयी तालीम के स्थान के सम्बन्ध में लोगों को जानकारी प्राप्त होगी और वे नयी तालीम के प्रति आकर्षित होंगे। इस प्रकार जनता की हार्दिक सम्मति (जिसे विनोबाजी 'लोक-सम्मति' कहते हैं) प्राप्त होगी और फलस्वरूप बुनियादी विद्यालय सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित होंगे।

(ख) शिक्षाविद्, शिक्षित लोग, अभिभावकगण आदि को लेकर सभा-समिति, बैठक, अध्ययन-मंडल आदि की व्यवस्था करनी होगी। प्रचार-कार्य के लिए यह बात बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

(ग) अनेक लोगों की ऐसी धारणा है कि अनेक दिशाओं में नयी तालीम की उत्कृष्टता असंदिग्ध होने पर भी साधारण शिक्षा के क्षेत्र में नयी तालीम के विद्यार्थी पीछे रह जाते हैं। सभी विद्यालयों के बारे में यह बात सच न होने पर भी कुछ विद्यालयों की ऐसी स्थिति हो सकती है। जो हो, नयी तालीम के विद्यालयों को इस बात का ध्यान रखना होगा कि शिक्षा का स्तर ऊँचा रहे। देश के विभिन्न स्थानों में उच्च आदर्शवाले नयी तालीम के विद्यालय चलाकर नयी तालीम का ऊँचा आदर्श दिखाने की व्यवस्था अवश्य ही होनी चाहिए।

(घ) पहले गाँव-गाँव में बालवाड़ी (नयी तालीम की पद्धति से शिशु-शिक्षा) चलाने से माता-पिता आदि अभिभावकगण अपनी सन्तानों का विकास अपनी आँखों से देखकर नयी तालीम की बुनियादी और उच्च शिक्षा की ओर आकर्षित होंगे। नयी तालीम के प्रति जनता को आकृष्ट करने के लिए यह एक उत्तम प्रदर्शन होगा।

(ङ) रचनात्मक कार्यकर्ता और अन्य जो लोग नयी तालीम का प्रचार करते हैं, उनके अपने बच्चों की शिक्षा के लिए एकमात्र नयी

तालीम पर निर्भर रहने से नयी तालीम को जनप्रियता प्राप्त करने में सहूलियत होगी। इस समय खादी-कार्यकर्ताओं की संख्या न्यूनाधिक २५ हजार है। खादी-कार्यकर्ताओं-सहित रचनात्मक कार्यकर्ताओं की संख्या ३६ हजार तक हो सकती है। विभिन्न रचनात्मक कार्यों के द्वारा २०-२५ लाख लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका है। हजारों रचनात्मक कार्यकर्ता यदि सच्चे हृदय से नयी तालीम को स्वीकार करें और उसे अपने सम्पर्क में आये लोगों के बीच प्रचारित करें, तो नयी तालीम के राष्ट्रव्यापी होने का पथ प्रशस्त होगा। इस बात को ध्यान में रखकर सर्व-सेवा-संघ की प्रबन्ध-समिति ने पूसा रोड की अपनी बैठक (२५-२८ अगस्त, '५९) में खादी-ग्रामोद्योग-उपसमिति की सिफारिशों के अनुसार रचनात्मक कार्यकर्ताओं में नयी तालीम के प्रति आकर्षण पैदा करने के उद्देश्य से उनके और रचनात्मक संस्थाओं के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम स्वीकार किया है :

(१) हर रचनात्मक कार्यकर्ता एक घंटा शारीरिक श्रम करे और एक घंटा किसी-न-किसी को पढ़ाये।

(२) रचनात्मक संस्थाओं में कहीं भी भंगी न रहे। कार्यकर्ता स्वयं सफाई का काम करें।

(३) हरएक संस्था में श्रमिक-वर्ग है। काम के घण्टों में ही एक घण्टा उनके शिक्षण के लिए रखा जाय।

(४) संस्थाओं में जहाँ कई परिवार एक साथ रहते हैं, वहाँ बच्चों के लिए नयी तालीम पद्धति की बालवाड़ी का आयोजन संस्था की ओर से किया जाय।

(५) संस्थाओं में जहाँ कार्यकर्ता-परिवार एक साथ या आश्रम-पद्धति से रहते हैं, वहाँ अभिभावक-मंडल कायम किये जायँ और उनके द्वारा अभिभावकगण मिलकर अपने तथा बच्चों के विकास के लिए नयी तालीम की दृष्टि से सोचें।

(६) संस्थाओं में स्वाध्याय का आयोजन हो—दैनिक समाचार सुनाये जायँ।

(च) सारे देश में ६ हजार लोकसेवक (पूरे समय के सर्वोदय-कार्यकर्ता) बने हैं। उनमें से प्रत्येक आसपास के कम-से-कम एक सौ लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करेंगे—उनसे ऐसी आशा की जाती है। वे अपनी सन्तानों और आश्रित लोगों के लिए नयी तालीम को अपनाकर यदि उन एक सौ लोगों के बीच उसका प्रचार करें, तो नयी तालीम को व्यापक बनने में सहायता मिलेगी।

(छ) नयी तालीम को व्यापक बनाने के कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने की आवश्यकता है। प्रचलित पद्धति के विद्यालयों को पूर्ण रूप से नयी तालीम के विद्यालयों में परिणत करने के लिए यह उचित नहीं होगा कि उन्हें अनिवार्य रूप से पूर्णतः नयी तालीम अपनाने के लिए विवश किया जाय। वे जिस हद तक नयी तालीम को ग्रहण कर सकें या करना चाहें, उसी हद तक उन्हें आगे बढ़ने दिया जाय। किन्तु केवल इतने से संतुष्ट भी नहीं हो जाना है। स्थान-स्थान पर नयी तालीम के आदर्श विद्यालय चलाकर उत्तम नमूना दिखाना होगा, ताकि उन्हें देखकर वे सब विद्यालय नयी तालीम की ओर अधिकाधिक अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करें।

(ज) नयी तालीम के समक्ष एक और समस्या है—अशांति के प्रतिकार की। देश की तीन समस्याएँ हमारे सामने हैं, जिनका दायित्व हमें (सर्वोदय के आदर्श में विश्वास करनेवालों को) ग्रहण करना होगा। वे समस्याएँ हैं : (१) ग्राम-स्वराज्य, (२) शांति-सेना और (३) नयी तालीम। ग्राम-स्वराज्य की स्थापना जल्दबाजी का काम नहीं है। ग्राम-स्वराज्य की ओर धीरे-धीरे बढ़ना होगा। इस क्षेत्र में हमारी प्रगति धीमी होगी। परंतु शांति-सेना और नयी तालीम के काम ऐसे हैं कि उन्हें हमें शीघ्रातिशीघ्र करना होगा। शांति-स्थापना न होने से नयी तालीम का काम आगे नहीं बढ़ सकेगा। कई लोग ऐसा सोचते हैं कि इस आन्तरिक

अशांति का एकमात्र मूल कारण आर्थिक विषमता है। आर्थिक विषमता दूर हो जाने से सारी अशांति स्वतः समाप्त हो जायगी। किन्तु थोड़ी गम्भीरता से सोचने पर प्रकट होता है कि आर्थिक विषमता या आर्थिक समस्या निस्सन्देह हमारी एक प्रधान समस्या है, पर केवल इस समस्या के समाधान से ही देश में एकरसता आ जायगी, ऐसा नहीं है। आज जैसा कि दिखाई पड़ रहा है, धर्म, भाषा, विद्यार्थी-समस्या, राजनीतिक दलबन्दी आदि देश की अशांति के प्रमुख कारण बन गये हैं। आज देश में जो अशांति विद्यमान है, उसके मूल में ये सब कारण हैं। अशांति के इन कारणों के दूर न होने तक देश में एकरसता नहीं आयेगी और शांति स्थापित न होने से आर्थिक क्षेत्र के काम भी सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं होंगे। इसलिए शांति-स्थापना का काम सबसे आवश्यक है। विनोबाजी कहते हैं कि इस अशांति का प्रतिकार अर्थात् शांति-सेना का दायित्व ग्रहण कर सकना केवल नयी तालीम के लिए सम्भव है। नयी तालीम को शांति-स्थापना तथा शांति-सेना का दायित्व क्यों ग्रहण करना होगा, इसे विनोबाजी ने स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं : "शांति-सेना की जिम्मेवारी नयी तालीम को उठानी चाहिए। मेरे अनुभव का यह निचोड़ है कि दूसरे तरीके से शांति की अस्थापना हो ही नहीं सकती। यदि नयी तालीम में भी शांति की रक्षा का उपाय नहीं है, तो फिर यह नयी तालीम न होकर निकम्मी तालीम होगी। कहीं दंगा होता है और दस-बारह लोग मारे जाते हैं। फिर पुलिस आती है और वह भी कानून के नाम से गोली चलाकर और दस-बारह लोगों को मारती है। इस प्रकार कुछ लोग 'बेकानून' मारे जाते हैं और कुछ लोग 'बाकानून' मारे जाते हैं। इसका मतलब यह है कि सब जगह अज्ञान-ही-अज्ञान है। इस अज्ञान को मिटाने का काम तालीम का है। इसलिए नयी तालीम का काम स्कूल की चहारदीवारी में कैद होना नहीं है। वह तो सारे समाज का काम है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि शांति-सेना की जिम्मेवारी उठाने की योग्यता अगर किसीमें है, तो केवल नयी तालीम में।" अतः

वर्तमान परिस्थिति में हमारे संगठन-कार्य को एक व्यापक प्रौढ़-शिक्षा का स्वरूप ग्रहण करना होगा। इसके सिवा कोई उपाय नहीं है।

(झ) नयी तालीम के समक्ष एक और बड़ी समस्या है—शिक्षकों के प्रशिक्षण की। विगत जनगणना के समय भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ थी। केन्द्रीय अंक-संकलन प्रतिष्ठान (Central Statistical Organisation) ने जन-संख्या में हो रही वृद्धि का सावधानी से अध्ययन करके कहा है कि इस समय (अगस्त, १९५९) भारत की जनसंख्या ४१॥ करोड़ है। इस संख्या को प्रामाणिक मानकर, इसके आधार पर तीसरी पंचवर्षीय योजना की विभिन्न विषयों की संख्याएँ निश्चित की जा रही हैं। जन-संख्या में वृद्धि की वर्तमान प्रवणता के अनुसार भारत की जन-संख्या में नित्यप्रति २० हजार की वृद्धि हो रही है। उक्त नवागंतुकों की शिक्षा-व्यवस्था के लिए प्रतिदिन अन्ततः ६५० नये विद्यालयों और प्रायः २ हजार शिक्षकों का निर्माण होने की आवश्यकता है। इसीसे प्रकट होता है कि नयी तालीम के कंधों पर कितनी भारी जिम्मेदारी है।

● ● ●

अध्याय ४६ राष्ट्रीय शिक्षा—अहिंसा और विज्ञान का योग

अब हमें पीछे की ओर देखना पड़ेगा। समस्त सूत्रों को लाकर एकत्र करना होगा और समग्र दृष्टि से उनका निरीक्षण तथा अध्ययन करना होगा। आज हमारी राष्ट्रीय शिक्षा के नाम पर जो कुछ तैयार करने की चेष्टा की जा रही है, वह कोई नवीन कल्पना है अथवा प्राचीन काल में जो कुछ था, उसीका पुनरुद्धार है ? शिक्षा का वास्तविक अर्थ है, अन्दर छिपे तत्त्वों का प्रकाशन। जो कुछ अन्दर नहीं है, उसे बाहर कहीं से नहीं लाया जा सकता। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा का वास्तविक अर्थ है, राष्ट्र के स्वभाव में जो कुछ है, उसे प्रकाशित करना। भारत का यह अन्तर्निहित स्वभाव क्या है, इसे प्राचीन भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनुपम भाषा में प्राचीन काल में भारत जिन सम्पत्तियों का अधिकारी था, वे थीं—ज्ञान में अद्वैत-तत्त्व, भाव में विश्वमैत्री, कर्म में योग-साधना और स्वभाव में विश्व-एकता। प्राचीन भारत ने अपनी शिक्षा के बल पर इस सत्य को प्राप्त किया था—'अपने प्राणों द्वारा, चेतना द्वारा, हृदय द्वारा और बोध द्वारा आत्मा के साथ आत्मरूपता।' प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षा-प्रणाली भी आदर्श थी। बाद में भारत के वक्षस्थल पर से अनेक प्रतिकूल प्रवाह गुजरे। इनके कारण भारत ने आत्मोपलब्धि खो दी। उसका ज्ञान लुप्त हो गया—उसकी अन्तःप्रकृति में सो गया। उसकी शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षा-पद्धति भी नष्ट हो गयी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी और सन्त विनोबा की तपस्या के फलस्वरूप वह सुप्त ज्ञान जाग रहा है, उस हृत्ऐश्वर्य का पुनरुद्धार हो रहा है। अतः जिस राष्ट्रीय शिक्षा का संगठन किया जा रहा है, वह नवीन नहीं

है, पुरातन है। वह पुरातन का पुनरुद्धार है। केवल यही नहीं, वह पुरातन का पुनरुद्धार होने के साथ-साथ नवीन प्राण-शक्ति के स्पर्श से अधिक शक्ति-सम्पन्न भी बन रही है। यह प्राण-शक्ति है, विज्ञान। प्राचीन काल की शिक्षा में भी विज्ञान का संयोग था। आगे चलकर भारत में विज्ञान की अवनति हुई। आज विज्ञान विश्वविजयी बन गया है। भारत की राष्ट्रीय शिक्षा केवल सुप्त पुरातन को जगाकर संतुष्ट नहीं होगी। ऐसा होने पर उसका ज्ञान पंगु हो जायगा। वह संसार के एक कोने में पड़ा रह जायगा। भारत का ज्ञान अब पंगु बनकर नहीं रहेगा—वह विज्ञान की शक्ति से सम्पन्न होकर पर्वत लाँघेगा। उसका ज्ञान विज्ञान-साधना के साथ जुड़कर अणु से अणुतम और बृहत् से बृहत्तम, सबके साथ सम्पर्क स्थापित करेगा। इस सम्बन्ध में विनोबाजी ने जो कुछ कहा है, उसे यहाँ उद्धृत कर उपसंहार करना चाहूँगा। उन्होंने कहा है : "नयी तालीम का दर्शन संकुचित न बने, यह खयाल रखने की जरूरत है। हम महाभारत बनाने जा रहे हैं, तो हमें विशाल बुद्धि—व्यास बनना चाहिए। चाहे हमारा जीवन गाँव में बीते, हमें विश्व के नागरिकत्व का अनुभव होना चाहिए। अहिंसा और विज्ञान, दोनों के योग से ही यह हो सकता है। अगर हम विज्ञान को चाहते हैं, तो अहिंसा को बढ़ावा देना होगा। अगर हम अहिंसा को बढ़ावा देना चाहते हैं, तो विज्ञान को रोकना होगा। नयी तालीम के मानी हैं, अहिंसा और विज्ञान का योग। इसी योग से हम इस दुनिया में स्वर्ग ला सकते हैं।"

नयी तालीम साहित्य

शिक्षण-विचार	२–५०
नयी तालीम	०–५०
बुनियादी शिक्षा-पद्धति	०–६०
समग्र नयी तालीम	१–२५
बुनियादी शिक्षा : क्या और कैसे ?	१–२५
पूर्व बुनियादी	०–५०
शिक्षा में अहिंसक क्रांति	१–००
सुन्दरपुर की पाठशाला	०–७५
बच्चों की कला और शिक्षा	८–००
सफाई : विज्ञान और कला	१–००
बालक सीखता कैसे है ?	०–५०
माता-पिताओं से	०–३७
बालक बनाम विज्ञान	०–७५

बड़े सूचीपत्र के लिए लिखिये